बीसवीं शताब्दी (पूर्वार्द्ध) के महाकाव्य

(१६००-१६५० ई०)

लेखक

डा० प्रतिपालसिंह एम० ए०, पी-एच० डी०

प्रकाशक

ओरिएण्टल बुक डिपो,

१७०४ नई सड़क, देहली

तथा

ब्रांच:—प्रताप रोड, जालन्धर

प्रकाशक—
ओरिएण्टल बुक डिपो,
१७०४ नई सड़क,
देहली

मूल्य ८॥)

मुद्रक
कोरोनेशन प्रिंटिंग वर्क्स
फतेहपुरी दिल्ली

विषयानुक्रमणिका

षष्ठ अध्याय

सप्तम अध्याय

अष्टम अध्याय

नवम अध्याय

दशम अध्याय

परिशिष्ट

प्राक्कथन

बीसवीं शताब्दी के हिन्दी वाङ्मय का परिवर्तन एवं विकास इस द्रुत गति से हो रहा है कि कोई परिस्थिति स्थायी नहीं प्रतीत होती है। यदि इस शताब्दी के प्रथम एवं द्वितीय दशक में एक धारा प्रवाहित हुई तो तीसरे और चौथे दशक में दूसरी काव्यधारा फूट निकली। यह धारा भी स्थिर न रह सकी और फिर प्रत्यावर्तन प्रारम्भ हुआ। इसका साक्षी पञ्चम दशक है। इस आलोच्य काल की प्रमुख विशेषता साहित्यिक प्रवृत्तियों और रूपों की विविधता है। अत: इसी शताब्दी के पूर्वार्द्ध के महाकाव्यों की प्रवृत्तियों और रूपों का विवेचन करना प्रस्तुत पुस्तक का मुख्य उद्देश्य है।

यहाँ पर पुस्तक की मौलिक विशेषताओं के सम्बन्ध में कुछ न कहकर आलोचना के सम्बन्ध में निर्देश करना अनुचित नहीं समझता हूँ।

आलोचना के इस युग में एक परिपाटी सी चल गई है कि किसी कवि-विशेष की कृतियों का गुणगान किया जावे और यथासम्भव उसकी विशेषताओं का आकार इतना विशाल कर दिया जावे कि दर्शक उनसे प्रभावित होकर यह समझने लगे कि कवि सर्वश्रेष्ठ कवि है। कुछ सीमा तक आलोचना की यह शैली सुरक्षित और उपादेय है, किन्तु आलोचना का अर्थ न तो स्तुतिगान होता है और न निन्दा की घोषणा ही।

"क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्या" की भाँति आलोचना का मार्ग भी अत्यन्त दुर्गम है। 'पदे पदे' सावधान रहते हुए तटस्थ वृत्ति से कविविशेष की परीक्षा ही निष्पक्ष आलोचना दे सकती है। यह आलोचना भी सम्पूर्णत: निष्पक्ष होते हुए भी तब तक निर्दोष नहीं होती जब तक आलोचक और कवि में वृत्ति-साम्य नहीं हो जाता। न केवल आलोचक और कवि में ही वृत्तिसाम्य की आवश्यकता होती है वरन् कालविशेष के साथ भी आलोचक को तादात्म्य स्थापित करना पड़ता है। कालविशेष के साथ तादात्म्य होने पर आलोचक कवि के निर्मातृ अंश को समझने में समर्थ होता है और कवि के साथ वृत्ति-साम्य स्थापित करके वह उन बातों को प्राप्त करने में समर्थ होता है जिन्हें कवि ने अपने काल में से अथवा भूत में से अपनी कल्पना के प्रसार के लिए चुन लिया है।

हमारे उक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि कविविशेष की परीक्षा के लिए भी कालविशेष की समस्त वृत्तियों पर आलोचक को ध्यान रखना होता है।

अतएव निष्पक्ष आलोचक के लिए आवश्यक हो जाता है कि वह कविविशेष का अध्ययन करने के लिए भी उसके काल के समस्त कवियों का अध्ययन करे, उनकी परस्पर तुलना के द्वारा उन सामान्य वृत्तियों की खोज करे जो कालविशेष को प्रभावित करती रही है। साथ ही कवि के साथ प्रतिसाम्य स्थापित करके यह देखे कि कवि ने अपने काल की किन वृत्तियों का ग्रहण करके उनका चित्रण किया है।

गीतिकाव्य और मुक्तककाव्य अन्तर्वृत्तप्रधान होते हैं, अतएव उनमें व्यक्तिवैचित्र्यवाद को स्थान मिल सकता है। महाकाव्य वहिर्मुख-वृत्ति-प्रधान होते हैं, इस हेतु उनमें कालविशेष की प्रवृत्तियाँ किसी न किसी रूप में झलक ही आती है। आदि मानव की जीवनगाथा का चित्रकार 'प्रसाद' देव-सम्पत्ति के ध्वंस में वर्तमान भौतिक विलासिता के विनाश का स्वप्न देखता है। वैदेही-बनवास का गाथाकार गायक हरिऔध उपाध्याय नारी का मूल्यांकन करने लगता है। ये बातें यदि आज की प्रवृत्ति नहीं तो और कुछ नहीं है।

इसका यह अर्थ नहीं है कि महाकाव्य में कवि के अन्तर्मुख का स्वरूप नहीं देखा जा सकता। सच तो यह है कि मुक्तक अथवा गीतिकाव्यों मे भी कवि की अन्तर्मुखी वृत्ति झांकती रहती है। अतएव महाकाव्यों की परीक्षा द्वारा ही कवि का पूर्ण मूल्य निर्धारित किया जा सकता है और कवि के साथ उचित न्याय किया जा सकता है।

प्रस्तुत रचना में हमने यथासाध्य इस बात की चेष्टा की है कि हम तटस्थ रहतें हुए काल के साथ तादात्म्य स्थापित कर सकें और कवि के साथ भी वृत्ति-साम्य बनाए रख सकें। यद्यपि यह दोनों बातें परस्परविरोधी है फिर भी यथा-सम्भव अपने मानसिक सन्तुलन को ठीक रखते हुए हमने इस दिशा में यत्न करना चाहा। और इसीलिएं कविविशेष या महाकाव्यविशेष की आलोचना का विचार छोड़कर हमने सामान्यतः सभी आधुनिक महाकाव्यों पर विचार किया है।

महाकाव्यविशेष के देखने में हमसे भूल हो सकती है परन्तु कालविशष अथवा कविविशेष के साथ हमारी सहानुभूति सम्भवतः कहीं कम नहीं हुई है। नूरजहाँ का कवि जिस भाषा को लेकर हमारे सामने आया है वह भाषा निश्चय ही महाकाव्य ऐसे गम्भीर वर्णन के लिए उपयोगी नहीं है। इतना होते हुए भी हमने इसकी उचित सराहना भी की है। हमारी यही दृष्टि सर्वत्र बनी रही है और सम्भवतः काल के साथ तादात्म्य करके कवि से वृत्तिसाम्य

स्थापन के द्वारा आलोचना के क्षेत्र में हमारा यह प्रथम प्रयास है। अतएव हमसे भूलें भी हुई होंगी, साथ ही कुछ अनिवार्य कारणों से हम पुस्तक को पुनः आलोचक की दृष्टि से नहीं कर सके, इस हेतु वे भूलें छूट भी जा सकती हैं। समय अथवा विद्वानों के निर्देशानुसार हम निश्चित करने का प्रयत्न करेंगे परन्तु हम एक विनय अवश्य कर देना चाहते हैं कि प्रस्तुत रचना में हमने अपना वैयक्तिक दृष्टिकोण रखने की चेष्टा नहीं की है वरन् कृति के सामान्य प्रभाव को लक्ष्य में रखकर ही आलोचना की है, अतएव इच्छापूर्व किसी की स्तुति अथवा निन्दा करने की चेष्टा इसमें नहीं की और इसीलिए विश्वास है कि विद्वज्जन इसमें व्यक्तिगत राग-विराग की भावना नहीं पावेंगे।

इस रचना का प्रधान अंश कुछ संशोधनों को छोड़कर यह ठीक उसी आकार-प्रकार में प्रकाशित होने जा रहा है जिसमें वह आगरा विश्वविद्यालय में पी-एच० डी० की उपाधि के निमित्त थीसिस के रूप में दिया गया था।

अन्त में मैं अपना कर्त्तव्य समझता हूँ कि पण्डित अयोध्यानाथ शर्मा, अध्यक्ष हिन्दी-विभाग, सनातनधर्म कालेज कानपुर के प्रति अपना कृतज्ञतापूर्ण धन्यवाद समर्पित करूँ जिन्होंने मेरा खोज के काम में अपने सामयिक निर्देशनों द्वारा पथ-प्रदर्शन किया है और वस्तुतः आलोचना का नवीन दृष्टिकोण उन्हीं की कृपा का फल है। मैं अपने परमहितैषी मित्रों में डा० फतहसिंह डी. लिट., कुँअर चन्द्रप्रकाश सिंह एम० ए०, श्री चन्द्रपाल सिंह एम० ए०, प्रो० विश्वेश्वरदयाल शुक्ल एवं श्री छोटे सिंह का अत्यन्त आभारी हूँ जिनके प्रोत्साहन एवं सत्परामर्श से यह कार्य पूर्ण हुआ। पं० रामदुलारे एम. ए. का विशेष कृतज्ञ हूँ जिन्होंने अपना अमूल्य समय देकर अपने सुझावों से मुझे सहायता प्रदान की। मैं उन सब सज्जनों को भी धन्यवाद देता हूँ जिनकी उदारता से ही मुझे कई महत्त्वपूर्ण लेखों तथा पुस्तकों को देखने का सुयोग सम्भव हो सका। लेखक को इस प्रयत्न में अन्य प्रकाण्ड विद्वानों की कृपा भी प्राप्त रही है, यदि उनके निर्देश न प्राप्त हुए होते तो यह कार्य पूर्ण होना कठिन क्या, असम्भव होता। अतः उनसे श्रद्धापूर्वक प्रणाम करने के अतिरिक्त मैं उनकी सेवा में और क्या समर्पित करूँ। निश्चय ही लेखक उन सब विद्वानों का सदैव ऋणी रहेगा।

भूल से पृष्ठ ३ से ३६ तक फोलियो अशुद्ध छप गया है। पाठकगण क्रमशः प्रथम, द्वितीय और तृतीय अध्याय पढ़ लें।

प्रतिपालसिंह

प्रथम अध्याय
काव्य की आत्मा

इस ब्रह्माण्ड के प्रांगण में जब मानव ने नेत्रोन्मीलन किया, उसने अपने को प्रकृति की रंगस्थली में कल्लोल करता हुआ पाया। उसका हृदय आश्चर्य एवं कौतूहल से उद्वेलित हो उठा। उसने वाणी के प्रथम प्रस्फुरण द्वारा अपने भावों को व्यक्त किया। कालान्तर में भावप्रेरित वाणी के साथ ही उद्‌गारमयी कविता प्रस्फुटित हुई। वैदिक ऋचायें इसकी साक्षी है। यहीं से काव्य-जगत् का प्रादुर्भाव हुआ।

काव्य परमात्मा के सदृश अनन्त है। उसका स्वरूप निश्चित करना एवम् उसका परिचय शब्दों में व्यक्त कर देना सरल कार्य नहीं है। काव्य का आनन्द ब्रह्मानन्द के समान[1] कहा गया है। इसकी परिभाषायें साहित्य-मर्मज्ञों ने निश्चित कीं, किन्तु वे अपर्याप्त ही रहीं। इन मेधावी महारथियों ने कविता-कामिनी के वाह्य सौन्दर्य का ही दर्शन किया। उसकी सूक्ष्मात्मा की झलक दिखलाने का प्रयास कम किया। इसका परिणाम् यह हुआ कि अनेक मत उत्पन्न हो गये। "लोके रुचिर्भिन्ना" के अनुसार सभी आचार्य एकमत न हो सके। इन आचार्यों के एक वर्ग ने अलंकार को काव्य की आत्मा माना, दूसरे वर्ग ने रीति को, तीसरे और चौथे वर्ग ने ध्वनि और वक्रोक्ति को और पाँचवे ने रस को आत्मा स्वीकार किया। इस प्रकार पाँच प्रमुख सम्प्रदाय उत्पन्न हो गये।

(१) अलंकार सम्प्रदाय:—

अलंकार को काव्य की आत्मा स्वीकार करने वाले भामह और दण्डी आदि आचार्य हैं जिनका कथन है कि काव्य का मुख्य गुण अलंकार है। काव्यादर्श में दण्डी ने काव्य की शोभा का कारण अलंकार बतलाया है। इसी बात का समर्थन केशवदास ने भी किया। उनका कथन है—

> **"जदपि सुजाति सुलच्छणी सुबरन सरस सुवृत्त,**
> **भूषण बिनु न बिराजई कविता बनिता मित्त।"**

१—"ब्रह्मास्वादसहोदर:" ३।२ साहित्यदर्पण।

अलंकारों को काव्य की आवश्यक शैली मानने में तो कोई विशेष विरोध नहीं, किन्तु उसे काव्य की आत्मा स्वीकार करने में अवरोध उत्पन्न होता है। बहुधा हम देखते हैं कि अलंकारों के न होते हुये भी उच्च कोटि के काव्य प्राप्त होते है। इस सम्बन्ध में इतना कहना अनुचित न होगा कि अलंकार जब तक आन्तरिक भावों की वृद्धि में सहायक होते है, वे शोभा को बढ़ाते है, किन्तु जब वे परम्परा-निर्वाह के लिये ही प्रयुक्त होते है तो काव्य का स्वारस्य नष्ट हो जाता है और वे भार प्रतीत होने लगते है। अत: अलंकार काव्य की आत्मा नहीं हो सकते।

(२) *रीति सम्प्रदायः—*

रीति को काव्य की आत्मा मानने वाले आचार्य वामन ही हैं। उनका कथन है कि काव्य की आत्मा रीति है[1]। काव्यालंकारसूत्रानुसार "श्रेष्ठपद-रचना रीति[2]" कहलाती है। रीति का अर्थ है शैली, कथन अथवा अभिव्यक्ति का ढंग। शैली का सम्बन्ध भाषा से है। वामन काव्य को वर्णनशैली के कारण ग्राह्य मानते है और काव्यगत सौन्दर्य[3] को वर्णनशैली कहते है। उन्होंने अलंकारों के कारण ही काव्य की ग्राहकता बतलाई है, किन्तु उसको सौन्दर्य के व्यापक अर्थ में माना है। रीति का सम्बन्ध गुण से है और गुणों का सम्बन्ध काव्य की आत्मा रस से है। इस प्रकार से वे भी रस को अपरोक्ष रूप से स्वीकार करते है।

(३) *वक्रोक्ति सम्प्रदायः—*

इसके प्रधान आचार्य कुन्तक अथवा कुन्तल है। उन्होने सब प्रकार के चमत्कारों को वक्रोक्ति मानकर बतलाया है कि काव्य में एक प्रकार से वचन-भंगिमा ही रोचकता का प्रधान कारण है। उनका कथन है कि जिसे अलंकार, ध्वनि, लक्षणा आदि का चमत्कार कहते है वह वक्रोक्ति ही तो है। आगे चलकर लोगों ने कुन्तक के मत का विरोध किया और उसे केवल अलंकार (शैली) बतलाकर अग्राह्य माना। वक्रोक्ति से कुन्तक का तात्पर्य वक्रोक्ति नामक अलंकार से कदापि न था। उन्होंने काव्य की परिभाषा इस प्रकार दी है:—कवि के वक्रोक्ति वाले व्यापार से युक्त जिस बन्ध में शब्द और अर्थ

१—"रीतिरात्मा काव्यस्य"

२—"विशिष्टापदरचना रीतिः"

३—"काव्यं ग्राह्यमलंकारात् सौन्दर्यमलंकारः"

उस वक्रता के उपकारक होकर गुंथे रहते हैं उस बन्ध को काव्य कहते हैं। ऐसा काव्य उस वक्रोक्ति को जानने वाले के लिये आनन्ददायक होता है[१]।

इस परिभाषा में भी हम देखते हैं कि शब्द और अर्थ के साथ ही वक्रता को स्वीकार किया गया है किन्तु यह सब सहृदयों की प्रसन्नता के लिये ही मान्य है। अतः इसमें भी रस की ही मान्यता हो जाती है।

(४) *ध्वनि सम्प्रदायः—*

यह सम्प्रदाय ध्वनि को काव्य की आत्मा मानता है। इसके आचार्य ध्वनिकार आनन्दवर्धन माने जाते हैं और लोचनकार अभिनवगुप्त। ध्वनिकार का कथन है कि जहाँ पर अभिधा का अर्थ व्यञ्जना से दब जाता है वही रचना ध्वनि[२] कहलाती है। ध्वनि में व्यञ्जना होने के कारण और व्यंग्यार्थ की प्रधानता होने से एक प्रकार की विलक्षणता रहती है जिसके कारण काव्य में सौन्दर्य एवं रमणीयता आ जाती है। ध्वनिवादियों ने ध्वनि को काव्यात्मा कहकर ही विश्राम नहीं लिया प्रत्युत रस, रीति, गुण और अलंकार की भी मीमांसा करके ध्वनि के साथ समन्वय स्थापित किया है। उनके इस प्रकार प्रतिपादन से सभी मत निष्प्रभ हो गये। यह सम्प्रदाय रस सम्प्रदाय के समान ही लोकप्रिय हुआ है। फिर भी ध्वनिकार ने कहा है कि कवि को एकमात्र रस मे सावधानी के साथ प्रयत्नशील होना वांछनीय है[३]।

(५) *रस सम्प्रदायः—*

यह सम्प्रदाय रस को काव्य की आत्मा मानता है किन्तु ध्वनि सम्प्रदाय के उठ खड़े होने पर इसकी प्रतिद्वन्द्विता अवश्य उत्पन्न हो गई, फिर भी उसका समन्वय किया जा सकता है। जैसा कि ध्वनि सम्प्रदाय में बतलाया गया है कि व्यंग्य-व्यञ्जक भाव के रूप अनेक हो सकते हैं, किन्तु रसमय रूप को प्राप्त करने के लिए कवि को सचेत रहना आवश्यक है। इसका कारण यह है कि शब्द के लालित्य का अनुभव करके भले ही लोग वाह वाह कर दें पर यह हमारे हृदय को स्पर्श नहीं कर सकते। इसके लिए तो अर्थ ही सहायक हो

१—"शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणी।"

२—"यत्रार्थः शब्दौ वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ॥
व्यक्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः॥" १।१३ ध्वन्यालोक

३—"व्यंग्य-व्यञ्जकभावोऽस्मिन्विविधे सम्भवत्यपि।
रसादिमय एकस्मिन् कवि स्यादवधानवान्॥"

सकता है। अलौकिक आनन्द का दान ही तो हमारे काव्य का ध्येय है। यह आनन्द वाह्याडाम्बर अलंकार, वक्रोक्ति, रीति आदि से नहीं प्राप्त हो सकता। विशिष्ट पदरचना काव्य की आत्मा नहीं हो सकती। काव्यात्मा तो अर्थ का उत्कर्ष ही है जो रस के समावेश से ही सिद्ध हो सकता है। अतः काव्य की आत्मा रस ही है।

इन सम्प्रदायों से प्रभावित होकर आचार्यों ने काव्य की नाना प्रकार की परिभाषायें दी हैं। कोई भी दो आचार्य एकमत नहीं हैं। निर्विवाद कोई परिभाषा हो ही कैसे सकती है! काव्य के आधुनिक लक्षणकार आचार्य दो श्रेणियों में विभक्त हो सकते हैं—प्राचीन और अर्वाचीन।

काव्य-विषयक प्राचीन विचारधारा

अग्निपुराण में काव्य का लक्षण मिलता है जिसका अभिप्राय यह है कि अभीष्ट अर्थ जितनी पदावली से प्रकाशित किया जा सके उतने ही से किया जाय, यही संक्षिप्त वाक्य-विधान ही काव्य है [१]।

इसी के पश्चात् भामह ने काव्य का लक्षण किया कि सम्मिलित शब्द और अर्थ ही काव्य है [२]।

काव्य को प्रधानतः शब्दगत मानना चाहिये या अर्थगत अथवा उभयगत? इस जिज्ञासा में दण्डी ने लिखा है कि इष्टार्थ के द्वारा आत्मप्रकाशन के लिये जो पद विशेष रूप से चुन लिया गया हो वह काव्य का शरीर है [३]।

दण्डी का लक्षण अग्निपुराण का नवीन संस्करण है। इस विचारधारा से सहमत होने के कारण आचार्य रुद्रट ने कहा कि शब्द और अर्थ दोनों मिलकर काव्य है [४]। इस बात को आनन्दवर्धनाचार्य ने एक प्रसंग पर यह कहकर प्रकारान्तर से स्वीकार किया है कि काव्य का शरीर शब्द और अर्थ दोनों हैं। यद्यपि पूर्वाचार्यों के लक्षणों में भी गुण, दोष अलंकार आदि की ही चर्चा है पर वामन ने शब्दों का अलंकारयुक्त होना आवश्यक बतलाया। उनका कथन है कि सौन्दर्य ही अलंकार है और अलंकार होने के कारण ही

---

१. "संक्षेपाद्वाक्यमिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली" (व्यास)
२. "शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्" (काव्यालंकार)
३. "शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली" (काव्यादर्श)
४. "ननु शब्दार्थौ काव्यं शब्दस्तत्रार्थश्चानेकविधा"
५. "शब्दार्थशरीरं तावत्काव्यम्"

काव्य का काव्यत्व है। वह सौन्दर्य रूप, अलंकार दोष के त्याग, गुण और अलंकार के योग से ही उपलब्ध होता है[१]।

उपर्युक्त लक्षणों को देखकर यह कहना कि जो रचना दोषरहित, गुणयुक्त और अलंकार से युक्त हो अथवा शब्द और अर्थ सहित वाक्य काव्य कहलाने के अधिकारी हैं तो ये दोनों व्याख्यायें अपूर्ण-सी हैं। शब्द और अर्थ तो एक ही कोटि में आते हैं क्योंकि एक के बिना दूसरे का अस्तित्व ही नहीं होगा। यदि कहा जाय कि शब्द और अर्थ काव्य में साथ-साथ रहते हैं तो यह लक्षण उसी प्रकार होगा जैसे यह कहना कि मनुष्य वह है जिसमें नाक, कान, मुख, हाथ, पैर तथा प्राण साथ-साथ रहते हों। ऐसा लक्षण स्थूल कहलायेगा। अतएव इसमें भी कुछ कमी रह जाती है। उस कमी को अर्वाचीन लक्षणों द्वारा ठीक किया गया है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि कोई भी दो आचार्य काव्य के लक्षणों पर एकमत नहीं हैं। कुछ लोग तो काव्य में शब्द की प्रधानता को स्वीकार करते हैं और कुछ शब्द और अर्थ दोनों की मान्यता स्वीकार करते हैं।

शब्दसौष्ठव की प्रधानता देने वाले आचार्यों का यह मन्तव्य नहीं है कि काव्य में अर्थ का अस्तित्व ही न माना जाय। इनमें मतभेद का कारण यह है कि काव्य में शब्द या शब्दावली (वाक्य) की प्रधानता है, अथवा यों कहिये कि शब्द एवम् अर्थ दोनों की। साहित्यदर्पणकार यद्यपि शब्द के पक्षपाती हैं तथापि उन्होंने शब्द और अर्थ दोनों को प्रश्रय दिया है। वे लिखते हैं कि "काव्य में माधुर्य आदि गुण, उपमा आदि अलंकार और वैदर्भी आदि रीतियाँ शरीर स्थानीय शब्द और अर्थ की उत्कर्षक होकर आत्म स्थानीय रस की वैसी ही उत्कर्षक होती हैं जैसे शौर्य आदि गुण कण्टक कुण्डलादि अलंकार और अवयवों का सुगठन देह को भूषित करते हैं, उसकी आत्मा का उत्कर्ष सूचित करते हैं[२]।"

सबसे अर्वाचीन लक्षण रसगंगाधरकार पंडितराज जगन्नाथ का है कि रमणीय अर्थ का प्रतिपादक शब्द काव्य है[३]। इसकी व्याख्या इस प्रकार की जाती है कि जिन शब्दों के अर्थ मन को रमाने अथवा लीन करने वाले हों, काव्य कहलाते हैं। पुत्रोत्पत्ति अथवा धनप्राप्ति के प्रतिपादक शब्दों के द्वारा

---

१. "काव्यं ग्राह्यमलंकारात् सौन्दर्यमलंकारः" (काव्यालंकारसूत्र)

२. "गुणाः शौर्यादिवत् अलंकाराः कंटककुण्डलादिवत्
... ...इत्युच्यन्ते" । १, ३ की कारिका।

३. "रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्" । रसगंगाधर

जो आह्लादजनक अनुभूति होती है वह अलौकिक नहीं लौकिक है, क्योंकि उसमें मन रमाने की शक्ति नहीं, मोदमात्र उत्पन्न करने की शक्ति होती है। रमणीयता और मोदजनकता में बड़ा अन्तर है। दूसरे, उसमें क्षणिक रमणीयता की उपलब्धि हो सकती है, तात्कालिक आनन्द हो सकता है किन्तु वह सबको पुनर्वार मोहित नहीं कर सकती। अतः उनसे अलौकिक आनन्द नहीं हो सकता, सनातन रमणीयता का उपयोग नहीं किया जा सकता।

आचार्य विश्वनाथ ने काव्य की परिभाषा इस प्रकार की है—रसयुक्त वाक्य ही काव्य है[१]।

इसमें काव्य द्वारा शब्द और अर्थ दोनों का भाव आ जाता है क्योंकि सार्थक शब्दों द्वारा ही वाक्यों का निर्माण होता है और रसात्मक वाक्य द्वारा काव्य की आत्मा रस की अभिव्यक्ति होती है। अतः यह व्याख्या विशेष रूप से मान्य भी है।

काव्य-विषयक पाश्चात्य विचारधारा

पाश्चात्य विद्वानों ने काव्य की परिभाषा चार तत्त्वों पर आधारित की है। वे हैं:—भाव, कल्पना, बुद्धि एवं शैली[२]। भाव तत्त्व अथवा रागात्मक तत्त्व से अभिप्राय उन भावों का है जिनको कवि अपने काव्य द्वारा पाठकों में संचार करता है। इसमें रस ही मुख्य है। बुद्धि तत्त्व से उन विचारों से अभिप्राय है जिनके द्वारा वह अपने विषय को परिपुष्ट करता है। कल्पना तत्त्व से तात्पर्य यह है कि जिसके द्वारा कवि किसी वस्तु का ऐसा वर्णन करता है जिससे उसका यथावत् चित्राङ्कन हो जावे। शैली अभिव्यक्ति का अपना ढंग है जिसके द्वारा काव्यकार अपने मन के भावों को जनता तक पहुँचाता है। इस प्रकार काव्य में उपर्युक्त चारों बातों का समावेश होता है किन्तु किसी ने एक तत्त्व को, तो दूसरे ने दूसरे तत्त्व को प्रधानता दी है।

शेक्सपियर 'कल्पना' को प्रधानता देता है। शैले भी कल्पना की अभिव्यक्ति बतलाता है, किन्तु वर्डसवर्थ ने भाव की प्रधानता को स्वीकार किया है। 'शान्तिकाल के स्मरण किये हुए प्रभावपूर्ण भावनाओं का स्वच्छन्द तथा प्रबल प्रवाह काव्य है।'[३] कालरिज ने 'अभिव्यक्ति' को प्रधानता देते हुए

---

१. "वाक्यं रसात्मकं काव्यम्"।

२. Emotional Element. 2. Imagination. 3. Intellectual Element. 4. Formal.

३. "Peotry is the spontaneous overflow of powerful feelings. It takes its origin from emotion recollected in tranquility."

कहा है कि "कविता उत्तमोत्तम क्रमविधान है।"[1] मैथ्यू आर्नल्ड ने कविता के मूल्य को जीवन की व्याख्या कहा है।[2] उन्होंने जीवन और विचारात्मक पक्ष पर अधिक बल दिया है। हडसन ने इन पक्षों का समन्वय किया है। उनका कथन है कि "कविता कल्पना और मनोवेगों द्वारा जीवन की व्याख्या करती है"[3]। इसमें फिर भी अभिव्यक्ति के सौन्दर्य की कमी रह जाती है। आचार्य जान्सन ने अपनी परिभाषा में चारों तत्वों का समावेश कर लिया है। उनका कथन है कि कविता सत्य और प्रसन्नता के सम्मिश्रण की कला है जिसमें बुद्धि की सहायता के लिए कल्पना का प्रयोग किया जाता है[4]। कविता में कला के प्रयोग द्वारा अभिव्यक्ति भी परिलक्षित होती है।

काव्य-विषयक आधुनिक विचारधारा

नवीन कलाकारों ने भी काव्यसम्बन्धी अपने विचार प्रकट किये है। उनमें आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल मुख्य हैं जिन्होंने 'काव्य और कविता' तथा 'कविता क्या है' शीर्षक लेखों में अपने विचार प्रकट किये हैं। द्विवेदी जी ने लिखा है कि 'सादगी, असलियत और जोश यदि ये तीनों गुण कविता में हों तो कहना ही क्या है परन्तु बहुधा अच्छी कविता में भी इनमें एकाध गुण की कमी पाई जाती है। कभी कभी देखा जाता है कि कविता में केवल जोश रहता है, सादगी और असलियत नहीं। परन्तु बिना असलियत के जोश होना बहुत कठिन है। अतएव कवि को असलियत का भी ध्यान रखना चाहिये।"

द्विवेदी जी का असलियत से अभिप्राय यह नहीं है कि वे काव्य को इतिहास बना दें, बल्कि वे कल्पना को महत्त्वपूर्ण स्थान देते हुये कहते हैं कि कविता का सबसे बड़ा गुण नई नई बातों का सूझना है। रागात्मक तत्त्व को उन्होंने जोश के रूप में लिया है किन्तु उन्होंने उसे विशेष महत्त्व नहीं दिया है।

---

1. "Poetry is the best words in the best order".
2. "Poetry is at its bottom a criticism of life."—Mathew Arnold.
3. "Poetry is an interpretation of life through imagination and emotion."—HUDSON.
4. "Poetry is the Art of Uniting pleasure with truth by calling imagination to the help of reason." —JOHNSON An introduction to study of literature, Page 82,

शुक्ल जी कहते है कि "जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञानदशा कहलाती है उसी प्रकार हृदय की वह मुक्तावस्था रसदशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिये मनुष्य की वाणी जो शब्दविधान करती आई है उसे कविता कहते हैं।"

श्री जयशंकर प्रसाद जी काव्य को आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति बतलाते है।

इस प्रकार हम देखते है कि नवीन कलाकार भी एकमत नहीं हैं। कोई कविता का स्वरूप उसका आनन्दायक होना, कोई मनोवेगमूलक होना मानते है। सुश्री महादेवी के शब्दों में "कविता मनुष्य के हृदय के समान ही पुरातन और विशाल है, इस हेतु अब तक उसकी कोई ऐसी परिभाषा नही बन सकी जिसमें तर्क-वितर्क की सम्भावना न हो।" यह बात तो निर्विवाद है कि विचारों में परिवर्तन हुआ करता है। अतएव परिभाषाओं में भी पर्याप्त विभिन्नता दिखलाई पड़ती है किन्तु भाव में परिवर्तन नहीं हुआ करता। सभी प्राणी—चाहे वे भारतीय हों अथवा विदेशी—अपने प्रिय के वियोग में दुःखी होते है और उनके मिलने पर प्रसन्न होते हैं। अतः भाव सर्वदेशीय और सर्वकालीन एकरस रहता है और यही मनुष्य को मनुष्यत्व प्रदान करता है। अतएव काव्य में भावपक्ष का महत्त्व अधिक है। कला का काम भावों का उद्दीपन करना और उसमें सौन्दर्य लाना है। शब्द, छन्द, अलंकार, गुण आदि कला के वाह्य उपादान हैं।

अस्तु, हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि काव्य में भावपक्ष और कलापक्ष का पूर्ण समन्वय रहे। अतः हम कह सकते है कि भावप्रधान रसमग्न करने वाली रुचिर रचना काव्य है। इस परिभाषा में भावपक्ष और कलापक्ष दोनों का समन्वय होता है क्योंकि भावपक्ष द्वारा कवि अपने विचारों को पाठकों में संचारित करता है जिससे कि पाठक तन्मय हो जाते हैं और रुचिर रचना से कलापक्ष आ जाता है जिसमें अपने भावों की अभिव्यक्ति सम्यक् प्रकार से हो जाती है।

काव्य के विभिन्न रूप

भारतीय परम्परा के अनुसार संस्कृत के आचार्यों ने काव्य के दो भेद कहे हैं—दृश्य काव्य एवं श्रव्य काव्य।

दृश्य काव्य वह काव्य कहलाता है जिसका आनन्द नेत्रों द्वारा प्राप्त किया जा सकता है और श्रव्य काव्य वह काव्य है जिसका आनन्द श्रोत्रों द्वारा लिया

जाता है। यद्यपि दृश्य काव्य को श्रव्य काव्य की भाँति उपयोग में ला सकते हैं किन्तु श्रव्य काव्य को दृश्य काव्य की भाँति नहीं। श्रव्य काव्य के द्वारा केवल पठित समाज ही लाभान्वित हो सकता है किन्तु दृश्य काव्य द्वारा जन-साधारण ही आनन्द प्राप्त कर सकता है।

श्रव्य काव्य के तीन भेद हैं:– गद्य, पद्य और चम्पू (मिश्रित)।

पद्य में बन्ध के आधार पर प्रबन्ध और मुक्तक नाम के दो विभाग किये गये हैं। प्रबन्ध काव्य में पूर्वापर का तारतम्य रहता है। कथानक के अनुसार छन्द एक दूसरे से शृंखलाबद्ध रहते हैं। उनका क्रम नहीं बदला जा सकता। मुक्तक काव्य में छन्द स्वतः पूर्ण होते हैं। अतएव पारस्परिक सम्बन्ध की आवश्यकता प्रतीत नही होती। उसके अन्तर्गत केवल एक भाव निहित रहता है जिसकी अभिव्यक्ति पर्याप्त होती है। प्रबन्ध काव्य के भी दो भेद किये गये है—एक महाकाव्य तथा दूसरा खण्डकाव्य। निम्नांकित चक्र से उपर्युक्त विभाजन स्पष्ट हो जायेगाः—
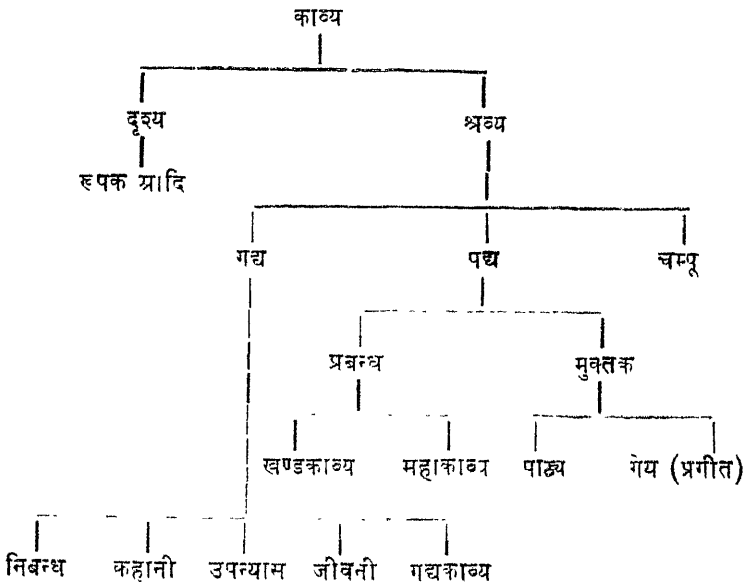
पाश्चात्य परम्परा के अनुसार

कवि लोग जब विषयनिरूपण करते हैं तो उनके समक्ष तीन मार्ग होते हैं—एक मार्ग तो वह होता है जिसमें वे विषय से पृथक् होकर दर्शकों अथवा

श्रोताओं के समान वाह्य रूप से उसकी अभिव्यक्ति करें:—जैसे चित्र खींचने वाले किसी भी दृश्य का यथावत् चित्र अपने कैमरे द्वारा उतार लेते हैं। उसी प्रकार कवि भी पृथक् रहकर वाह्य रूप से जगबीती के आधार पर किसी विषय का चित्रण करते है। यह शैली बहिर्मुखी कहलाती है। इस प्रकार की कविता विषयप्रधान कविता कहलायेगी। यह कविता वर्णनात्मक होगी। इसके अन्तर्गत महाकाव्य, खण्डकाव्य तथा स्फुट कविता की गणना होती है। स्फुट काव्य के अन्तर्गत रूपक, दृष्टान्त, व्यंग्य काव्य, ग्राम्य काव्य तथा प्रत्युत्तर काव्य होते है।

दूसरा मार्ग वह होता है जिसमें कवि काव्यदृश्यों से विलग होकर केवल अपने ही विचारों तथा भावनाओं का चित्रण करता है। जिस प्रकार नाटक के पात्र अपनी कहानी दर्शकों के समक्ष प्रस्तुत करते हैं उसी प्रकार कवि भी अपनी कहानी पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करें अथवा वे अपने निजी भावों तथा अनुभूतियों को व्यक्त कर पाठकों की हृदयस्थली में (कल्पनात्मक सहानुभूति के कारण) उन्हीं भावों का प्रकाश करें तो इस प्रकार की शैली को अन्तर्मुखी कह सकते है। इसके फलस्वरूप जो रचना होगी वह गीतकाव्य कहलावेगी। गीतकाव्य के अनेक रूप होते हैं, यथा–धार्मिक गीत, राष्ट्रीय गीत, प्रणय गीत, शोक गीत, गौरव गीत तथा चतुर्दशी।

तीसरा मार्ग वह है जिसमें कवि इन दोनों भावों को मिलाकर काव्यरचना करें। बहिर्मुखी तथा अन्तर्मुखी शैली के मिश्रण से नाट्य काव्य का जन्म होता है। बहिर्मुखी शैली में वह कथावस्तु का निरूपण करता है तथा अन्तर्मुखी शैली में व्याख्यात्मक ढंग से पात्रों की अनुभूतियों का विवेचन करता है। इस मिश्रित शैली में व्याख्यात्मक काव्य की गगाना होती है। इसमें कवि वाह्य रूप से विषय का वर्णन तो अवश्य करता है परन्तु अपनी निजी व्याख्या से विवरण को रोचकता प्रदान करता है। यह विभाजन पाश्चात्य परम्परा के अनुसार है।

द्वितीय अध्याय

श्रव्य काव्य

भारतीय समीक्षापद्धति में श्रव्य काव्य के तीन भेद किये गये हैं – गद्य, पद्य तथा चम्पू ।

आधुनिक काल मे पद्य में दो प्रकार की रचनायें देखने को मिलती हैं— प्रबन्ध तथा निर्बन्ध । प्रबन्ध के दो भेद किये गये हैं—महाकाव्य तथा खण्ड-काव्य । महाकाव्य का क्षेत्र विस्तृत होता है जिसमें जीवन की अनेकरूपता दृष्टिगोचर होती है । खण्डकाव्य में पूर्ण जीवन का विवेचन करके केवल एक ही घटना को मुख्यता दी जाती है ।

निर्बन्ध शैली के अन्तर्गत मुक्तक, गीत तथा प्रगीत तीन प्रकार की रचनायें देखी जाती हैं । यद्यपि हमारे साहित्य में छन्द-बद्ध मुक्तक और गीतों का प्रचलन प्राचीन काल से चला आ रहा है, किन्तु प्रगीतों की रचना इंगलिश काव्य के लीरिक्स (L Y R I C S) के ढंग पर हिन्दी में होने लगी है ।

तीसरा विभाग चम्पू है जिसमें गद्य एवं पद्य दोनों प्रकार का मिश्रण रहता है, जैसे गुप्त जी की "यशोधरा" ।

महाकाव्य के लक्षण

शास्त्रीय परम्परा:—महाकाव्य के लक्षणों का वर्णन दण्डी ने काव्यादर्श में किया है, किन्तु साहित्यदर्पणाकार विश्वनाथ ने इसका विस्तार के साथ वर्णन किया है । वह इस प्रकार हैं[1]—

---

१. सर्गबन्धो महाकाव्यं तत्रैको नायक: सुर: ।
सद्वंश: क्षत्रियो वापि धीरोदात्तगुणान्वित: ।।
एकवंशभवा भूपा: कुलजा बहवोऽपि वा ।
श्रृंगारवीरशान्तानामेकोऽङ्गी रस इष्यते ।।
अंगानि सर्वेऽपि रसा: सर्वे नाटकसन्धय: ।
इतिहासोद्भवं वृत्तमन्यद्वा सज्जनाश्रयम् ।।
चत्वारस्तस्य वर्गा: स्युस्तेष्वेकं च फलं भवेत् ।
आदौ नमस्क्रियाशीर्वा वस्तुनिर्देश एव वा ।।
क्वचिन्निन्दा खलादीनां सताञ्च गुणवर्णनम् ।
एकवृत्तमयै: पद्यैरवसानेऽन्यवृत्तकै: ।।
नाति स्वल्पा नाति दीर्घा सर्गा अष्टाधिका इह ।
नानावृत्तमय: क्वापि सर्ग: कश्चन दृश्यते ।।

(शेष अगले पृष्ठ पर)

१. महाकाव्य सर्गबद्ध होना चाहिये। उसका नायक कोई देवता अथवा सद्वंशोद्भव क्षत्रिय जो धीरोदात्त गुणान्वित हो, होना चाहिये। एक ही वंश में जन्म लेने वाले अथवा एक ही कुल के अनेक. राजा भी इसके नायक हो सकते हैं।

२. शृंगार, वीर और शान्त इनमें से किसी एक की प्रधानता रहे, शेष रसों की समुचित अवतारणा हो। नाटक की सभी सन्धियाँ इसमें हों।

३. इसका कथानक इतिहाससम्मत अथवा परम्पराप्रसिद्ध हो अथवा किसी सज्जन का चरित्र हो।

४. इससे धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष की प्राप्ति हो और उनमें से एक फल हो।

५. उसके प्रारम्भ में ईशवन्दना, आशीर्वाद अथवा कथावस्तु का निर्देशन हो, कहीं-कहीं सज्जनों की प्रशंसा हो।

६. सर्ग न बहुत बड़े हों और न बहुत छोटे। इनकी संख्या कम से कम आठ हो।

७. एक सर्ग में एक ही प्रधान छन्द हो जो अन्त में बदल दिया जाये। यदि उसमें अनेक वृत्त अथवा छन्दों का प्रयोग किया जाये तो भी कोई हानि नहीं। सर्गान्त मे आगामी सर्ग की कथा की सूचना हो।

८. उसमें यथायोग्य सन्ध्या, सूर्य, चन्द्र, रात्रि, प्रदोष, अन्धकार, दिवस, प्रातः, मध्याह्न, मृगया, पर्वत, ऋतु, वन, सागर, संयोग, विप्रलम्भ, ऋषि, स्वर्ग, नगर, यज्ञ, युद्ध, आक्रमण, विवाह, मन्त्रणा और पुत्रोत्पत्ति का सांगोपांग वर्णन होना चाहिये।

९. इसका नामकरण कवि के नाम पर अथवा कथावस्तु, नायक या अन्य पात्र के नाम के आधार पर आधारित हो, परन्तु प्रत्येक सर्ग का नाम उसके वर्ण्य विषय के आधार पर होना चाहिये।

सर्गान्ते भाविसर्गस्य कथायाः सूचनं भवेत्।
सन्ध्यासूर्येन्दुरजनीप्रदोषध्वान्तवासराः ॥
प्रातर्मध्याह्नमृगयाशैलर्तुवनसागराः ।
संयोगविप्रलम्भौ च मुनिस्वर्गपुराध्वराः ॥
रणप्रयाणोपयम मन्त्रपुत्रोदयादयः ।
वर्णनीया यथायोगं सांगोपांगा अमी इह ॥
कवेर्वृत्तस्य वा नाम्ना नायकस्येतरस्य वा ।
नामास्य सर्गोपादेय कथया सर्ग नाम तु ॥

पाश्चात्य परम्परानुसार लक्षण:—महाकाव्य के लक्षण निम्नांकित हैं:—

१. यह एक वृहद् वर्णनात्मक तथा व्याख्यात्मक काव्य है। इसका सम्बन्ध व्यक्तिगत जीवन से न होकर जाति के जीवन से होता है।

२. इसकी शैली वहिर्मुखी होती हैं।

३. इसकी कथावस्तु परम्परागत होती है जिससे जातिविशेष पूर्णतया परिचित रहती है।

४. इसका कार्य-व्यापार असाधारण रूप से आकर्षक तथा महत्त्वपूर्ण होता है और इसकी सफलता और विफलता में देवताओं और नियत-नटी का हाथ रहता है।

५. इसके पात्र शूरवीर होते हैं और उनका सम्बन्ध देवताओं से भी रहता है।

६. एक ही मुख्य पात्रविशेष की जीवनी से यह सम्बन्धित रहता है जिसके कारण सम्पूर्ण कथावस्तु समन्वित होती है।

७. इसकी शैली उत्कृष्ट और गौरवपूर्ण होती है।

८. इसमें आद्योपान्त एक ही छन्द का प्रयोग होता है।

महाकाव्य के दो प्रमाणित रूप हैं—(1) Epic of growth (2) Epic of Art अर्थात् (१) संचित महाकाव्य और (२) साहित्यिक महाकाव्य।

साधारणतया महाकाव्य की कथावस्तु किसी जातिविशेष के वीर पात्र की जीवनगाथा के रूप में प्रस्तुत रहती है। जब किसी काल में किसी कवि ने इस परम्परागत कथा को काव्य का रूप दिया तो संचित महाकाव्य का प्रादुर्भाव होता है, जैसे—इलियड ग्रीस का और वियोउल्फ अंग्रेज़ी साहित्य का संचित महाकाव्य है। साहित्यिक महाकाव्य में संचित महाकाव्य के सभी गुण होते हैं। इसमें भी परम्परागत और वीरविशेष की गाथा, भाग्य तथा दैवी सम्बन्ध एवं महत्त्वपूर्ण कार्य-व्यापार होता है। शैली भी गौरवपूर्ण होती है और कथा वर्णनात्मक होती है। छन्द भी आद्योपान्त एक ही रहता है। किन्तु कथा-वस्तु के प्रतिपालन में ही अन्तर होता है।

संचित महाकाव्य प्रतिपादन की दृष्टि से स्वच्छन्द, गतिपूर्ण, स्वाभाविक तथा प्राकृत है परन्तु साहित्यिक महाकाव्य अनुकरणात्मक तथा पुरातन होता है। अंग्रेज़ी साहित्यिक महाकाव्य के अन्तर्गत मिल्टन लिखित पैराडाइज लास्ट 'Paradise Lost' तथा टेनिसन लिखित आडियल्स आफ दि किंग 'Idylls of the king' की गणना होती है। किन्तु भारतीय समीक्षापद्धति में कोई

ऐसा अन्तर नहीं किया गया है। अंग्रेजी साहित्य में साहित्यिक महाकाव्य के अन्य भेद भी हैं—

१. प्रमाणित महाकाव्य (Authentic Epic)
२. रूपात्मक महाकाव्य (Allegory)
३. उपहास महाकाव्य (Mock Epic)

यथार्थ महाकाव्य और रूपात्मक महाकाव्य का एवर क्रौम्बी की दि इपिक (The Epic) नामक पुस्तक के आधार पर अन्तर स्पष्ट कर देना आवश्यक है :—

यथार्थ महाकाव्यः—

१. यथार्थ महाकाव्य का कथानक ख्यात वृत्त होना चाहिये।
२. पात्र सजीव एवं ऐतिहासिक होते हैं।
३. सजीव पात्रों द्वारा मानव जीवन की समस्याओं पर विचार प्रकट किया जाता है।
४. उसका मूल्य सामाजिक एवं आध्यात्मिक दोनों प्रकार से होता है।
५. समाज का पूर्ण चित्र होता है।
६. रूपक यदि होता है तो गौण रूप में।

रूपात्मक कहाकाव्यः—

१. इसका कथानक कल्पित होता है।
२. पात्र निर्जीव और प्रायः अमूर्त भावों के प्रतीक होते हैं।
३. इसमें अमूर्त भावों द्वारा आध्यात्मिक जीवन का रहस्य सुलझाया जाता है।
४. इसका मूल्य केवल आध्यात्मिक होता है और यह आध्यात्मिक तथ्य का निर्देशन करता है।
५. रूपकों का निर्वाह आदि से अन्त तक सर्वत्र होता है।

भारतीय एवं पाश्चात्य परम्परानुसार महाकाव्य के लक्षणों पर एक तुलनात्मक दृष्टि

भारतीय और पाश्चात्य महाकाव्य के आदर्शों में विशेष अन्तर नहीं है। भारतीय पद्धति में कुछ बातें ऐसी हैं जो निश्चित तथा अनिवार्य हैं और जिनमें भारतीय आदर्श निहित है। इनका सम्बन्ध महाकाव्य की आत्मा से है जिसमें नायक का उदात्तत्व, रस और कथानक का ऐतिहासिक आधार सम्मिलित है।

दूसरे वे बातें जिनका महाकाव्य की रचना तथा संगठन से सम्बन्ध होता है। इसमें सर्गों की संख्या, वर्ण्य विषयों की सूची तथा सर्गों का नामकरण सम्मिलित रहता है। यह कवि के अभ्यास, उसकी शक्ति एवं निपुणता पर निर्भर है। यद्यपि लक्षणों में प्रतिबन्ध है तथापि अनेकरूपता के दृश्य दृष्टिगोचर होते हैं। यदि किसी काव्य में सात सर्ग हैं तो किसी में अठारह, किसी में बाइस और किसी में चवालीस। इसी प्रकार वर्ण्य विषयों के चयन में तथा सर्गों के नामकरण में पर्याप्त अन्तर पाया जाता है।

भारतीय तथा पाश्चात्य आदर्शों में नायक का आभिजात्य तथा धीरोदात्तत्व का प्रतिबन्ध रक्खा गया है। ऐसे नायक में शिवत्व एवम् आत्मश्लाघा-रहितत्व के दर्शन तो होते ही हैं, साथ ही उच्च भावनाओं से युक्त होने के कारण वे रस-प्रस्फुटन में सहायक होते है। यद्यपि आजकल कुलीनता पर विशेष महत्त्व नहीं दिया जाता है तथापि इतिहासप्रसिद्ध नायक के प्रति जनता के हृदयों में यों ही विशेष राग रहता है और यदि वह देश के राजनीतिक जीवन का प्राण हुआ तो वह राग एक मनोमुग्धकारी मन्त्र बन जाता है। नायक के साथ यह रागात्मक सम्बन्ध जहाँ रस-परिपाक में शीघ्रता तथा सरलता उत्पन्न कर देता है वहाँ साधारणीकरण या लोकहृदय की साम्य भावना उत्पन्न करने में सहायक होता है। यही कारण है कि पश्चिमी देशों में भी जहाँ पर बहुत से वाद प्रचलित हैं, आदर्शवाद अब भी सुरक्षित है। वहाँ नायक के व्यक्तित्व की अपेक्षा जातीयता का प्रतिनिधित्व अधिक रहता है क्योंकि वास्तव में महाकाव्य जाति की ही वस्तु होती है। हमारे यहाँ नायक की श्रेष्ठता, इतिहासप्रसिद्धता, युद्ध-यात्राओं आदि के वर्णनों द्वारा जातीय गुणों का प्राधान्य मिलता है। महाकाव्य का आकार वृहद् होता है। इसका विषय व्यक्तिगत जीवन से न होकर जाति के जीवन से होता है। शैली वाह्य होती है। इसकी कथावस्तु परम्परागत होती है जिससे जातिविशेष पूर्णतया परिचित रहती है। इसका कार्य असाधारण रूप से आकर्षक तथा महत्त्वपूर्ण होता है। इसकी सफलता तथा विफलता में भाग्य तथा देवताओं का हाथ रहता है, किन्तु दैव के हस्तक्षेप द्वारा मानवीय गौरव की स्थापना हो जाती है। यद्यपि दैवी हस्तक्षेप के सम्बन्ध में भारतीय और पाश्चात्य आदर्शों में, विशेषकर यूनानी महाकाव्यों में, अन्तर रहता है क्योंकि उनके यहाँ दैव को क्रूर (क्रूर सत्ता रूप में) प्रदर्शित किया गया है जो क्रूरता करने में प्रसन्न होता है; किन्तु हमारे यहाँ कर्मों के अनुसार ही सुख अथवा दुःख प्राप्त होता है। अतएव दैव की क्रूरता का प्रश्न नहीं उठता।

आधुनिक मान्य आदर्श

आजकल के महाकाव्यों में बहुत कुछ भिन्नता दिखाई पड़ती है। अतः हम निम्न आदर्शों को मान्य समझते हैं:—

(१) महाकाव्य का शरीर—

(अ) वाह्य स्वरूप के अन्तर्गत सर्गरचना, छन्द, अलंकार तथा भाषा आदि हो।

(ब) कथानक के अन्तर्गत वस्तुविस्तार, पात्र (नायक और नायिकाओं का चरित्र-चित्रण) विशेषकर हो।

(स) वर्ण्य विषय—प्रकृति, जगत्, पारिवारिक सम्बन्ध, सामाजिक व्यवस्था (लोकधर्म) का विवरण हो।

(२) महाकाव्य की आत्मा—

(अ) रस और भाव।

(ब) आदर्श के पोषक तत्त्व।

(क) नायक का चरित्र।

(ख) लौकिक और अलौकिक का समन्वय।

(ग) दैवी और आसुरी प्रवृत्तियों का संघर्ष।

महाकाव्य का शरीरः—

(१) महाकाव्य के शरीर के अन्तर्गत सर्गबद्ध रचना का होना आवश्यक है, किन्तु सर्गों की संख्या के सम्बन्ध में सब आचार्य एकमत नहीं हैं। कोई तो सर्गों की संख्या निश्चित ही नहीं करता और कोई कम से कम आठ सर्गों की संख्या का होना आवश्यक मानता है। यदि हम इसी आदर्श को मानकर महाकाव्यों का विवेचन करें तो रामचरितमानस का स्थान महाकाव्यों में नही हो सकता। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि किसी महाकाव्य में स्थूलकाय सात सोपान ही हों तो वह महाकाव्य नहीं गिना जावेगा। मानस में यद्यपि सात ही सोपान है, तथापि प्रत्येक सोपान में अनेक प्रकरण है। सर्ग का तात्पर्य केवल इतना ही है कि कथा का विभाजन सुविधा से हो जावे। संख्या का निश्चित होना कोई मुख्य बात नहीं है, तथापि महाकाव्य में कम से कम आठ सर्ग होने चाहियें और इस बात पर भी ध्यान रखना चाहिये कि वे न बहुत बड़े हों और न बहुत छोटे।

(२) सर्ग में एक ही छन्द का विधान है जो अन्त में बदल दिया जावे। इसका तात्पर्य केवल यही है कि कथाप्रवाह में किसी प्रकार का व्यवधान न होने पावे। अन्त में छन्द का परिवर्तन केवल आगामी सर्ग की कथा की सूचना

के निमित्त ही रखा गया है। फिर भी सर्ग में एक से अधिक प्रकार के छन्दों का प्रयोग हो सकता है। केवल इस बात पर विशेष ध्यान रखना चाहिये कि प्रवाह में शिथिलता न आने पावे।

(३) काव्य के आदि में नमस्कारात्मक, वस्तुनिर्देशात्मक अथवा आशीर्वादात्मक मंगलाचरण हो और साथ ही सज्जनों की प्रशंसा और असज्जनों की निन्दा भी। यह नियम सर्वमान्य नहीं है क्योंकि इसके न होने से महाकाव्य के कलेवर पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। केवल परिपाटी को अक्षुण्ण बनाये रखने में ही शिवत्व समझने वाले इस नियम का पालन कर सकते हैं।

(४) महाकाव्य की कथा प्रख्यात होनी चाहिये, काल्पनिक नहीं। इसका कारण केवल यही है कि चरित्रनायक के परिचित होने के कारण उसके प्रति जनता के हृदय में विशेष राग होता है। किन्तु कल्पित कथा होने के कारण न तो किसी पात्र से परिचय प्राप्त होता है और न इस हेतु उनके प्रति श्रद्धा तथा अनुराग ही उत्पन्न होता है। यद्यपि पाश्चात्य देशों में अनेक वाद प्रचलित हैं किन्तु उन वादों के पीछे भी एक आदर्श की भावना अन्तर्निहित रहती है। वे लोग उन वादों में सफल न हो सके। अतः कथा का आधार ऐतिहासिक अथवा पौराणिक हो जिससे रस की प्राप्ति अथवा अभिव्यक्ति हो सके। इसके लिये उसमें अनेक प्रकार के वर्णन भी रक्खे जाते हैं जो क्रमबद्ध कथा को अग्रसर करने में सहायक हों। इस प्रकार महाकाव्य की कथा घटनात्मक और वर्णनात्मक दोनों प्रकार की होनी चाहिये। घटना कथा को बढ़ाती है और वर्णन उसमें रोचकता लाते हैं। दोनों का सम्यक् योग होना आवश्यक है। बहुधा देखा जाता है कि कविलोग घटनाओं का अतिक्रमण कर वर्णनों का बाहुल्य कर देते हैं जिसके परिणामस्वरूप बहुत छोटी कथा पर ही महाकाव्य का प्रादुर्भाव होने लगता है। कुछ कवि भाव-व्यञ्जना अथवा वस्तु-व्यञ्जना पर ही ध्यान देते है जिसके कारण काव्यानुकूल कथा का प्रस्फुटन नही हो पाता है। इस प्रकार की प्रणीत रचनायें महाकाव्य कहलाने की अधिकारिणी नहीं बन सकतीं।

(५) नाट्य सन्धियों का विधान भी महाकाव्य के लिये उचित समझा गया क्योंकि नाटकीय पंच सन्धियों से महाकाव्य में रोचकता का समावेश हो जाता है किन्तु आजकल का काव्यकार नाट्य सन्धियों की उपेक्षा-सी कर देता है और सन्धियों की चिन्ता नहीं करता है।

(६) महाकाव्य के लिये उचित नायक का होना अत्यावश्यक है। शास्त्रीय लक्षण के अनुसार मानवोत्तर व्यक्ति ही नायक हो सकते थे। इस

युग में नायक के लिये न तो सद्वंशोद्भव क्षत्रिय होना चाहिये और न कोई सुर ही; न उसे धीरोदात्त होने की आवश्यकता है और न अन्य किसी शास्त्रीय परिभाषा से सम्पन्न। आजकल नायक के पद के लिये जातीय और सामाजिक चेतना को अनुप्राणित करने वाला कोई प्राणी चाहे वह किसी जाति, वंश अथवा लिंग का हो, नायक के पद पर आसीन हो सकता है, क्योंकि उसके आदर्शमय प्रेरक तत्त्व ही देश का प्रतिनिधित्व करते है जिसके कारण सामाजिक चेतना उच्छ्वसित हो उठती है। आज नायक और नायिका में मन, वाणी और कर्म केवल यही तीन गुण आवश्यक है। वे चाहे कैसे ही क्यों न हों। प्रत्येक सर्ग में उनकी कथा का समावेश होना चाहिये जिससे कथा का तारतम्य बना रहे।

(७) काव्य से शृंगार, वीर और शान्त रस इसके अंगी रस हों, शेष रसों की समुचित अवतरणा रहे। रस सम्बन्ध में भी आज का महाकाव्यकार अपने को स्वतन्त्र मानता है। कुछ काव्यकार इसकी चिन्ता करते भी है परन्तु अधिक दल इस पक्ष में है कि रस की अपेक्षा समस्या अधिक आवश्यक है और इसी को वे महत्त्व प्रदान करते है।

(८) वर्ण्य विषय में प्रकृति, जगत्, पारिवारिक सम्बन्ध और सामाजिक व्यवस्था का सांगोपांग वर्णन होना चाहिये। प्रायः देखा जाता है कि मनुष्य धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष की प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील रहता है और यही मानवजीवन का ध्येय है। इसको हम व्यक्तिगत साधना कह सकते है। आजकल धर्म, अर्थ काम व मोक्ष की चिन्ता नही है, केवल एक फल चाहिये।

प्रकृतिजगत् में संध्या, सूर्य, चन्द्र, रात्रि तथा मृगया आदि सम्मिलित है। इनका मानव से क्या सम्बन्ध है तथा उसके जीवन पर क्या प्रभाव डालते हैं इन सबका उल्लेख होना वांछनीय है। पारिवारिक जीवन के अन्तर्गत संयोग, विप्रलम्भ, पुत्रोत्पत्ति आदि आते है। इस हेतु मानव जीवन का परिवार से क्या सम्बन्ध है, वर्णन करना आवश्यक हो जाता है। रण-यात्रा, मन्त्रणा, यज्ञादि का वर्णन समाज से सम्बन्ध स्थापित करता है। इन सब वर्णनों का तात्पर्य केवल यही है कि महाकाव्य में व्यक्तिगत साधना, प्रकृतिजगत्, पारिवारिक सम्बन्ध और सामाजिक व्यवस्था का मानव से सम्बन्ध स्थापित रहे तथा आपस में समन्वय बना रहे। आजकल भी प्रकृतिवर्णन और शृंगारवर्णन होता है किन्तु मुनि और अध्वर आज के लिये बाहर की बात है।

(९) महाकाव्य का नाम कथावस्तु के आधार पर, कवि के नाम पर अथवा नायक या नायिका के नाम पर होना चाहिये।

महाकाव्य की आत्मा:—

(१) कवि को काव्यात्मा पर विशेष ध्यान देना चाहिये। वर्ण्य विषयों का वर्णन केवल रस-उद्रेक के लिये ही हो न कि लक्षण ग्रन्थ के संकलन के लिये, क्योंकि महाकाव्य की सफलता कवि की कल्पना-शक्ति एवं सफल चरित्र-चित्रण पर निर्भर है। आजकल चरित्र-चित्रण करने के लिये कथानक को इतिहाससम्मत अथवा परम्पराप्रसिद्ध मानते हुए भी 'सज्जनाश्रय" पर आपत्ति है, अन्यथा नूरजहाँ और दैत्यवंश महाकाव्य न बनते।

(२) काव्यात्मा के अन्तर्गत रस, भाव आते हैं। लक्षणग्रन्थों मे काव्य की आत्मा इसको माना है। अतएव लक्षणग्रन्थो मे एक रस प्रधान और अन्य रस गौण रूप मे रखने का उल्लेख किया गया है। इसका कारण केवल यही है कि रस का अविरल प्रवाह कथा में प्रवाहित रहे और काव्यत्व में किसी प्रकार का शैथिल्य न होने पावे।

(३) महाकाव्य के लिए लौकिक-अलौकिक का समन्वय, दैवी-आसुरी प्रवृत्तियों का सघर्ष आदि आदर्श के पोषक तत्त्वों का सम्यक् वर्णन हो।

उपर्युक्त तत्त्वों के अतिरिक्त आज के महाकाव्य के कुछ अन्य तत्त्वः—

(अ) **उद्देश्य**—काव्य की भांति महाकाव्य का उद्देश्य भी बदल गया है। जहाँ काव्य **"यशसे अर्थकृते व्यवहारविदे शिवेत रक्षतये सद्यः परनिवृत्तये कान्तासम्मित तथोपदेशयुजे"** था वहाँ आज काव्य समाज, राजनीति तथा अर्थशास्त्र की विवेचना का क्षेत्र बन गया है। अब कवि की लेखनी **"शिवेत रक्षतये"** का अर्थ समाज की रूढियों का विनाश, वर्तमान अर्थ-व्यवस्था पर प्रहार अथवा इसी प्रकार की कोई बात समझता है। छिपी हुई मिथ्या यशोलाभ-भावना भी झाँकती रहती है। आज का महा-काव्यकार भी इससे मुक्त नहीं है। बुद्धिवाद के आवरण में वह इन्हीं का प्रचार करता है। संक्षेप में आज महाकाव्य का एक आवश्यक अंग यह है कि वह मानव की विशेष समस्या का विशेष विवेचन करता है।

(ब) महाकाव्यों में प्रगीतों का भी प्रयोग होने लगा है। यद्यपि यह प्रणाली महाकाव्यों के लिए मान्य नही है, किन्तु पाश्चात्य परम्परा का अनुकरण प्रारम्भ हो गया है जिसमें अनेक प्रबन्ध काव्यों में इसे स्थान दिया गया है।

अतः महाकाव्य वह विषय-प्रधान रुचिर रचना है जिसमें जातीय संस्कृति के किसी महाप्रवाह, सभ्यता के उद्गम, संगम, युगप्रवर्त्तक संघर्ष, महच्चरित्र के विराट् उत्कर्ष, समाज की उद्वेगजनक स्थिति, आत्मा के किसी उदात्त आशय अथवा रहस्य का उद्घाटन किया जावे।

तृतीय अध्याय

संस्कृत साहित्य के प्रमुख महाकाव्यों की विशेषतायें

आदि महाकाव्य

संस्कृत साहित्य में रामायण और महाभारत ऐतिहासिक महाकाव्य माने गये हैं।

रामायण—भारतीय कवि रामायण को आदि महाकाव्य और इसके रचयिता वाल्मीकि को आदि कवि कहते हैं। इस ग्रन्थ में केवल युद्ध-वर्णन ही नहीं, प्रत्युत प्रकृति का भी बड़ा ही रमणीय चित्र अंकित किया गया है। यह कौटुम्बिक आदर्शों का एक अपूर्व ग्रन्थ है। अतएव यह भारतीय कवियों को आदर्श एवं नव-स्फूर्ति प्रदान करता रहा है। शास्त्रीय ग्रन्थों में जो महाकाव्य का लक्षण बताया गया है वह इसी ग्रन्थ को सम्मुख रखकर निश्चित किया गया है। रामायण का कथानक अत्यन्त उदात्त है, अतएव उसके पश्चात् के अनेक प्रसिद्ध महाकवियों ने अपने महाकाव्य का कथानक इसी ग्रन्थ से लिया है। इस काव्य के नायक और नायिका आदर्श हैं। इस प्रकार के उदात्त नायक और नायिका संसार के किसी काव्य में नहीं हैं। इसके अयोध्याकाण्ड का वर्णन सर्वश्रेष्ठ है। इसमें प्रधान अलंकार उपमा, रूपक और उत्प्रेक्षा है। इसके अतिरिक्त अन्य अलंकार भी हैं। इसकी भाषा प्राञ्जल और परिष्कृत है। भाषा की सरलता और भाव की विशदता उनकी कविता की विशेषतायें हैं।

महाभारत—

भारतवर्ष में महाभारत प्राचीन इतिहास का एक प्रधान ग्रन्थ माना गया है किन्तु अंग्रेजी माप से उसे भी महाकाव्य कहते हैं। इसका महत्त्व रामायण से किसी प्रकार कम नहीं है। आजकल यह आचारविषयक उपदेशों का विश्वकोष है। यह मनुष्य को धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पदार्थों की उपलब्धि कराता है। इसके विषय में कहा जाता है कि ऐसा कोई विषय नहीं है जो महाभारत में न हो[1]।

---

१. "यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्" (महाभारत)

इसका ऐतिहासिक अंश महायुद्ध तथा कौरव-पाण्डवों की विस्तृत कथा का वर्णन करता है तथा तत्कालीन सामाजिक एवं राजनैतिक विचारों को अवगत कराता है। इससे केवल आचार और शान्ति विषयक बातें ही नही बल्कि रण-विद्या की बहुत-सी बातें ज्ञात होती है। यह ग्रन्थ यद्यपि सौति ने शौनक को सुनाया था तो भी महर्षि व्यास द्वारा रचित माना जाता है। कई अंग्रेज़ समालोचक व्यास को एक व्यक्ति नहीं मानते हैं। ये ही वेदव्यास पुराणों के भी रचयिता माने गये है।

अनुमान है कि व्यास ने इसे पर्वों और अध्यायों में विभक्त किया था। वैशम्पायन ने भी उसी क्रम को स्थिर रक्खा। उनके ग्रन्थ में प्रायः सौ पर्व थे। सौति ने उनको अठारह पर्वों में आबद्ध कर दिया। इसमें उपाख्यानों की संख्या बहुत अधिक है। कुछ उपाख्यान ऐसे भी हैं जो दोनों महाकाव्यों में पाये जाते है। वनपर्व में पाण्डवों को धैर्य बँधाने के लिए बहुत-सी कथायें कही गई है। मुख्य-मुख्य उपाख्यान ये हैं—रामोपाख्यान, नलोपाख्यान, सावित्री-सत्यवान कथा, गंगावतरण, मत्स्योपाख्यान, उशीनर की कथा तथा शिवि की कथा आदि। इसमें समग्र श्लोकों की संख्या मोटे रूप में एक लाख है।

महाकाव्य

वस्तुतः रामायण ही महाकाव्य है। यह उस काव्यधारा का उद्गम है जो कालिदास, अश्वघोष, भारवि आदि विभिन्न स्रोतों में विभक्त होकर संस्कृत काव्यकानन को चिरकाल तक सींचती रही है। उन प्रमुख महाकाव्यों में अश्वघोषकृत सौन्दरनन्द भी एक महाकाव्य है।

सौन्दरनन्द—इसमें अठारह सर्ग हैं। इसमें नन्द और उसकी पत्नी ने बुद्ध के उपदेश से सांसारिक सुखों को त्यागकर बौद्ध धर्म की जो दीक्षा ग्रहण कर ली उसका विशद वर्णन सरल भाषा में किया गया है। इसमें भावों की कोमलता तथा वर्णन की सजीवता स्पष्ट है।

रघुवंश तथा कुमारसम्भव कालिदासविरचित महाकाव्य है।

कुमारसम्भव—कुमारसम्भव में पार्वती के विवाह, कार्तिकेय के जन्म तथा तारकासुर की पौराणिक कथा का वर्णन है। इस काव्य में सत्रह सर्ग हैं। अनेक विद्वानों का मत है कि कुमारसम्भव के आरम्भ के आठ सर्ग ही कालिदास द्वारा रचित हैं। शेष नौ सर्ग किसी अन्य कवि द्वारा रचित मिलाये गये हैं। इसमें सुन्दर भावव्यञ्जना, उदात्त एवं कोमल कल्पना तथा प्राञ्जल पदविन्यास के दर्शन होते हैं। कालिदास की सभी कृतियाँ प्रायः शृंगार-रस-प्रधान है। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि यह वासना-जन्य प्रेम के पक्षपाती थे।

ऐसे प्रेम में दुःख और क्लेश ही प्राप्त होता है। कामवासनाओं को बिना जलाये सच्चे प्रेम की उपलब्धि नहीं हो सकती। बिना तपस्या के स्नेह कभी स्थायित्व नहीं ग्रहण कर सकता। यही सच्चे प्रेम की अमर बेलि कुमार-सम्भव की अक्षय देन है।

रघुवंश—संस्कृत साहित्य मे रघुवंश एक उत्कृष्ट महाकाव्य माना जाता है। यह महाकाव्य उन्नीस सर्गो का है। इसमे दिलीप से लेकर अग्निवर्ण तक सूर्यवंशीय राजाओं का यशोगान किया गया है। प्रथम नौ सर्गो मे राम के चार पूर्वजो दिलीप, रघु, अज तथा दशरथ का वर्णन है। दस से पन्द्रह तक रामचरित्र तथा अन्तिम चार सर्गो मे राम के वंशजो का वर्णन है। इसमें कवि की परिपक्व और प्रौढ प्रतिभा का परिचय प्राप्त होता है। प्रायः सभी रसों का परिपाक रघुवंश में हुआ है। अलंकारों का प्रयोग भी भावो को अधिक रम्य बनाने के लिए हुआ है। भाषा सरल तथा सुबोध है। अपने समस्त ग्रन्थों मे रसव्यञ्जना तथा वैदर्भी रीति का उचित समन्वय करना उनकी सर्वातिशायिनी प्रतिभा के परिचायक है। उनकी लोकप्रियता का कारण है उनकी प्रसादपूर्ण शैली। इसके साथ ही कालिदास का प्रकृति-पर्यवेक्षण एवं उसका चित्रण उच्च कोटि का है। वर्ड्सवर्थ के समान उनका भी प्रकृति के साथ तादात्म्य है। वे जड पर्वतों और नदियों तक को अपनी बात सुना सकते है। उनके वृक्षों, पौधों, पक्षियों में भी मानवहृदय के भाव (हर्ष, शोक, ध्यान और चिन्ता) है। उनके इस विशिष्ट गुण का अतिक्रमण तो क्या, कोई समता भी नहीं कर सकता।

कालिदास के पश्चात् के महाकाव्य

कालिदास के पश्चात् के महाकाव्यो के कथानक प्रायः रामायण अथवा महाभारत से लिये गये है। इन महाकाव्यों की भाषा में क्लिष्टता बढ़ती गई है और शृंगारविषयक रचना की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होने लगी। सरसता और स्वाभाविकता की कमी तथा उसके स्थान पर अलंकार, श्लेषयोजना एवं शब्दविन्यास-चातुर्य्य का प्रदर्शन करना तथा व्याकरण आदि शास्त्रों के नियमों के पालन में अपनी निपुणता सिद्ध करना ही उनका मुख्य ध्येय बन गया। इन काव्यों के रचयिता प्रायः राज्याश्रित थे। अतः इनके काव्यों में राजकीय जीवन की विलासिता तथा कृत्रिमता की स्पष्ट छाप देख पड़ती है। भावप्रदर्शन का स्थान वैदग्ध्यप्रदर्शन ने ले लिया तथा कल्पना ने रस को पादाक्रान्त कर दिया। इसके साथ ही काम-शास्त्र और अलंकार-शास्त्र का पर्याप्त प्रभाव पड़ा। नायक-नायिका के आहार-विहार, हाव-भाव कटाक्ष,

भ्रू विलास आदि समस्त शृंगारिक विषय कवि के लिये कामसूत्र मे प्रस्तुत थे। अलंकार-शास्त्र के नियमों मे बद्ध कविता का प्रादुर्भाव हुआ किन्तु काव्य के प्रमुख प्रयोजन रस की अभिव्यक्ति से पृथक् हो गये। कुछ काव्य इसके अपवाद भी हैं। उनमें रस का पूर्ण परिपाक भी हुआ है, किन्तु अन्य काव्यों मे सूक्तियाँ अधिक है और काव्य कम।

किरातार्जुनीय—भारवि द्वारा विरचित महाकाव्यों की बृहत्त्रयी (किरात, माघ, नैषध) मे इसका प्रमुख स्थान है। समस्त संस्कृत साहित्य में इसके समान दूसरा ऐसा ओजपूर्ण तथा उग्र काव्य नही मिलता। इसमें अठारह सर्ग है। इसका विषय महाभारत के वन पर्व से लिया गया है। इन्द्रकील पर्वत पर तपस्या करते समय अर्जुन के साथ किरातवेषधारी शिवजी का युद्धवर्णन इसमे किया गया है। इसमें प्रधान रस वीर है जिसकी अभिव्यक्ति करने में कवि को अद्वितीय सफलता मिली है। शृंगार और अन्य रस गौण रूप से वर्णित है। कालिदास तथा अश्वघोष के काव्यो के पश्चात् यह काव्य आदरणीय स्थान पाने के सर्वथा योग्य है। इसके अर्थगांभीर्य के साथ रुचिर एवं परिष्कृत पदावली का प्रयोग मणि-कांचन-संयोग का आदर्श उपस्थित करता है।

भट्टिकाव्य (रावण-वध)—इसमें बाइस सर्ग है। इसमें रामायण की कथा सरल रूप से वर्णित है। इसके साथ ही व्याकरण के नियमों के उदाहरण भी प्रस्तुत है। इसमे शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों का प्राबल्य है किन्तु इससे रोचकता और काव्योचित मधुरता का अभाव नहीं हुआ है। इसकी गणना शास्त्रीय काव्यों में होती है।

शिशुपाल-वध—इस महाकाव्य के रचयिता माघ है। माघ की गणना बृहत्त्रयी में होती है। माघ के काव्य में २० सर्ग है। इसमें युधिष्ठिर का राजसूय यज्ञ समाप्त होने पर कृष्ण के हाथों शिशुपाल के मारे जाने का वर्णन है। भारतीय आलोचकों ने उसके काव्य में कालिदास की उपमा, भारवि का अर्थगौरव तथा दण्डी का पदलालित्य इन तीनों गुणों का एकत्र सन्निवेश बतलाया है, किन्तु यह प्रशस्ति अत्युक्तिपूर्ण है। पहिले तो माघ में मौलिकता की ही कमी है। उसके काव्य का आदर्श किरातार्जुनीय है। भाव और भाषा में भारवि की छाया स्पष्ट देख पडती है। दूसरे, उनकी कविता में प्रतिभा की अपेक्षा पाण्डित्य का प्राधान्य है। उनकी शैली प्रयासपूर्ण है, किन्तु उनका संस्कृत भाषा पर पूर्ण अधिकार है।

नैषधीय चरित—महाकाव्य की परम्परा में अन्तिम महाकाव्य नैषधीय चरित है। इसके रचयिता श्रीहर्ष हैं जो महाराज जयचन्द के आश्रम में रहते थे। इस काव्य में बाइस सर्ग हैं। इसमें नल-दमयन्ती के प्रेम और विवाह की कथा बड़ी उतम रीति से वर्णित है। उनकी कविता संस्कृत साहित्य में अनुपम वस्तु है। शब्दों के सुन्दर विन्यास में, भावों के समुचित निर्वाह में, कल्पना की ऊँची उड़ान मे तथा प्रकृति के सजीव चित्रण में यह महाकाव्य जगत् में अपना जोड़ नहीं रखता। संस्कृत साहित्य में जनवाद प्रचलित है कि **"उदिते नैषिधे काव्ये क्व माघः क्व च भारविः"**।

पाश्चात्य महाकाव्य

पाश्चात्य महाकाव्यों में इलियड और ओडिसी का नाम सर्वप्रथम आता है। ये होमर द्वारा रचित माने जाते हैं।

इलियड—इलियड में ट्राय के परिवेष्ठन की कथा का वर्णन[1] है। ग्रीक राजकुमार की पत्नी हेलेन (Helen) का ट्राय के सम्राट् प्रेयम (Pream) के पुत्र पेरिस (Paris) ने अपहरण किया और अपने नगर को ले आया। इस अनुचित व्यवहार के कारण समस्त ग्रीक एकत्र हुये और ट्राय को नष्ट करके मेनेलाज़ (Menelaus) की पत्नी हेलेन को पुनः प्राप्त कर लिया।

इलियड की कथावस्तु में मुख्य कथा अगमेम्नन (Agamemnon) और अचिलेज़ (Achilles) का आपसी द्वन्द्व है जिसकी क्रमश: वृद्धि हुई है। इसके पश्चात् ग्रीक और ट्राय के लोगों का युद्ध है। इस युद्ध में अचिलेज़ का अभिन्न मित्र पैट्रोक्लज़ (Patroclus) मारा गया और उसका बदला हेक्टर (Hector) को मारकर लिया गया। इसके पश्चात् पेरिस (Paris) ने अचिलेज़ (Achilles) को मार डाला। तदुपरान्त ओडिसस की बुद्धिमत्ता द्वारा ग्रीक निवासियों ने ट्राय पर विजय प्राप्त की और अपहरण की हुई हेलेन को पुनः प्राप्त कर घर लौटे।

ओडिसी—ओडिसी (Odyssey) में ओडीसस की कथाओं का वर्णन है। जब ग्रीक लोग ट्राय को विजय करके अपने नगरों को लौटे उस समय ओडीसस (जो दस वर्ष ट्राय के परिवेष्ठन तक वहीं रहा उसके पश्चात्) लौटते समय दस वर्ष और भटकता रहा। इस अन्तर्कालीन समय में उसके साहसिक कार्यों एवं गृह के परिवर्तनों का विशद वर्णन है।

---

(1) World Literature, Pages 124—30 and 134—47,

ओडिसी की कथावस्तु में मुख्य कहानी ओडीसस और उसके भ्रमण की कथा है। उसके साहसिक कार्यो मे नौ अन्तर्कथायें सम्मिलित हैं। प्रथम मे देवताओं की विचारसभा, द्वितीय मे ओडीसस की अनुपस्थिति में उसके गृह की दशा, तृतीय में टेलीमेकस के पिता की खोज का वर्णन, चतुर्थ में कलिप्सो द्वीप का वर्णन और पंचम में फेसियन का अद्भुत नगर और वीरों की कहानियाँ है। इसी के अर्न्तगत नौ अद्भुत घटनायों का भी समावेश है। षष्ट में यूमियस (Eumaeus) की कुटी का वर्णन, सप्तम में ओडीसस भ्रमण करते हुए एक भिक्षुक के रूप में, अष्टम में आपदायें और उन पर विजय तथा नवम में कथाओं का उपसंहार है।

ट्राय का युद्ध अति प्राचीन है। उसकी विजय के पश्चात् जब ओडीसस गृह को लौटता है तो मार्ग में उसका जहाज नष्ट होता है और वह प्रतिकूल परिस्थितियों में पड़कर पृथ्वी के दूसरे छोर तक पहुँचता है, किन्तु उसकी दृढ़ता और चातुर्य्य उसे घर लौटा लाती है। इस महाकाव्य के पूर्वार्ध में "गौड पोसीडन" (God Poscidon) का आधिपत्य है और उत्तरार्ध में "अथीन की देवी" (Goddess Athene) का आधिपत्य है। पूर्वार्ध में पोसीडन ने इतनी शत्रुता प्रदर्शित की कि उसने ओडीसस के जलयान को उलट दिया जिससे कि वे वहाँ से लौट न सके। प्रमुख कथा में उसकी गृहकथा भी आती है जिसमें नायक के गार्हस्थ्य जीवन पर पूर्ण प्रकाश डाला गया है। उसमें छः व्यक्ति तो उसके शुभचिन्तक एवं आज्ञाकारी बने रहे जिसमें उसकी पत्नी पेनेलोप (penelope), पुत्र, दाई, सुअरों की रक्षा करने वाला और गाय-बैलों का रक्षक सम्मिलित है, और तीन व्यक्ति उसके अशुभचिन्तक एवं शत्रु सिद्ध हुये। एक तो गडरिया मेलेन्थो (melantho), दूसरे कुमारियाँ एवं नौकरानियाँ तथा उनके चाहने वाले व्यक्ति। ओडिसी की गौण कथाओं में ओडीसस के एतिहासिक कार्य है, जिनमें भिक्षुक ऐजेक्स (Ajax), काठ का घोड़ा, सुअर के घाव का चिन्ह, उसका धनुष एवं उसके वैवाहिक बिस्तर आदि की कथाओं का वर्णन है। इसके साथ ही तीन समानान्तर कथायें भी सम्मिलित है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि ओडिसी का कथानक इलियड की कथाओं पर आश्रित है। इलियड महाकाव्य की ही विचारधारा ने पाश्चात्य महाकाव्यों को अनुप्राणित किया है। हम कह सकते हैं कि इलियड के कारण ओडिसी का अस्तित्व है और उसी के आधार पर रोमवासी कवि वर्जिल द्वारा

इनियड (Aeneid) की रचना हुई। उसके पश्चात् अन्य महाकाव्यों का निर्माण उन्हीं के आधार पर हुआ।

प्रामाणिक महाकाव्य (Authentic Epic) में वियोउल्फ (Beowulf) का नाम लिया जाता है।

वियोउल्फ—यद्यपि यह उत्तम महाकाव्य नहीं है और न इसमें उत्तम काव्य के दर्शन होते है, किन्तु ऐतिहासिक स्वरूप संरक्षित है। इसमें प्राचीन काल के अन्धयुग के कुछ धुँधले ऐतिहासिक चित्र मिलते हैं। इसमें जातीय जीवन की प्रारम्भिक शक्ति निहित है। इसमें वही जीवन है जिसका होमर ने इलियड में वर्णन किया है। यद्यपि इन दोनों के समय में पर्याप्त अन्तर है, फिर भी दोनों में अधिक समानता है।

भारतीय महाकाव्य और प्राचीन पाश्चात्य महाकाव्य—एक तुलनात्मक दृष्टि

आदर्शों में साम्य और अन्तर

भारतीयों का आदि महाकाव्य रामायण है और पाश्चात्य महाकाव्यों में होमर द्वारा रचित इलियड और ओडिसी हैं। यद्यपि रामायण आदि महाकाव्य है और ओडिसी उसके पश्चात् की रचना है, फिर भी कुछ बातों की समानता इन काव्यों में अवश्य है।

समानतायें:—

(१) रामायण का प्रचार गाकर हुआ। इलियड और ओडिसी का भी प्रचार गाकर हुआ।

(२) रामायण में सीता जी का अपहरण रावण द्वारा हुआ और रामचन्द्र जी ने दक्षिणवासियों की सहायता से रावण को नष्ट कर सीता जी को बन्धनमुक्त किया। इलियड में मेनेलाज की पत्नी हेलेन का अपहरण ट्राय राजकुमार पेरिस द्वारा किया गया और समस्त ग्रीक राजकुमारों ने ट्राय पर आक्रमण करके हेलेन को पुनः प्राप्त किया। कहा जाता है कि संसार की परम सुन्दरियों में उसका प्रथम स्थान था। यही बात सीता जी के लिये भी कही जाती है।

(३) रामायण और महाभारत में स्वयम्वर द्वारा विवाह सम्पन्न होता है, धनुष का प्रदर्शन दोनों में होता है। ओडिसी में भी धनुष के झुकाये

जाने की एक शर्त थी, जिसके द्वारा पेनीलोप ('penelope) प्राप्त की जा सकती थी।

(४) रामायण और महाभारत के नायकों का बनवास होता है और सीता और द्रौपदी का अपहरण भी होता है। इलियड और ओडिसी में भी लगभग इसी प्रकार की घटनाओं का समावेश होता है। हम देखते हैं कि इलियड में जब सम्राट् मेनेलाज़ (menelaus) अपने निकट के द्वीप में कार्यवश गया था तब उसकी पत्नी हेलेन का अपहरण किया गया और इसी प्रकार जब ओडीसस अपने गृह में नहीं था तो पेनीलोप के चाहने वालों ने उस पर अपना आधिपत्य करना चाहा।

(५) रामायण और महाभारत में ब्रह्मा, विष्णु, महेश तथा इन्द्र जैसे देवता कुटुम्बीजन बन जाते हैं। वे स्वर्ग में रहते हैं, सुन्दर भवनों के स्वामी हैं और मनुष्यों की तरह व्यवहार करते हैं। वे इन लोगों को समय पर सहायता भी प्रदान करते हैं। इसी प्रकार से इलियड में भी मिनरवा (minerva) (बुद्धि की देवी), जूनो (juno) (शक्ति की अधिष्ठात्री) और वेनस (venus) (प्रेम की देवी) थीं, जिन्होंने किसी न किसी ओर सहायता प्रदान की।

(६) रामायण और महाभारत के पात्रों की मृत्यु होने पर वे चिता पर रखकर भस्म कर दिये जाते हैं। यही क्रिया होमर के नायक की मृत्यु पर होती है। किन्तु अन्त में उसकी अस्थि एवं भस्म पर स्मारकचिह्न बना दिया जाता है।

(७) रामायण और महाभारत में युद्ध के अवसर पर धनुष-बाणों का प्रयोग होता है। वही होमर में दृष्टिगोचर होता है।

(८) अयोध्या का प्रासाद, वैभव, लंका का निर्माण एवं युधिष्ठिर के मयदानव द्वारा विरचित प्रासाद में सुन्दर कलाओं का समावेश मिलता है। होमर में भी प्रेयम का प्रासाद पत्थरों से निर्मित था। ओडिसी में मेनेलाज़ का समस्त प्रासाद काँसा, सोना, चाँदी, अम्बर तथा हाथी दाँत की चमक से प्रतिफलित था। यही नहीं, प्रासाद के फाटक पर सोने और चाँदी के भयंकर कुत्ते स्थापित थे जिनको हेफेस्टस (Hephaestus) ने चतुरतापूर्वक बनाया था[1]।

---

1. Butcher and Lang odyssey books IV and VII

विषमतायें:—

इन उपर्युक्त समानताओं के होते हुये भी उनमें विशेषतायें भी अधिक हैं, जो निम्नलिखित हैं—

(१) दोनों महाकाव्यों के कलेवर में भिन्नता है। इलियड और ओडिसी दोनों मिलाकर रामायण के अर्द्ध भाग के आकार के होंगे, किन्तु महाभारत तो दोनों का सातगुना होगा।

(२) रामायण आदर्श की दृष्टि से धर्म का प्रतिपादन करती है। उसमें भावुकता, सरसता एवं संयम का साम्राज्य है। रामायण और महाभारत में वीरत्व का आदर्श मनुष्यता का उन्नायक है। दोनों में अनीति का दमन, नीति का उन्नयन एवं बर्बरता का विरोध स्पष्ट परिलक्षित होता है, किन्तु इलियड और ओडिसी में दर्प, उग्रता और क्रूरता के दर्शन होते हैं। बर्बरता तो पराकाष्ठा पर पहुँच गई है क्योंकि हम देखते हैं कि हेक्टर के स्वर्गस्थ होने के पश्चात् उसका शव रथ में बाँधकर घसीटा जाता है।

(३) रामायण की प्रजा राजकार्य में अधिक सहयोग देती है, अन्याय का विरोध करने में नहीं हिचकती। सीता जी को तपस्विनी वस्त्र दिये जाने पर प्रजा चिल्ला उठती है "धिक् त्वां दशरथम्", किन्तु इलियड और ओडिसी में प्रजा के सहयोग का अभाव है।

(४) वैवाहिक जीवन की दृष्टि से भी दोनों संस्कृतियों में भेद है। इलियड की नायिका हेलेन अपने पति के गृह से पेरिस के साथ भाग जाती है और फिर पेरिस को त्याग देने और उसके नगर को नष्ट करने में भी सहायक होती है। उसके प्रतिकूल सीता स्वप्न में भी रावण को वरण करने की बात को नहीं सोचती है। यद्यपि सीता राक्षसिनियों द्वारा घिरी हुई अशोकवाटिका में बन्दिनी है, फिर भी रावण के प्रणय का निर्भयता से तिरस्कार करती है।

(५) नैतिक नियमों में भी पर्याप्त समानता है। सीता बलात् अपहृत की जाती है, किन्तु हनुमान द्वारा राम के पास इसलिये नहीं जाना चाहती क्योंकि परपुरुष के स्पर्श का भय है। सीता को अपनी शुद्धता प्रकट करने के लिये अग्नि-परीक्षा देनी होती है, किन्तु हेलेन का अपहरण क्यों कहा जाये। वह तो स्वेच्छा से ही पेरिस के साथ गई थी और लौटने पर भी उसे अपनी शुद्धता प्रकट करने की कोई आवश्यकता नहीं थी।

(६) हमारे यहाँ देवताओं से युद्ध नही है वरन् राक्षसों से है। देवता राम के सहायक होते है क्योंकि राम स्वयं देवताओं के लिये ही राक्षसों का नाश करते है। इलियड और ओडिसी में यह भावना नही है। ओडिसी में हम देखते है कि जब ओडीसस गृह को लौटना चाहता है तो 'पोसीडन' ने उसके साथ कितनी शत्रुता प्रदर्शित की, यहाँ तक कि उसके जलयान को ही उलट दिया कि जिससे वह अपने घर न जा सके।

(७) इलियड और ओडिसी में वर्णित सभ्यता अशान्तिमय एवम् अव्यवस्थित है, किन्तु रामायण की सभ्यता अधिक शिष्ट एवं सुसंस्कृत है।

(८) पाश्चात्य विकासवाद के सिद्धांत को मानते है किन्तु भारतीय दृष्टिकोण इसके विपरीत है। सतयुग, त्रेता, द्वापर तथा कलियुग का क्रम मनुष्य की उत्तरोत्तर ह्रासोन्मुखी प्रकृति का परिचायक है। रामायण सतयुग की झांकी दिखाता है तो इलियड और ओडिसी संहारकारी युद्ध और संघर्ष की कहानी कहते है। पाश्चात्य मनोवृत्ति में संघर्ष अधिक है क्योंकि वहाँ पर तो भौतिकवाद ने द्वन्द्व फैला रक्खा है, जो हटाये नहीं हटता। दिव्य भावना के दर्शन तो वहाँ दुर्लभ ही है। हमारे यहाँ यदि संघर्ष है भी, तो दानवों के साथ है। सज्जनों अथवा देवताओं के साथ नहीं।

हिन्दी जगत् में महाकाव्यों की परम्परा

हिन्दी साहित्य का इतिहास चार युगों में विभक्त किया गया है:—

(१) आदि युग [वीरगाथा अथवा चारण युग] सम्वत् १०५० से १३७५ तक।

(२) पूर्व मध्य युग [भक्ति युग] जिसमें निर्गुण और सगुण दोनों ही सम्मिलित है। सम्वत् १३७६ से सं० १७०० तक।

(३) उत्तर मध्य युग (रीति युग) जिसका समय १७०० से सं० १९०० तक है।

(४) आधुनिक युग तीन श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है:—

(अ) भारतेन्दु काल,

(ब) द्विवेदी काल,

(स) स्वातंत्र्य काल (प्रसुमन काल) जिसमें छन्द के बन्धन टूट गये और नवीनतम मार्ग का अनुसरण किया गया।

आदि युग में भारत की दशा एवं उसका प्रबन्ध-काव्य-रचना पर प्रभाव

प्रारम्भ में भारतीयों का विस्तृत साम्राज्य था। शनैः शनैः वह अगणित राज्यों में विभाजित हो गया। विदेशियों के आक्रमण होने लगे थे। इस समय पौराणिक देवी-देवताओं का विशेष प्रचार हो चला था। शैव और वैष्णव दोनों धर्मों का प्राबल्य था। सामाजिक दशा में भी परिवर्तन हो चला था। "उपजातियाँ भी बनने लगी थीं। पहले शूद्र वर्ग भी अस्पृश्य नहीं था परन्तु धीरे धीरे बहुत से काम तुच्छ और हीन समझे जाने लगे[1] "। रक्षक-वर्ग, विशेषकर क्षत्रियों की, प्रतिष्ठा बढ़ गई थी क्योंकि वे युद्ध में प्रमुख भाग लेते थे। मुसलमानों के प्रवेश से विद्वेष भावना का उदय हो रहा था। अभी संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश भाषायें साहित्य के लिये प्रयुक्त हो रही थीं किन्तु अब अपभ्रंश से मिलता हुआ स्वरूप प्रयोग में आने लगा था तथा उसका प्रचार (हिन्दी स्वरूप) हो रहा था।

इस समय मौलिक रचनाओं का अभाव था। कवि लोग राजाश्रित थे जो अधिकांशतः चारण थे। इनका दृष्टिकोण संकुचित एवं सीमित था। ये लोग अपने आश्रयदाताओं के गुणों का गान करते थे। राजा लोग आपस में लड़ा करते थे। ये पारस्परिक युद्ध विलासिता के कारण किसी कुमारी को हस्तगत करने के लिए अथवा कुलाभिमान के कारण होते थे। देशरक्षा की भावना विनष्ट हो चुकी थी।

महाकाव्यों का निर्माण संघर्षकाल में हुआ करता है। यह समय भी संघर्ष का था। क्या राजनीति, क्या समाजनीति, क्या धर्मनीति प्रत्येक दिशा में संघर्ष चल रहा था। अतएव यह प्रबन्ध काव्यों के निर्माण के लिये उचित अवसर था क्योंकि उनके विषय और उपादान--युद्ध और प्रेम--अनायास ही प्राप्त थे। दूसरे, चारण लोगों को युद्ध का प्रत्यक्ष अनुभव था क्योंकि वे स्वयं युद्धक्षेत्र में सम्मिलित होते थे और अपने प्रबन्ध काव्यों में उसका वर्णन करने में सफल होते थे। उन प्रबन्ध काव्यों में चन्दवरदायीकृत पृथ्वीराज-रासो का प्रमुख स्थान है।

पृथ्वीराजरासो—यद्यपि पृथ्वीराजरासो की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में विद्वानों में घोर मतभेद है, तथापि उसको हिन्दी साहित्य के प्रथम महाकाव्य होने का श्रेय दिया जाता है। यह चन्दकृत ढाई हज़ार पृष्ठों का विशालकाय

१. हिन्दी साहित्य—एक अध्ययन, पृष्ठ (१३)।

ग्रन्थ है जिसमें उनहत्तर समय (सर्ग या अध्याय) है। इसमें पृथ्वीराज की गाथा वर्णित है। इसमें केवल युद्धवर्णन ही नहीं है बल्कि श्रृङ्गार का भी उत्तम वर्णन हुआ है। देवताओं की स्तुति और भक्ति-मुक्ति का वर्णन इसका सांस्कृतिक पक्ष है। इसमें आबू के यज्ञकुण्ड से चार क्षत्रियकुलों की उत्पत्ति तथा अन्य छत्तीस वंशों की कथायें एवं पृथ्वीराज चौहान के अजमेर तथा राजस्थान से लेकर पृथ्वीराज के पकड़े जाने तक का सविस्तार वर्णन है।

इसकी भाषा अस्त-व्यस्त है। इसमें व्याकरण आदि की कोई व्यवस्था नहीं है। दोहों और कुछ छप्पयों की भाषा तो ठिकाने की है पर त्रोटक आदि छोटे छोटे छन्दों में अनुस्वारान्त शब्दों की भरमार है। कहीं कहीं पर तो भाषा आधुनिक ढाँचे पर दिखलाई देती है और कहीं पर भाषा अपने असली प्राचीन रूप में मिलती है। भाषा की प्राचीनता और नवीनता के द्योतक उद्धरण दिये जाते हैं जिससे भाषा का कुछ आभास मिल सके।

प्राचीनता के द्योतकः—

उदि चल्यो अप्प कासी सभग्ग।
आयो सुगंग तट कज्ज जग्ग॥
छपी सेन सुरतान मुट्टि छुट्टिय चावद्दिसि।
मनु कपाट उग्घर्यो, कढ्ढू फुट्टिय दिसि विद्दिसि॥

इसमें कज्ज, जग्ग, छुट्टिय और फुट्टिय प्राचीनता के द्योतक हैं।

नवीनता के द्योतकः—

पूरन सकल विलास रस सरस पुत्र फलदान,
अन्त होय सहगामिनी नेह नारि को मान।
समदर्शी ते निकट है भगति मुकति भरपूर,
विषम दरस वा नरन ते सदा सर्वदा दूर।

चन्द ने स्वयं स्वीकार किया है कि उसकी भाषा में कई भाषाओं का मिश्रण है—"षटभाषा कुरानंच पुरानंच कथितं मया"। स्वर्गीय डाक्टर श्यामसुन्दर दास ने इसे पिंगल कहा है।

इसकी भाषा के कई स्तर होने के कारण विद्वानों का मत है कि मूल ग्रन्थ छोटा रहा होगा क्योंकि चन्द ने तो इसे पूरा नहीं किया था। इसका भार उसके पुत्र जल्हन पर था जिसने कालान्तर में वृहद् रूप धारण कर लिया। पृथ्वीराजरासो को ऐतिहासिकता के विवाद से पृथक् रखकर यदि विचार किया जावे तो उसमें तत्कालीन भावनाओं और जातीय आदर्शों का अच्छा परिचय मिलता है।

इस महाकाव्य का मूल भाग अपभ्रंश की निकट की भाषा में लिखा गया था। इसमें रसपरिपाक और विचारों की उदात्तता एवं वर्णनों की विशदता और सुन्दरता पर्याप्त है। यद्यपि खुमानरासो और बीसलदेवरासो दो और प्रबन्ध काव्य हैं किन्तु उनमें साहित्यिक मूल्य बहुत ही कम है और उनकी भाषा अत्यन्त अस्त-व्यस्त है।

भक्तियुग में प्रेमाश्रयी शाखा में सबसे प्रसिद्ध कवि जायसी द्वारा पदमावत एक उत्तम महाकाव्य प्राप्त हुआ।

पदमावत—यह एक प्रेम-आख्यान है। यद्यपि इसकी कथावस्तु ऐतिहासिक है किन्तु लोककथाओं का अधिक सम्मिश्रण है। पूर्वार्द्ध तो बिल्कुल ही कल्पित है जिसमें हीरामन तोते द्वारा पद्मावती के रूप की प्रशंसा सुनकर रत्नसेन का सिंहल जाना एवम् उसको प्राप्त करके घर लाना वर्णित है। उत्तरार्द्ध में ऐतिहासिकता है किन्तु कवि-कल्पना का भी आधिक्य है। इस काव्य की रचना पर हिन्दू और मुसलमान दोनों साहित्यधाराओं का प्रभाव पड़ा है। काव्य का विषय प्रेम है। उसकी रचना मसनवी ढंग पर हुई है। प्रारम्भ में ईश्वरस्तुति, मुहम्मदस्तुति, सुल्तानस्तुति तथा आत्म-परिचय हैं। तत्पश्चात् कथाभाग है। इसकी शैली दोहा-चौपाइयों की है। इसमें अर्धालियों का प्रयोग हुआ है। सात अर्धालियों के पश्चात् दोहा लिखा है। इसको महाकाव्य के ढंग पर लिखने का प्रयास किया गया है जिसमें प्रकृतिवर्णन, युद्ध, विवाहवर्णन आदि का वर्णन प्राप्त होता है। इसमें रूपक के द्वारा आध्यात्मिक प्रेमपक्ष की व्यञ्जना है। इसमें आधिकारिक और प्रासंगिक दोनों ही प्रकार की कथायें बड़े सुन्दर ढंग से गुम्फित हैं :—

इस काव्य में संयोग और वियोग दोनों पक्षों का सुन्दर परिपाक हुआ है किन्तु नागमती का विरहवर्णन बड़ा ही मार्मिक है। उसमें कल्पना की ऊँची उड़ान है एवं कहीं-कहीं पर ऊहात्मक वर्णन भी मिलता है। नागमती अपने पति से मिलने के लिये कैसी उत्तम इच्छा प्रकट करती है—

यह तन जारौं छार कै, कहौं कि पवन उड़ाय।
मकु तेहि मारग उड़ि परै, कन्त धरै जहँ पाय॥

कहने का तात्पर्य यह है कि पदमावत में विप्रलम्भ शृंगार प्रधान है। जायसी ने इस काव्य के अन्त में रूपक बाँधने के लिये एक पद्य दिया है—

तन चितउर मन राजा कीन्हा। हिय सिंहल बुधि पद्मिनि चीन्हा॥
गुरू सुवा जेइँ पंथ दिखावा। बिनु गुरु जगत को निर्गुन पावा॥
नागमती यह दुनियाँ धन्धा। बांचा सोइ न एहि चित बन्धा॥
राघव दूत सोइ सैतानू। माया अलाउदीं सुल्तानू॥

यद्यपि रूपक कई स्थलों पर वास्तविकता से पृथक् हो गया है जैसे नागमती को दुनियाँ धन्धा कहा है और अलाउद्दीन को भी वही माया बतलाया गया है। भारतीय ललना नागमती को, जो अपना सर्वस्व अर्पण करने के लिये प्रस्तुत है, माया कहना उचित नहीं है, फिर भी रूपक का निर्वाह हो गया है। यह अवधी भाषा में लिखा गया है। इसकी भाषा बोलचाल की है।

भक्ति युग

भक्ति युग निर्गुण और सगुण शाखाओं में विभक्त हुआ। सगुण शाखा के दो स्वरूप हुए—कृष्णाश्रयी तथा रामाश्रयी।

शक्ति, शील और सौन्दर्य लोकपक्ष के तीन अवयव होते है। कृष्णाश्रयी शाखा के कवियों ने कृष्ण के सौन्दर्य को ही अपनाया। इसी पक्ष को उन्होंने काव्य में स्थान दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि वे लोग माधुर्य-पक्ष से ओत-प्रोत मुक्तक रचना ही लिख सके। यदि वे चाहते तो श्रीकृष्ण के लोक-पक्ष को, जो शक्ति, शील और सौन्दर्य से ओत-प्रोत एवं अति पुष्ट और उदात्त था तथा महाकाव्य के लिये उपयुक्त भी था, ग्रहण कर सकते थे, किन्तु ऐसा नही किया गया। उन्होने उनके आकर्षक स्वरूप को ही स्वीकार किया। इस प्रकार सूर, नन्ददास आदि अष्टछाप के कवि मुक्तक रचना करने में ही समर्थ हो सके, कोई महाकाव्य न प्रदान कर सके।

रामचरितमानस—रामकाव्य के नायक राम के जीवन में इतनी विविधता है कि वह महाकाव्य का विषय बन सकती है। तुलसीदास जी ने मानस में भक्तिभावना से प्रेरित होकर आदर्श कुटुम्ब, आदर्श समाज और आदर्श राज्य के सुन्दर चित्र खीचे है। यह सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य है। इसकी भाषा अवधी है। इसमें क्या भाषा, क्या शैली, क्या धर्म, क्या सामान्य व्यवहार सबमें समन्वय की प्रवृत्ति देखी जाती है। काव्य में सबसे बड़ी विशेषता मार्मिक स्थलों की पहिचान, छन्दों की विभिन्नता और प्रसंगानुकूल उनका चुनाव, रस का सुन्दर निर्वाह एवं प्रसंगानुकूल भाषा है। मानस में तुलसीदास ने मर्यादा की प्रतिष्ठा का अतिक्रमण कहीं नहीं होने दिया। शृंगार के अवसरों पर उन्होंने बड़ी सतर्कता से कार्य किया है। रामचन्द्र जी जनक जी की वाटिका में पुष्पचयन करने के लिये जाते है, उसी अवसर पर सीता जी गौरीपूजन के लिये उपस्थित होती हैं। राम को सीता के आगमन की सूचना—"**कंकन किंकन नूपुर धुनि सुनि**" से होती है। वे सीता की ओर आकृष्ट होते है और उसकी छवि देखने लगते हैं तथा लक्ष्मण से कहते हैं कि—

तात जनक तनया यह सोई । धनुष यज्ञ जेहि कारण होई ॥
पूजन गौरि सखी लै आईं । करत प्रकाश फिरहि फुलवाईं ॥
जासु विलोकि अलौकिक शोभा । सहज पुनीत मोर मन छोभा ॥
सो सब कारन जान विधाता । फरकहिं सुभग अंग सुनु भ्राता ॥
रघुवंशिन कर सहज सुभाऊ । मन कुपन्थ पग धरहि न काऊ ॥

सम्पूर्ण वातावरण को मर्यादा के साथ रख दिया गया है ।

कहने का तात्पर्य यह है कि यह महाकाव्य सब प्रकार से अनुपम है। इसकी सरलता प्रत्येक व्यक्ति को अपनी ओर आकर्षित कर लेती है । यहाँ तक कि अपढ व्यक्ति भी इसकी कविता का रसास्वादन कर लेता है और इसकी गम्भीरता विद्वानों को भी चकित कर देती है ।

यद्यपि इसके पूर्व जायसी ने अवधी भाषा में प्रबन्ध काव्य अवश्य लिखा और उसमें प्रेमवृत्ति का सुन्दर निरूपण किया पर मानस जैसी भावों की गहराई तथा विशदता उनकी रचना में अवगाहन करने पर भी नहीं प्राप्त होती । अत: मानस को हिन्दी काव्य का सर्वोत्कृष्ट महाकाव्य मानना उचित ही है ।

रामचन्द्रिका—यद्यपि यह प्रबन्ध काव्य के रूप में लिखी गई है तथापि उसमें मुक्तक की सी स्फुटता विद्यमान है । केशव प्रबन्ध-काव्य-रचना के उपयुक्त न थे । वे परम्परा से चले आते हुए कुछ नियत विषयों के फुटकल वर्णन (युद्ध, सेना की तैयारी, उपवन, राजदरबार के ठाठ-बाट, शृंगार और वीर रस के वर्णन) ही अलंकारों की भरमार के साथ करना जानते थे । उन्हें उचित और अनुचित की भी चिन्ता नहीं थी । जैसे भरत के चित्रकूट यात्रा के प्रसंग में सेना की तैयारी और तड़क-भड़क का वर्णन । पात्र का बिना विचार किये उपदेशों का समावेश अत्यन्त अनुचित और भद्दे रूप में किया गया है, जैसे बन जाते समय राम का अपनी माता कौशल्या को पातिव्रत धर्म का उपदेश, जो सर्वथा अनुचित स्थल है । केशव की आलंकारिक चमत्कार की प्रवृत्ति ने न भावों की प्रकृति व्यंजना के लिए स्थान दिया और न हृदयग्राही वर्णन के लिये। स्थल-स्थल पर काव्य-दोष दृष्टिगोचर होते हैं । यदि केशव को सफलता मिली है तो केवल सम्वादों में । इन सम्वादों में पात्रों के अनुसार क्रोध, उत्साह आदि की भी व्यंजना सुन्दर हुई है तथा वाक्पटुता एवं राजनीति के दांव-पेच का आभास भी प्रभावपूर्ण है । उनका रावण-अंगद-सम्वाद तुलसी के सम्वाद से कहीं सुन्दर बन पड़ा है ।

इसके पश्चात् अन्य महाकाव्य नहीं बन सके । इसका कारण है कि जीवन की सहज प्रेरणा, स्थानविशेष में सीमित नहीं । फ्रायड ने इसे कामप्रवृत्ति

लिविडो (Libido) कहा है। जंग (Jung) जिसे सेल्फ (Self) कहता है वह कामप्रवृत्ति (लिविडो) किसी कालविशेष में देशविशेष को ही नही प्रभावित करता, वरन् समस्त मानवता को समान रूप में प्रभावित करता है, विशेषतया मानव की उस स्थिति में जब कि उसे भोजन-वस्त्र की चिन्ताओं से मुक्ति मिल जाये। यह प्रेरणा फ्रायड के अनुसार यौन होती है। यौन वासनायें बहिर्मुख होने की अपेक्षा अन्तर्मुख अधिक होती हैं। अतएव जिस समय माइण्ड अनकान्शस—अन्तर्चेतना (Unconscious mind) में यौनवासना बलवती होती है, उस समय देश के देश गीतकाव्य की ओर प्रवृत्त हो जाते है।

पारसी साहित्यिक जिस समय गजलगोसी में अपना विनोद कर रहे थे, पश्चिमीय देशों के कवि जिस समय गीति (Lyric) लिख रहे थे, भारतवर्ष में वही काल भक्ति युग के पश्चात् उपस्थित हो गया। अतः अन्तर्चेतना (Unconscious mind) में उपस्थित लिविडो यौनवासना को प्रेरित कर रहा था। मनुष्य मनोविज्ञान का अपवाद नहीं है, भारतवर्ष का साहित्यिक इसका अपवाद नही है। अतएव यह काल प्रबन्ध काव्य के अनुकूल नहीं रहा। मुक्तक छन्दों में कामप्रवृत्ति (Libido—लिविडो) के बीज गाकर भारतवर्ष का कवि अपनी अनुभूतियाँ व्यक्त कर रहा था और इसीलिये भक्तिकाल के उपरान्त प्रबन्ध काव्य या नाटक नही लिखे जा सके।

रीतिकाल की प्रवृत्ति एवं उसका महाकाव्य पर प्रभाव

भक्तिकाल जनता की प्रवृत्ति का प्रवाह था और समय की माँग। वह स्वतः प्रकाश में आया था। उसमें न तो राजाश्रय का प्रलोभन था और न राजशक्ति का भय। सूर, तुलसी भक्तकवीश्वरों ने इसे जीवनदान दिया था। उस समय अकबर की सहायता एवं सहृदयता से कला के क्षेत्र में फिर से उत्साह का संचार हुआ और हिन्दी काव्य पूर्ण प्रौढ़ हो गया। इसके पश्चात् कविता में परिवर्तन होने लगा। वह जनता की वस्तु न रहकर राजाश्रय मे पहुँच गई। राजाओं को प्रसन्न करने के लिये कवि लोग नख-शिख-वर्णन, नायिका के भेद-प्रभेद तथा षट्ऋतु-वर्णन में ही लीन रहे। कवियों ने लक्षणग्रन्थ लिखने प्रारम्भ कर दिये थे और शृंगारी कवितायें करके वाहवाही लूटना चाहते थे क्योंकि राजाओं के समान वे स्वयं विलासी बन गये थे। इसलिये कोई कवि प्रबन्ध काव्य न लिख सका। यद्यपि भूषण वीर रस के कवि थे

और प्रबन्ध काव्य लिखने की क्षमता भी रखते थे फिर भी वे समय के प्रवाह में बह गये और मुक्तक काव्य तक ही सीमित रहे।

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे कृष्ण-काव्य और राम-काव्य पर रुक्मिणी-परिणय और राम-स्वयम्वर महाराज रघुवीरसिंह द्वारा लिखे गये। रुक्मिणी-परिणय महाकाव्य है। इसका कथानक भागवत पुराण से लिया गया है। इसमें कृष्णजन्म से लेकर रुक्मिणी-विवाह तक की कथा का वर्णन है। इसमें कृष्ण का शृंगारिक वर्णन कवित्त, सवैया, झूलना तथा घनाक्षरी आदि छन्दों में कहा गया है। रौद्र और भयानक के साथ शृंगार, शान्त और वीर रसों का अच्छा परिपाक हुआ है। नायक धीरोदात्त है। प्रकृतिवर्णन भी अच्छे मिलते है।

राम-स्वयम्वर वर्णनात्मक प्रबन्ध काव्य बहुत ही प्रसिद्ध है। इसकी रचना तुलसीकृत रामायण के समान है। उसके अधिकाश भाग में राम और उनके भाइयों का विवाह-वर्णन है। रसों में शृंगार और वीर रस प्रधान है। इस ग्रन्थ में चौबोला छंद का आधिक्य है। इसमें भी कवि रुक्मिणी-परिणय की तरह षट्ऋतु और नख-शिख आदि विषय नहीं भूला है। इसमें राम का बाल-वर्णन, जनक-वाटिका, हनुमान का समुद्र लाँघना, लंका-दहन, मृगया आदि के अति सुन्दर और मार्मिक वर्णन हुए है। वर्णनों मे उन्होने वस्तुओं की गिनती (वस्त्र, भोजन, अस्त्र-शस्त्र, घोड़े, हथियारों के भेद आदि) गिनाने वाली प्रणाली का खूब अवलम्बन किया है जो कि सुन्दर कृतियों के लिये अवांछनीय है।

चतुर्थ अध्याय

आधुनिक महाकाव्यों का इतिहास तथा उनका क्रमिक विकास

महाकाव्य की रचना प्रायः युद्धकाल अथवा परिवर्तनकाल मे अत्यधिक हुआ करती है। इसके दो मूल कारण होते हैं। प्रथम तो युद्ध के अवसर पर प्रत्येक व्यक्ति को, विशेषकर कवि को, सेनाओं के आवागमन, उनकी प्रगति, उनकी जय अथवा पराजय, उनकी सचालन-विधि, नीतिविशारदों की कूटनीति आदि बातों का सम्यक् ज्ञान प्राप्त होता है। इस प्रकार के अनुभव उन्हें दूसरे अवसरों पर किसी प्रकार भी प्राप्त नहीं हो सकते। महाकाव्य के रचयिताओं के लिये तो यह स्वर्ण अवसर ही होता है। परिवर्तनकाल मे अथवा संघर्ष-काल में चाहे वह राजनीतिक हो अथवा सामाजिक, धार्मिक हो अथवा साहित्यिक प्राचीन रूढ़ियों को अपदस्थ करने के लिए नवीन प्रेरणा, नवीन स्फूर्ति एवं नवीन साहित्य की आवश्यकता होती है। वे प्राचीनता के दोषों से भली प्रकार अवगत होते हैं। अतः वे उनको निर्मूल करने एवम् उनके स्थान पर नवीन विचार तथा उपादान एकत्र करने के लिए प्रयत्नशील होते हैं। यह समय प्रबन्ध काव्य के लिए उपयक्त होता है। दूसरे, महाकाव्य का सृजन वस्तुतः तभी सम्भव हो सकता है जबकि कवि मे अपने व्यक्तित्व को मिटाकर अपने आराध्य देव या महापुरुष में समर्पित कर देने की प्रबल इच्छा हो। इसके साथ ही कवि मे नवोत्थान ज्ञान के लिए प्रेम, सौन्दर्य की पूजा और अपने प्राचीन के प्रति सदभावना का होना आवश्यक होता है। इसके कारण काव्यधारा में प्रगति रहती है और अटूट शृंखला बनी रहती है।

उपर्युक्त आधार पर यहाँ महाकाव्यों पर थोड़ा विवेचन कर लेना अनुचित न होगा। हमारा हिन्दी-साहित्य-युग दसवीं शताब्दी से प्रारम्भ होता है। जैसा कि पीछे कहा जा चुका है कि चारण काल राजनीतिक, साँस्कृतिक एवं साहित्यिक हलचल का युग था। उस समय यवनों के आक्रमण भारतवर्ष पर हो रहे थे। आन्तरिक स्थिति में भी अशान्ति थी क्योंकि राजा लोग मानाप-मान के कारण आपस में गृहयुद्ध किया करते थे।

साहित्यिक क्षेत्र में भी संघर्ष चल रहा था। उस समय संस्कृत-साहित्य का प्रचार घट रहा था और उसके स्थान पर अपभ्रंश एवं नवीन हिन्दी-साहित्य का प्रादुर्भाव हो रहा था। जनता में गतानुगतियों के प्रति कोई आकर्षण अवशेष नही रह गया था। साधारण नियम यह है कि जब प्राचीन आदर्शो का मूल्य घट जाता है और नवीन आदर्शों, नवीन प्रेरणाओं एवं नवीन वस्तुओं का कोई निश्चित निरूपण नहीं हुआ रहता तो ऐसे परिवर्तनकाल में लोग महाकाव्यों की शरण लेते है। उस समय पृथ्वीराजरासो तथा बीसलदेवरासो आदि प्रबन्ध काव्यों की रचनायें हुई जिसके द्वारा हमें तात्कालिक मनोवृत्तियों एवं भाषा का स्वरूप विदित होता है।

इसके पश्चात् हम भक्तिकाल मे प्रवेश करते है। उस समय तक मुसलमानों ने भारत में अपना राज्य स्थापित कर लिया था। नाना प्रकार के मत-मतान्तर चल रहे थे। मुसलमानों के कारण साँस्कृतिक एवं धार्मिक संघर्ष भी चल रहे थे। परम्परा नष्ट हो रही थी। इसके लिये आवश्यक था कि किसी महापुरुष के जीवनचरित्र द्वारा उसे स्थायी बनाया जावे और जन-साधारण को अपने आदर्शों पर स्थिर रहने के लिये सब प्रकार से प्रोत्साहन दिया जावे। इस युग में चार प्रमुख कवि कबीर, जायसी, सूर एवं तुलसी उत्पन्न हुये किन्तु केवल दो ही महाकाव्य उपलब्ध हुए—एक पदमावत और दूसरा रामचरितमानस। प्रथम ने आध्यात्मिक विवेचन करके जनता को ईश्वर के प्रति आकर्षित किया, नैराश्य-स्नात जनता को दृढ़ विश्वास, आत्मनिरूपण एवं साहित्यिक विचारधारा तथा कर्त्तव्यपरायणता का पाठ पढ़ाया। कबीर और सूर महाकाव्य लिखने मे असमर्थ एवं असफल रहे। इन दोनो के दृष्टिकोण में एवं जायसी और तुलसी के दृष्टिकोण में महान् अन्तर था।

कबीर का दृष्टिकोण अपनी आत्म-शुद्धि तक ही सीमित रहा। वे दूसरों के अवगुणों पर ही दृष्टिपात करते रहे, चाहे वह हिन्दू हो अथवा मुसलमान वे उनकी इच्छाओं को नहीं देख पाये। वे तो माया की चुनरी के अवगुण्ठन को हटाने मे ही व्यस्त रहे और धर्म-दर्शन पर ही विवेचन करते रहे। इसके आगे वे न बढ सके।

सूर का दृष्टिकोण ही भिन्न था। वे कृष्णोपासक थे। उन्होंने केवल कीर्त्तन का एकमात्र लक्ष्य कृष्ण को बनाया। कृष्ण के सौन्दर्यपूर्ण बालचरित्र पर ही वे पदरचना करते रहे और उससे किसी प्रकार आगे न बढ़ सके प्रत्युत उसी के चारों ओर चक्कर काटते रहे। अतः ये दोनों कोई प्रबन्ध-

काव्य न प्रदान कर सके। जायसी और तुलसी का दृष्टिकोण भिन्न था। जायसी को प्रेमकथा के द्वारा अपने ईश्वर की प्राप्ति करनी थी। उन्हें कबीर की तरह माया की चूनरी को नहीं हटाना था। अतः ईश्वर का तादात्म्य करने के लिए यह अनिवार्य था कि वे प्रेमकथा को लेकर (जो सूफियों मे प्रचलित थी) अपने विचारों की अभिव्यक्ति करें और इस हेतु उन्होंने ऐतिहासिकता एवं कल्पना के क्रोड में रत्नसेन एवं पद्मावती की कथा का आश्रय लेकर एक प्रबन्ध काव्य की रचना की। यदि वे प्रबन्ध काव्य का आश्रय न लेते तो यह किसी प्रकार सम्भव न था कि वे समस्त कठिनाइयों का विवेचन कर सकते जो उन्हें ईश्वरप्राप्ति में बाधक थी। अतः वे पदमावत एक सुन्दर महाकाव्य की रचना कर सके।

तुलसी रामभक्त थे। अभी तक रामकाव्य संस्कृत भाषा मे थे। जनता की भाषा में कोई रामकाव्य नही था। समय की माँग एवं राम के प्रति उनके हृदय की उत्सुकता ने उन्हें बाध्य कर दिया कि वे अपने उपास्यदेव का वर्णन उसी स्थल की परिमार्जित एवं परिष्कृत भाषा अवधी में करें। इस हेतु उन्होने रामचन्द्र के लोकपक्ष का स्वरूप जो शक्ति, शील और सौन्दर्य से ओत-प्रोत था ग्रहण किया और रामचरितमानस के रूप में एक उच्च कोटि का महाकाव्य प्रदान करने में सफल हो सके।

आचार्य केशव ने भी रामकाव्य मे योग दिया जिसका प्रतीक रामचन्द्रिका है। इसमें चमत्कार की प्रवृत्ति अधिक है। प्रबन्ध काव्य की दृष्टि से यह काव्य महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ नही कहा जा सकता।

रीतिकाल में हमारा समाज पतन की ओर उन्मुख हो रहा था। जब सामाजिक संस्कृति का ह्रास होने लगता है उस समय विलासिता एवं शृंगारिकता का प्राबल्य हो जाता है, और इसका प्रभाव सर्वसाधारण पर पड़ता है। कवि भी इसके अपवाद नहीं होते हैं। उन्होंने भी कृष्ण को, जो भक्ति-काल में कवियों के कण्ठहार बन रहे थे और जिन्होंने उनकी बाल-लीला को चित्रित करने में आनन्द का स्रोत बहाया था, आमोद और प्रमोद की एक सामग्री बना लिया। उन्होंने राधा और कृष्ण को नायक और नायिका के पद पर ला बिठाया और अपने कलुषित भावों को व्यक्त करने लगे। इन कवियों की कल्पना का स्तर गिर गया था। कविगण प्रायः रसिक थे, प्रेमी किम्वा भक्त नहीं थे। ये बहुधा शृंगारिक कविता ही किया करते थे। उनके शृंगारचित्रों में विलास का तारल्य और वैभव ही अधिक मिलता है। सामाजिक अधःपतन के कारण समस्त जीवन घर की चहारदीवारी तक

ही सीमित था जहाँ पर न धर्माचरण था और न शास्त्रचिन्तन। कवि लोगों ने भी अपने आश्रयदाताओं को प्रसन्न करने के लिए ऐसी सरस रचनाओं को ध्येय बना लिया था जिनका माध्यम था काम, और विलास की श्री एवं समृद्धि उनका अलकार था। . .

इस प्रकार वे स्फुट छन्द गढ़कर वाहवाही का आनन्द लूटते थे। अतः उनकी रस-धारा का अवसान मुक्तक काव्य में ही हुआ, कोई प्रबन्ध काव्य न रचा जा सका और प्रबन्ध काव्य की गति अवरुद्ध हो गई। इस युग में उनसे महाकाव्य की आशा करना गूलर के फूल ढूँढना है। इस प्रकार तत्कालीन युग में कोई महाकाव्य न उपलब्ध हो सका।

वर्त्तमानकाल, जो उन्नीसवीं शताब्दी से प्रारम्भ होता है और जिसे गद्य-काल के नाम से अभिहित किया जाता है, विद्रोह का युग था। इसके उत्तरार्ध में कृष्णकाव्य और रामकाव्य पर रुक्मिणी-परिणय और राम-स्वयम्वर दो महाकाव्य प्राप्त हुए। ये रघुबीरसिंह द्वारा रचे गये। इनमे परम्परा-निर्वाह ही किया गया है। रुक्मिणी-परिणय में षट्ऋतु एवं नख-शिख-वर्णन आदि की प्रचुरता है। उसी प्रकार राम-स्वयम्वर में भी कवि इन वर्णनो को नहीं भूल सका है। शास्त्रीय ढंग के अनुसार वस्तु, भोजन, घोड़े तथा हथियारों के भेद गणना करने वाली प्रणाली का इनमें आधिक्य है। इन महाकाव्यों के अतिरिक्त अन्य कोई प्रबन्ध काव्य इस शताब्दी में उपलब्ध न हो सका।

किन्तु इस शताब्दी के उत्तरार्ध में विद्रोह की भावना का साम्राज्य हो गया। यह विद्रोह जीवन-जगत् मे सभी स्थलों पर हुआ। साहित्य भी इस भावना से अछूता न रह सका। अभी तक हमारा समस्त साहित्य ब्रजभाषा अथवा अवधी में चल रहा था किन्तु ब्रजभाषा का प्राधान्य था। इस युग में गद्य में खड़ीबोली का प्रचार हुआ। यद्यपि इसका प्रारम्भ कबीर और खुसरो की कविताओं द्वारा हो चुका था। प्रेम-वृत्ति, जिसका अवसान रीतिकाल में दाम्पत्य-रति में ही हुआ था, आगे बढ़कर अब प्रकृतिप्रेम और स्वदेश-प्रेम तक पहुँच गई। रीति-बद्ध प्रणाली को छोड़कर काव्यधारा रीति-मुक्त मार्ग पर अग्रसर हुई। पद्य में अनेक शैलियों का व्यवहार हुआ। इतना होते हुए भी भारतेन्दुकाल में किसी महाकाव्य का प्रणयन न हो सका। प्रबन्ध काव्य तो स्थिर होकर लिखने की वस्तु है। उस ओर न तो उनका ध्यान ही गया और न उन्हें अवकाश ही प्राप्त हो सका, क्योंकि वे अल्पायु में ही स्वर्गारोहण कर गये।

द्विवेदीकाल में जीवन के सम्पूर्ण क्षेत्रों पर ध्यान दिया गया और उन परम्पराओं और शृंखलाओं को, जिनके कारण काव्यधारा चिरकाल से अवरुद्ध थी, विच्छिन्न किया गया। साहित्य में नवजीवन का संचार हुआ। आदर्शवादी द्विवेदी ने अपनी पूर्व-संस्कृति का अध्ययन किया और पद्य की भाषाप्रणाली को स्थिर किया। महाराष्ट्रीय काव्य के ढंग को, जिसमें संस्कृत के वृत्तों का व्यवहार होता था और उसका पद-विन्यास भी गद्य का सा ही होता था, स्वीकार किया। इसमे वंगभाषा की कोमल-कान्त-पदावली का अभाव था। स्यात् द्विवेदी जी को वर्ड्सवर्थ (Wordsworth) का वह सिद्धान्त, जिसमें गद्य और पद्य का पद-विन्यास एक सा ही होना चाहिये, प्रभावित किये हुये था; फिर भी उसके अनुकूल रचना नहीं हुई। यद्यपि उन्होंने अपनी कविता में सानुप्रास कोमल-कान्त-पदावली का व्यवहार किया, पर कविता इतिवृत्तात्मक ही रही। उसमें लाक्षणिकता, चित्रमयी भावना और रस-संचारिणी वक्रता बहुत कम आ पाई। द्विवेदीकाल के अन्तिम समय में कविता का प्रवाह छायावाद की ओर अग्रसर होने लगा था और वृत्ति गीतकाव्यों और प्रगीत मुक्तकों की ओर जा रही थी।

इस काल के कलाकारों में प्रमुख अयोध्यासिंह उपाध्याय, रामचरित उपाध्याय और मैथिलीशरण गुप्त हैं। इस काल के कलाकारों ने जहाँ अपनी हीनता के गीत गाये, राष्ट्रीय एकता के हेतु राष्ट्रीय गीतों का निर्माण किया, वहाँ उन्होंने राम और कृष्ण के सर्वकल्याणकारी कृत्यों को अपने काव्यों में स्थान दिया। अयोध्यासिंह का प्रयत्न यही रहा है कि अतीत को वर्त्तमान शब्दावली में व्यक्त करें। इन्होंने प्रियप्रवास महाकव्य रचा। खड़ीबोली में यह प्रथम प्रयास था जिसमें कवि ने कृष्ण को लोकरक्षक के रूप मे और राधिका को विश्वसेविका के रूप मे चित्रित किया है। इसमे बुद्धिवाद और आदर्शवाद की स्पष्ट छाप है जो युग की देन है। कवि राष्ट्रीय भावना से ओतप्रोत है। उन्होंने पौराणिक रूढ़ धारणा के विरुद्ध कृष्ण को महापुरुष के रूप में अंकित कर लोकरक्षा और लोकसेवा (जो युग का आदर्श है) को स्थायित्व प्रदान किया है। काव्य की दृष्टि से यह उत्तम काव्य है। इसमें करुण रस की जो धारा प्रवाहित हुई है वह हृदयहीन को भी सहृदय बना देने की क्षमता रखती है।

राम के जीवन पर रचना करने वाले गुप्त जी और रामचरित उपाध्याय हुए हैं। गुप्त ने साकेत में उपेक्षिताओं को अपनाया और उपाध्याय ने राम-चरित को अपना लक्ष्य माना। साकेतकार ने राम को ईश्वरावतार ही माना

है किन्तु कार्यक्षेत्र में वे एक नवयुगीन राजा का प्रतिनिधित्व करते हैं। इसकी भाषा प्राञ्जल, भाव उत्कृष्ट और उदात्त है।

रामचरित उपाध्याय ने रामचरितचिन्तामणि में रामकथा का वाल्मीकि रामायण के आधार पर वर्णन किया है किन्तु इसमें मार्मिक स्थलों की उपेक्षा की गई है एवं भरत के चरित्र को अति हीन अंकित किया गया है। इसमें नवीनता के दर्शन नहीं होते। फिर भी यह काल महाकाव्यों के लिये चिर-स्मरणीय रहेगा।

द्विवेदी युग के पश्चात् हम छायावादी काल में प्रवेश करते हैं। इस काल में द्विवेदी युग की काव्यधारा के विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई। इसका आधार था स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह। इस काव्यधारा में असीम के प्रति उत्कंठा, लाक्षणिकता का बाहुल्य, वैचित्र्यप्रदर्शन की प्रवृत्ति आदि विशेषतायें थीं। गीतिकाव्य का, जो अंग्रेज़ी शैली का अनुकरण लिये हुए था, बाहुल्य था। कविता का विषय भी अन्तर्मुखी प्रवृत्तियों का विश्लेषण बन गया था। यद्यपि यह काल गीतिकाव्य का है, फिर भी हमें उच्च कोटि के प्रबन्ध काव्य मिलते हैं; उनमें कामायनी का प्रमुख स्थान है। यह काव्य विशद कल्पनाओं और मार्मिक उक्तियों से पूर्ण है। इसका विचारात्मक आधार केवल इतना ही है कि श्रद्धा मनुष्य को इस जीवन में शान्तिमय आनन्द का अनुभव कराती हुई परमानन्द तक पहुँचाती है। इड़ा या बुद्धि मानव को अस्थिर रखती है और कर्मजाल में फँसाकर आनन्द से दूर रखती है। अन्त में इसमें इच्छा, कर्म और ज्ञान का समन्वय कराके आनन्द का निरूपण किया जाता है। यहाँ पर जड़-चेतन का भाव मिट जाता है। इसी विचारधारा में विश्व का कल्याण निहित है। इसका प्रभाव शाश्वत है।

छायावाद की अन्तर्मुखी साधना की भी प्रतिक्रिया आरम्भ हुई। अभी तक रहस्यवादी कवि समाज की परोक्ष भावना का आश्रय लेकर चला था और प्रकृति के कोमल चित्रण में समाज का नवीन रूप देखा करता था किन्तु वर्तमान स्वरूप का ज्ञान न हो सका। इसीलिये समाज ने इसे स्वीकार नहीं किया क्योंकि युग-धर्म का आग्रह था कि हमारा कवि अपने चारों ओर के सामाजिक जीवन, राष्ट्रीय जीवन एवं विश्व-जीवन को देखता, उसके हास्य-अश्रु, आशा-आकांक्षा, व्यथा-वेदना की प्यास को कविता में सजीवता देता और "काव्य जीवन का मर्म है" इसको चरितार्थ करता। इस प्रतिक्रिया के फलस्वरूप हिन्दी-जगत् का कवि बहिर्मुखी हुआ। उसने क्षुधापीड़ित एवं व्याधिग्रस्त मानवता की ओर दृष्टिनिक्षेप किया। आज प्रगतिवाद के कवि

विचारधारा के आग्रह से दो शिविरों में विभक्त है। एक है जो भारतीय संस्कृति से जीवनरस लेते हुए प्रगतिशील रहना चाहते है, दूसरे है जो अभारतीय संस्कृति और मार्क्सवादी जीवनदर्शन के सम्मोहन से प्रगतिवादी बनना चाहते है। प्रथम ओर है—निराला, पंत, नवीन, दिनकर, उदयशंकर भट्ट और गुप्त बन्धु आदि; दूसरी ओर है—अंचल, नरेन्द्र और सुमन आदि। यद्यपि काव्यधारा प्रगतिवाद की ओर मुड़ चली है किन्तु गीतिकाव्य का प्राधान्य है। यह होते हुए भी गुरुभक्तसिंह, दिनकर और भट्ट जी का ध्यान प्रबन्ध काव्य की ओर गया है। गुरुभक्तसिंह ने नूरजहाँ और विक्रमादित्य नामक प्रबन्धकृतियाँ प्रदान की है। दिनकर जी ने कुरुक्षेत्र में प्राचीन कथानक को लेकर युद्ध को अनिवार्य सिद्ध किया है। उनका विचार है कि सामाजिक और राजनीतिक विषमताओं का निराकरण युद्ध द्वारा ही सम्भव है। इसी से साम्य भावना की प्राप्ति होती है और स्थायी शान्ति उपलब्ध होती है। उदयशंकर भट्ट ने तक्षशिला को ओजपूर्ण भाषा में लेखबद्ध करके हिन्दी-साहित्य की उन्नति में अपना योग दिया। मोहनलाल महतो वियोगी ने आर्यावर्त नामक एक सराहनीय प्रबन्ध काव्य की रचना की। ये समस्त उत्तम कृतियाँ हिन्दी-साहित्य को प्राप्त हुईं।

इस काल में एक दूसरी धारा, जो प्राचीन होकर समय से पीछे पड़ गई थी और जो द्विवेदीकाल में विस्तृत और परिष्कृत हुई थी, नैसर्गिक गति से चल रही थी। उसके कवि गुप्त, गोपालशरणसिंह, अनूप शर्मा, श्यामनारायण पांडेय, पुरोहित प्रतापनारायण और तुलसीराम शर्मा है। पुरोहित जी ने नल-नरेश, अनूप शर्मा ने सिद्धार्थ, श्यामनारायण पांडेय ने हल्दीघाटी और जौहर, तुलसीराम ने पुरुषोत्तम, बल्देवप्रसाद ने साकेत-संत और रघुवीरशरण 'मित्र' ने जन-नायक आदि सुन्दर कृतियाँ प्रदान की। इसके साथ ही पुरानी काव्यधाराएँ व्रज और अवधी भी चल रही है जिनमें व्रजभाषा में शुक्ल जी ने बुद्धचरित्र, प्रतापनारायण ज्योतिषी ने रामचन्द्रोदय, केशरीसिंह ने प्रतापचरित्र और हरदयालुसिंह ने दैत्यवंश महाकाव्य रचकर प्रदान किये और अवधी में द्वारिकाप्रसाद मिश्र ने कृष्णायन एक वृहद् काव्य रामायण (मानस) के समान हिन्दी-जगत् को प्रदान किया।

आधुनिक काल के तथाकथित महाकाव्य

लोगों की धारणा है कि आलोच्य काल प्रबन्ध काव्य के लिये उपयुक्त नहीं है किन्तु इस अर्द्ध-शताब्दी में उपलब्ध होने वाले महाकाव्यों को देखकर यह विचार भ्रामक-सा प्रतीत होता है। हमारा महाकाव्य-साहित्य अत्यधिक

समुन्नत और समृद्ध हो गया है। आधुनिक काल में निम्नलिखित तथाकथित महाकाव्य कहे जाते है :—

क्रम रचना	रचयिता	रचना-काल
१. प्रियप्रवास	अयोध्यासिंह उपाध्याय (हरिऔध)	१९१४ ई०
२. रामचरितचिन्तामणि	रामचरित उपाध्याय	१९२० ई०
३. बुद्धचरित्र (ब्रज)	रामचन्द्र शुक्ल	१९२८ ई०
४. साकेत	मैथिलीशरण गुप्त	१९२९ ई०
५. तक्षशिला	उदयशंकर भट्ट	१९३१ ई०
६. नल-नरेश	पुरोहित प्रतापनारायण	१९३३ ई०
७. प्रतापचरित्र (ब्रज)	केसरीसिंह	१९३४ ई०
८. कामायनी	जयशंकर प्रसाद	१९३५ ,,
९. नूरजहाँ	गुरुभक्तसिंह	,, ,,
१०. सिद्धार्थ	अनूप शर्मा	१९३७ ,,
११. रामचन्द्रोदय	रामनाथ ज्योतिषी	,, ,,
१२. पुरुषोत्तम	तुलसीराम शर्मा	१९३९ ,,
१३. तुलसीदास	निराला	,, ,,
१४. मानसी	उदयशंकर भट्ट	,, ,,
१५. वैदेही-बनवास	अयोध्यासिंह उपाध्याय	,, ,,
१६. हल्दीघाटी	श्यामनारायण पांडेय	,, ,,
१७. दैत्यवंश महाकाव्य (ब्रज)	हरदयालुसिंह	१९४० ,,
१८. आर्यावर्त	मोहनलाल महतो वियोगी	१९४३ ,,
१९. कृष्णायन (अवधी)	द्वारिकाप्रसाद मिश्र	,, ,,
२०. कुरुक्षेत्र	रामधारीसिंह दिनकर	,, ,,
२१. जौहर	रामकुमार वर्मा	,, ,,
२२. जौहर	सुधीन्द्र	,, ,,
२३. जौहर	श्यामनारायण पांडेय	१९४५ ,,
२४. साकेत-संत	बल्देवप्रसाद मिश्र (डा०)	१९४६ ,,
२५. महामानव	ठाकुरप्रसाद सिंह	,, ,,
२६. विक्रमादित्य	गुरुभक्तसिंह	१९४७ ,,
२७. शर्वाणी	अनूप शर्मा	१९४८ ,,
२८. जननायक	रघुवीरशरण 'मित्र'	१९४९ ,,
२९. उर्मिला	बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'	अप्रकाशित

उपर्युक्त महाकाव्यों के अध्ययन के पश्चात् इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि अधोलिखित काव्य महाकाव्य की कोटि में पूर्ण नहीं ठहरते। कुछ तो मुक्तक हैं और कुछ खण्डकाव्य; कुछ में काव्यत्व के दर्शन प्रचुर मात्रा में मिलते हैं और कुछ इसके अपवाद भी हैं।

(१) *बुद्धचरित्र*—यह आरनल्ड (Arnold) कृत लाइट-आफ-एशिया (Light of Asia) का अनुवाद स्व० रामचन्द्र शुक्ल ने व्रजभाषा मे किया है। यद्यपि यह ग्रन्थ खड़ीबोली के पदप्रदर्शक द्वारा अनूदित है, फिर भी व्रज की प्रौढ़, परिमार्जित भाषा के दर्शन हमें प्राप्त होते है । इसमे कवि की प्रतिभा पग-पग पर परिलक्षित होती है। प्राकृतिक चित्रण के लिए तो बुद्ध चरित्र चिर-स्मरणीय रहेगा। इसमें उन्होंने प्रकृति के कोमल तथा भयंकर दोनों स्वरूपों को व्यक्त किया है । सुन्दर प्रबन्ध काव्य होते हुये भी अनूदित होने के कारण महाकाव्य की श्रेणी में नहीं लाया जा सकता।

(२) *नर-नरेश*—यह श्री प्रतापनारायण पुरोहित द्वारा रचित उन्नीस सर्गों में समाप्त हुआ है। इसका कथानक महाभारत के वनपर्व से लिया गया है। वनपर्व में यह कथा तिरपनवें अध्याय से प्रारम्भ होकर उन्नीसवें अध्याय में समाप्त होती है। यह भी अनुवाद की कोटि में आवेगा। इसमें पन्द्रहवाँ सर्ग एवं षट्ऋतुवर्णन, मृगया आदि मौलिक कहे जा सकते है। अन्त के अध्याय में थोड़ा परिवर्तन है। नलोपाख्यान में नल सेनासहित नगर में प्रवेश करता है और अपने भाई पुष्कर को द्यूत-क्रीड़ा में मात देकर उसे अनुगृहीत करता है, और फिर दमयन्ती को बुलाकर महोत्सव का आयोजन कराता है। किन्तु प्रस्तुत काव्य में राजा नल के पत्र द्वारा भेजे समाचार को प्राप्त कर पुष्कर नल को सम्मानपूर्वक बुलाने के लिये सेना भेजता है और आने पर शासनभार देकर क्षमाप्रार्थी होता है। नल उसकी अनुनय को स्वीकार कर, अपने पुत्र को सिंहासनारूढ़ कराके वैराग्य ले लेता है और वरदान प्राप्त कर दमयन्तीसहित स्वर्गस्थ हो जाता है। अतः यह महाकाव्य की कोटि में नहीं आ सकता। कुछ अनुवाद के स्थल द्रष्टव्य हैं:—

नलोपाख्यान—

आसीद्राजा नलो नाम वीरसेनसुतो बली।
उपपन्नो गुणैरिष्टैः रूपवानश्वकोविदः ।।
तस्मै प्रसन्नो दमनः सभार्याय वरं ददौ।
कन्यारत्नं कुमारांश्च त्रीनुदारान् महायशः ॥

तयोरदृष्टः कामोऽभूत शृण्वतो सततं गुणान् ।
अन्योऽन्यं प्रति कौन्तेय स व्यवर्द्धत हृच्छयः ॥
अशक्नुवन्तः कामं तदा धारयितुं हृदा ।
अन्तःपुर समीपस्थे वन आस्ते रहो, गतः ॥
ततोऽन्तरिक्षगोवाच व्याजहार नलं तदा ।
हन्तव्योऽस्मिन् ते राजन् करिष्यामि तव प्रिय ॥

नल-नरेश----

बीर सेन के बड़े पुत्र नल अति बल-धारी ।
पराक्रमी नीतिज्ञ और बैरी, बल-हारी ॥
कहा दमन ने समुद्र भूप हरि कृपा करेंगे ।
मुझे तीन सुत और एक कन्या भी देंगे ॥
दोनों ओर समान प्रेम बढ़ता था पल पल ।
थे भैमी की तरह हो रहे नल भी विह्वल ॥
उपवन में रह काम ताप को वे हरते थे ।
कई तरह की और कल्पनायें करते थे ।
मुझ निर्दोषी नभ चर का वध उचित नही तुमको नर-नाथ ।
जीवनदान जो दोगे तो तुच्छ, तुम्हारा दूँगा साथ ॥

इसी प्रकार क्रमशः चौवनवें अध्याय से लेकर सतहत्रवें अध्याय तक के स्थल अनुवादमात्र है।

(३) *प्रतापचरित्र*–इसके रचयिता केशरीसिंह बारहठ हैं। इसमें महाराणा प्रताप के जीवनचरित्र को काव्य में प्रस्तुत करने का असफल प्रयास है। पुस्तक के अध्ययन करने से यह ज्ञात होता है कि राजदरबार को प्रसन्न करने के लिये ही यह लिखी गई है। प्रबन्धकारिता की कमी है। इसमें प्रताप के विशिष्ट गुणों का समावेश न होकर थोड़ा-थोड़ा परिचय कराने की प्रथा अपनाई गई है। स्थल-स्थल पर सरदारों के परिचय दिये गये है जो न तो काव्य में गति देते हैं और न पाठक के हृदय में उनके प्रति श्रद्धा ही उत्पन्न करते है। पुस्तक में विभाजन का कोई क्रम नहीं है, केवल प्रत्येक पद के लिये उसका शीर्षक दे दिया गया है। यथा—शक्तिसिंह का इक्कों को देखना, दूसरे शक्तिसिंह का इक्कों को मारना, तीसरे महाराणा और शक्तिसिंह का मिलाप, चौथे महाराणा और शक्तिसिंह का सम्वाद आदि। इस प्रकार काव्यधारा अबाध गति से प्रवाहित होने की अपेक्षा अवरुद्ध हो गई है। छन्द का वैविध्य भी गतिबाधक है।

सम्वादो में न तो भावों की व्यञ्जना और न वाक्पटुता ही है। दो एक स्थलों पर कवि गद्य का मोह नही त्याग सका है। पृष्ठ सत्तर पर सेना की नामावली पद्य में ही लिखी गई है और आगे चलकर सचरण गद्य भी दी है। उसका एक अवतरण देखिये—

"जा समै विशाल चतुरंगिनी के जुरने पर कँवर मानसिंह गजरूढ़ ह्वै सेना के मध्य भाग में स्थित होय ख्वाजा महमूद रफी और सियाजुद्दीन गुरोह पायन्दाह कज्जाह अली मुराद उजबक, सैयद हामिम बारहा व बक्षी अली मुराद पातशाही इवके और राजा लुग कर्ण को हरोल में करने लगे"।

काव्यभाषा में न तो प्रवाह है और न सरसता। उर्दू, फारसी तथा देशज शब्दों का बाहुल्य है। नन्द-भावज की वार्त्तालाप अलग से चिपकाई हुई प्रतीत होती है। इसी प्रकार कवि-वंश-परिचय आदि हैं। कहीं-कहीं पर मौलिकता के दर्शन होते है और हृदयग्राही एवं ओजपूर्ण छन्द प्राप्त होते हैं।

(४) *तुलसीदास*—यह निराला द्वारा रचित सौ छन्दों मे पूर्ण हुआ है। इसमे कवि तुलसी की परिस्थितियों का मानसिक प्रत्यक्षीकरण कराने में सफल हुआ है। यह एक खण्डकाव्य अन्तर्मुख प्रबन्ध के रूप में हैं। इसमें गोस्वामी किस परिस्थित में उत्पन्न हुए उसका सरस वर्णन किया है। साथ ही उन्हें किस प्रकार दिव्य सत्ता का बोध हुआ इसका अन्तर्वृत्ति के आन्दोलन के रूप मे वर्णन किया है।

✓(५) *तक्षशिला*—यह उदयशंकर भट्ट द्वारा प्रगीत सात स्तरों मे सम्पन्न हुआ है। इसकी भाषा गम्भीर, ओज, तथा प्रसाद से युक्त, व्याकरण से अनुमोदित तथा सुगठित है। इस प्रकार परिमार्जित भाषा के दर्शन प्रायः बहुत कम प्राप्त होते हैं। वर्णन रोचक तथा हृदयग्राही है। यह उत्तम काव्य है किन्तु इसमें निम्नलिखित बातों की कमी प्रतीत होती है।

(अ) महाकाव्य के लिये एक शृंखलासूत्र की आवश्यकता होती है। इसमें इसका अभाव है। यद्यपि योग्य कवि ने विभिन्न कथायें कहकर सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास किया है फिर भी वे एक दूसरे से पृथक्-पृथक् बनी रहीं। प्रथम कथा चक्री तथा बाहुबली की है जिसमें आपस के द्वन्द्व का वर्णन है। यह प्रसंग द्वितीय और तृतीय स्तर तक चलता है। इसका मूल्य कथा में विस्तार ही है! इस प्रकार तीन अध्याय समाप्त हो जाते हैं। दूसरी कथा आम्भी की है। इसमें उसके राज्य-विस्तार, अलक्षेन्द्र का आक्रमण तथा मगध देश द्वारा तक्षशिला पर अधिकार आदि बातें वर्णित है जो कि चतुर्थ सर्ग में समाप्त हो

जाती है। तीसरी कथा में अशोक का शासन तथा तक्षशिला का उद्धार और कुणाल का तक्षशिला का शासक होना तथा तिष्यरक्षिता द्वारा कुणाल का अंधा होना एवं निर्वासित होकर मगध पहुँचना फिर उसके पुत्र सम्प्रति का वहाँ का शासक होना वर्णित है। यह वर्णन भी दो सर्गों में समाप्त होता है। अन्तिम सर्ग में ग्रीक, कुशान, हूण आदि राजाओं के वर्णन तथा तक्षशिला का ध्वंस लिखा गया है। कवि की योजना प्रशंसनीय है किन्तु सानुबन्ध कथा न होने के कारण संश्लिष्ट प्रभाव नहीं पड़ता।

(ब) पारिवारिक जीवन एवं सामाजिक जगत् के दर्शन बहुत कम हो पाये है।

(स) प्रकृतिवर्णन भी यथारूप नहीं है।

(द) समय के व्यवधान होने के कारण एवं समय पर परिवर्तन होने के कारण एक संस्कृति तथा एक समाज के दर्शन नहीं प्राप्त हो सके।

(६) *श्री रामचन्द्रोदय काव्य*—यह ग्रन्थ पण्डित रामनाथ ज्योतिषी द्वारा रचित जुलाई सन् १९३७ ई० में प्रकाशित हुआ। यह काव्य सोलह कलाओं में पूर्ण हुआ है। प्रथम कला में कवि ने ग्रन्थारम्भ का कारण तथा काव्यादर्श और सत् कवि की विवेचना की है। दूसरी कला में सूर्यवंश का प्रताप, नृपयज्ञ, जन्म, विद्यारम्भ तथा विश्वामित्र का आगमन और राम-लक्ष्मण को लेकर प्रस्थान का वर्णन किया है। तीसरी में ताड़का-वध तथा मिथिलाप्रवेश, चौथी में मिथिलापर्यटन, पाँचवीं में पुष्पचयन, छटी कला में धनुपभंग तथा परशुराम-सम्वाद, सातवी कला में दशरथ का मिथिला में स्वागत, आठवीं कला में राम-सीता की अष्टयामचर्या, नवम कला में षट्ऋतुवर्णन, दसवीं कला में ग्रामवधूटियों को सीता जी का उपदेश, ग्यारहवीं कला में वर्णाश्रम-व्यवस्था, बारहवीं कला में आश्रम धर्म, तेरहवीं कला में राजनीति, चौदहवीं कला में साधारण नीति, पन्द्रहवीं कला में वेदान्त और सोलहवीं कला में ग्रन्थपरिचय, कविपरिचय, देववन्दना आदि का वर्णन है। ग्रन्थ के अवलोकन करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि प्रस्तुत ग्रन्थ महाकाव्यों की श्रेणी में नहीं आ सकता। इसके पूर्वार्द्ध में रामचन्द्र का विश्वामित्र के साथ मिथिला तक पहुँचना तथा सीता के पाणिग्रहण तक की कथा वर्णित है। यह कथा आठवीं कला तक समाप्त हो जाती है। उसके पश्चात् नवीं कला से लेकर सोलहवीं कला तक अन्य विवरण दिये गये हैं। वे प्रबन्ध काव्य के लिये वहीं तक उपयोगी हो सकते हैं जहाँ तक कथा का सम्बन्ध उनसे

बना रहता है किन्तु इस काव्य में वे ऊपर से चिपके से दिखलाई पड़ते हैं। अच्छा तो यही होता कि कवि इनको स्थान ही न देता। अथवा इनको पृथक् करके दूसरी पुस्तक की रचना करता। यह तो प्रबन्ध काव्य के लिये अनुपयोगी ही सिद्ध हुए। दूसरे, इस काव्य में किसी पात्र का पूर्ण चरित्र नहीं प्राप्त होता है। यहाँ तक कि रामचन्द्र जी का भी पूर्ण चरित्र सम्मुख नहीं आने पाया है। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि उत्तरार्द्ध के सर्ग, जिसमें कि धर्म, राजनीति, विधवा-विवाह आदि का वर्णन है, मनुस्मृति की भाँति ज्योतिषी जी स्मृति-रचयिता का कार्य दे सकते हैं। कवि ने व्रजभाषा की परम्परा को अक्षुण्ण बनाये रखने का प्रयास किया है। वह सराहनीय है, किन्तु कवि महाकाव्य की रचना में असफल रहा है।

(७) *पुरुषोत्तम*—कथा का प्रारम्भ कृष्ण के मथुरापुरी प्रवेश से होता है। उसके पश्चात् कंस-वध, मातृ-मिलन, श्रावण-सुषमा है। फिर व्रजवासियों की स्मृति होने पर कृष्ण ने उद्धव को दूतरूप में भेजा, एवम् अपना सन्देश दिया। व्रज की व्याकुलता को देखकर उद्धव के लौट आने का वर्णन किया गया है। यह प्रसग पाँच अंगों मे समाप्त होता है। तत्पश्चात् कथा की शृंखला टूट जाती है और वैदर्भीवरण का प्रसंग आता है। उसके पश्चात् भौमासुर का वध एवम् अबला-उद्धार का वर्णन किया गया है। मार्ग मे ही कृष्ण ने केवल संकेत कर दिया कि "यही हस्तिनापुर है जिसमें मदकल वसते, धर्म सरोवर को जो गंदला कर कर हँसते। यही एक दिन होगा मुझको आर्य ! आना, शायद मुझको पड़े काल से काल भिड़ाना।" पृष्ठ १६६

यह प्रसंग सातवें अंग में समाप्त हो जाता है। आठवे अंग में कृष्ण दौत्य कार्य करते है और असफल होने पर कुन्ती के प्रश्न का उत्तर देते है कि मै

"रि ! कुरुक्षेत्र लाया हूँ, मैं रिक्त नहीं आया हूँ।"

उस पर कुन्ती कहती है कि—

"जो तुझे जँचे वह करना।" और कृष्ण सान्त्वना देते है कि—

"धैर्य धरो दिन आते हैं री, धर्मपुत्र शिर चँवर डुलेगा ये दिन तो अब जाते हैं री।" और यहीं पर काव्य का कथानक समाप्त हो जाता है। जिस वाक्य का संकेत श्रीकृष्ण ने सत्यभामा से किया था **"शायद मुझको पड़े काल से काल भिड़ाना"** उसकी पूर्ति नहीं हुई। इस काव्य में कथा का क्रमिक विकास भी नहीं प्राप्त होता है। प्रथम पाँच सर्गों की कथा के पश्चात् अन्तिम

तीन सर्गों की कथा से कोई विशेष सम्बन्ध नही प्रतीत होता। नाट्य सन्धियों का बिल्कुल अभाव है। काव्य का महत् उद्देश्य क्या है उसकी ओर न तो संकेत है और न उसके पूर्ण होने की प्रतीक्षा ही है। कथा की पूर्ति भविष्य के लिये सान्त्वना देकर छोड़ दी गई है। हमारे विचार से यह काव्य अधूरा ही है।

(८) *मानसी*—यह उदयशंकर भट्ट द्वारा प्रणीत मुक्तक काव्य है। इसमें विश्व का यथार्थ दर्शन है। प्रारम्भ, दर्शन, रूप, प्रकाश, प्रश्न आदि पर मुक्तक कविता लिखी है।

(९) *हल्दीघाटी*—(वीर-रस-प्रधान आदि महाकाव्य) इसके रचयिता श्री श्यामनारायण पाण्डेय है। यह पुस्तक सतरह सर्गो में विभाजित हुई है। इसके सम्बन्ध में कई प्रकार के आक्षेप है, इनका निराकरण होना आवश्यक है।

(अ) इस काव्य का नाम 'हल्दीघाटी' भ्रामक है। मेवाड़ म कुम्भलमेड़ के निकट दो पहाड़ियों के मध्य के स्थान का नाम हल्दीघाटी है। समस्त घटनायें इस स्थल पर नही घटित हुई। केवल युद्ध ही हुआ है। यदि कवि का ध्येय केवल युद्धवर्णन ही होता तो इसका नाम उचित होता किन्तु कुछ घटनायें दिल्ली की है, कुछ मेवाड़ देश की हैं। केवल एक घटना हल्दीघाटी की है। हल्दीघाटी नाम देकर कथा की अन्विति हो ही नहीं सकती। यदि इसका नाम प्रतापचरित्र अथवा मानमर्दन एवं अकबरदलन या इसी प्रकार का कोई और नाम होता तो कथा की अन्विति हो सकती।

(ब) समय और कार्य की अन्विति नही। जब शक्तिसिंह मृगया में महाराणा प्रताप से क्रुद्ध होकर दिल्ली पहुँचता है, तत्पश्चात् उसका वर्णन एवं पुरोहित के शव का एवं राणा के प्रासाद में पहुँचने का वर्णन होता है तो उसके कारण कार्य और समय की अन्विति नहीं हो पाती और इसके कारण प्रबन्ध की तारतम्यता नष्ट होती है।

(स) महाकाव्य के लिये सानुबन्ध कविता का होना आवश्यक है जिसका कि इसमें अभाव है। कवि ने नमस्कार, प्रस्तावना, परिचय, प्रताप, चित्तौड़, झाला, मन्ना, वीर सिपाही, चेतक, हल्दीघाटी, माला आदि का परिचय देने के पश्चात् प्रथम सर्ग से कथा प्रारम्भ की है और सतरहवें सर्ग के पश्चात् परिशिष्ट। हल्दीघाटी लिखने की प्रेरणा महाराणा प्रताप के समाधिस्थल को देखने पर जागृत हुई।

पुस्तक पढ़ने से ज्ञात होता है कि कवि ने फुटकर कवितायें लिखीं होंगी और हल्दीघाटी युद्ध भी पृथक् ही लिखा होगा; किन्तु महाकाव्य बनाने की इच्छा से इधर-उधर के सर्गों का एकत्रीकरण किया होगा क्योंकि इस काव्य में दूसरे, तीसरे और चौथे सर्ग का सम्बन्ध नायक से बिल्कुल नहीं है।

(द) उर्दू की मरसिया परम्परा की स्पष्ट छाप है। देखो पृष्ठ १३५-३६

"जो तनिक हवा से बाग हिली,
लेकर सवार उड़ जाता था।
क्षण इधर गई क्षण उधर गई,
क्षण चढ़ी बाढ़ सी उतर गई।
था प्रलय चमकती जिधर गई,
क्षण शोर हो गया किधर गई।"

(य) एक स्थान पर विरोधाभास है। देखिये—

"युगल-बन्धु रण देख क्रोध से लाल हो गया था सूरज।
मानों उसे मनाने को अम्बर पर चढ़ती थी भूरज॥
किया सुनहला काम प्रकृति ने मकड़ी के मृदु तारों पर।
छलक रहीं थीं अन्तिम किरणें राजपूत तलवारों पर॥
धीरे-धीरे रंग जमा तम का सूरज की लाली पर।
कौवों की बैठी पंचायत तरु की डाली डाली पर॥
चूम लिया शशि ने झुक कर कोंई की कोमल गालों को।
देने लगा रजत हँस हँस कर सागर, सरिता, नालों को॥
हिंस्र जन्तु निकले गह्वर से घेर लिया गिरि झीलों को।
इधर मलिन महलों में छाया लाश सौंप कर भीलों को॥"

उपर्युक्त छन्द द्रष्टव्य है। एक ओर तो प्रकृति को क्रुद्ध और धूलि-धूसरित अंकित किया जा रहा है जो शृंगार के लिए उचित क्रीड़ास्थल नहीं उपस्थित करती, दूसरी ओर शृंगार का विधान रचा जा रहा है। तीसरी ओर राजा लाश को सौंपकर महलों में मलिनमुख प्रवेश कर रहा है। नहीं ज्ञात होता कि किस रस को संचारित करने में ऐसे विभिन्न भाव एक-दूसरे के सहायक बन रहे हैं। यहाँ पर विरोधाभास है जो एक स्थिति पर किसी भाव को स्थिर ही नहीं होने देता है। यदि यह मान लिया जाय कि तथ्य का

निरूपण किया गया है तो भी उचित नहीं प्रतीत होता है। यदि प्रकृति मलिन एवं धूलि-धूसरित है तो शशि को कुमोदिनी के कोमल गालों को चूमने का अवसर ही न प्राप्त होगा। जब दिशायें मलिन होंगी उस समय प्रकृति हँसती-सी मुसकाई-सी दृष्टिगोचर नहीं होगी, वरन् भयावह प्रतीत होगी।

(फ) शब्दों के कु-प्रयोग एवं उचित अर्थों की कमी। यथा—

(अ) **"सैनिक तनतना उठे, हाथी-हय-दल पनपना उठे, गनगना उठे"**

(ब) **"समद तब जाता था"** (मद से) समद प्रयोग उचित नहीं।

"नरम कभी जल सा" जल तरल होता है, नरम नहीं।

"विस्मय चिन्ता की ज्वाला भभकी राणा के मन में।"

क्रोधाग्नि भभकती है, चिन्ता की रेखायें बनती हैं।

वैसे पाण्डेय जी की काव्यकला का पूर्ण विकास हुआ है। इसमें युद्ध की अनेक परिस्थितियों का चित्रण अपने ढंग का ही हुआ है और वर्णन प्रवाह-पूर्ण और सजीव है, फिर भी जीवन के समग्र रूप ग्रहण करने का प्रयास नहीं किया गया। इसको बालकों के लिए उत्तेजक पुस्तक माना जा सकता है, विद्वत्समाज में इसका सम्मान नहीं होगा।

(१०) *आर्यावर्त*—आर्यावर्त की भूमिका में प्रश्न उठाया गया है कि "यह काव्य महाकाव्य होने का अधिकारी है" और इसके समाधान में यह कहा गया है कि "आचार्यों ने महाकाव्य के जितने लक्षण बतलाए हैं उनका समन्वय अधिकांशतः इस महाकाव्य में हो जाता है, तथापि सम्भव है, बाल की खाल निकालने वाले सर्वांशतः समन्वय न होने के कारण इसे महाकाव्य न मानें, किन्तु हम तो कुछ लक्षणों की असंगति होने पर भी इसे महाकाव्य मानते हैं और सहृदय साहित्यिक भी इसे ऐसा ही मानेंगे।" आगे चलकर यह भी कहा कि "प्रियप्रवास लक्षणतः खण्डकाव्य होने पर भी महाकाव्य की श्रेणी में गिना जाता जा सकता है। ऐसे तो कितने ही लाक्षणिक साकेत के भी महाकाव्य होने में सन्देह करते हैं।" तीसरे यह भी कहा है "आजकल के बने हुए काव्यों के वर्ण्य विषयों को लक्ष्य में रखकर ही लक्षणग्रन्थ बनेंगे। उस समय आर्यावर्त ऐसे काव्यों को महाकाव्यों के अन्तर्भुक्त होना विवाद का विषय नहीं रह जायगा।" चौथी बात यह कही है कि "आर्यावर्त का कवि प्रगतिवादी की श्रेणी में आता है। प्रगतिवादी इस अर्थ में कि वह नवीन विचारों का प्रचारक है। गतानुगति का विरोधी और प्राचीन परिपाटी का प्रतिगामी है। श्रमिकों और किसानों का पक्षसमर्थन तथा यथार्थवाद व वास्तव-वाद की व्याख्या ही केवल प्रगतिवादिता व प्रगतिशीलता नहीं, बल्कि मुख्यतः

अनुकरणशीलता का अभाव और गति-विमुखता का तिरस्कार है। इस दृष्टि से आर्यावर्त प्रगतिवादी महाकाव्य कहा जा सकता है क्योंकि इसके पढने पर हमारी मन:स्थिति एक अलौकिक लोक मे पहुँच जाती है और हममें एक अभूतपूर्व नवजीवन का संचार हो जाता है। नवसदेश के दृष्टिकोण से देखने पर कोई भी काव्य भावपक्ष और कलापक्ष की दृष्टि से अपना अत्यन्त महत्त्व रखते हुए भी आर्यावर्त की समकक्षता नही कर सकता। यह एक सत्य है। सम्भव है, सहृदय समाज मेरी उक्ति को अतिशयोक्ति मान बैठे।"

उपर्युक्त तर्क को सम्मुख रखते हुए मेरा नम्र निवेदन यह है कि महाकाव्य कहलाने के लिये कुछ लक्षणों का होना प्रायः अनिवार्य है जैसा कि इस निबन्ध की पृष्ठ-संख्या ११ पर बतलाया जा चुका है। यहाँ पर पुनरावृत्ति की अवश्यकता नही है। यदि महाकव्य उन अनिवार्य लक्षणों पर पूर्ण उतरता है तो वह अवश्य ही महाकाव्य कहलावेगा, इसमें किसी एक व्यक्ति के मानने और न मानने का प्रश्न नही उठता। किसी महाकाव्य का नाम लेकर कहने से कि अमुक महाकाव्य कहलाया जा सकता है इसलिए यह भी महाकाव्य मान लिया जावे कहना कहाँ तक उचित होगा। प्रथम एक महाकाव्य की दूसरे महाकाव्य से तुलना करना समीचीन नहीं, क्योंकि एक की परिस्थितियाँ, समय और विषय दूसरे महाकाव्यों की परिस्थितियों, समय और विषय से सवर्था भिन्न हो सकते है। फिर भी उनकी तुलना कैसी ? यदि उनकी तुलना हो भी सकती है तो केवल एक निश्चित कसौटी द्वारा ही हो सकती है। उसी आधार पर वे महाकाव्य कहलाने के अधिकारी भी हो सकते है।

अब प्रश्न लक्षणग्रन्थ बनने का है। जब वर्ण्य विषय को देखकर लक्षणग्रन्थ बनेंगे उस समय यह महाकाव्य स्वतः मान्य हो जावेगा यह कहना कुछ अधिक उचित नही ज्ञात होता। लक्षणग्रन्थों में भी तो सर्वदा विकास होता रहा है और अब भी वे विकसित हो रहे है। कोई भी लक्षण सर्वदा मान्य नहीं रहता किन्तु उसकी आत्मा सदैव मान्य रहती है। यदि उसके तत्त्व नष्ट हो गए तो उसके आधार पर रचित रचना मान्य नहीं होगी। 'आर्यावर्त' का कवि प्रगतिवादी श्रेणी मे आता है इसका आश्रय लेकर इसे प्रगतिवादी महाकाव्य घोषित किया जा सकता है—यह तो उसी प्रकार का कहना होगा जैसे अश्व-गति प्रतियोगिता में सब प्रकार के अश्व उपस्थित हों और निर्णय के अवसर पर उसका स्वामी यह कहे कि अमुक जाति के अश्वों से ही उसकी प्रतियोगिता मान्य होगी। यह बात कहाँ तक स्वीकार की जा सकती है ? इसी प्रकार किसी वाद का आश्रय लेकर महाकाव्य घोषित करने की क्या

आवश्यकता आ पड़ी क्योंकि "वाद" को आधार मानकर चलने वाली आलोचनायें सामयिक ही कही जायेगी, सर्वकालीन नही।

उपर्युक्त कथन केवल भूमिका को दृष्टि मे रखकर किया गया है। अब हमे इस महाकाव्य को महाकाव्यत्व पर प्रतिष्ठित करने वाले अवयवों का निरीक्षण करना है कि वे कहाँ तक इसे महाकाव्य घोषित करने में सहायक होते है।

१—इस काव्य का नायक 'कवि चन्द' माना गया है। क्या इस काव्य में इसके नायकत्व का पूर्ण निर्वाह हो सका है? प्रथम सर्ग में चन्द के दर्शन श्रान्त-क्लान्त और आहत के रूप में प्राप्त होते है जो नायक को नायकत्व के पद पर आसीन नही होने देते। दूसरे सर्ग मे नायक का पता नही चलता है। तीसरे सर्ग में नायक विवश और निराश दिखाई पडता है। चौथे सर्ग में फिर उसके दर्शन नहीं होते है। पाँचवें सर्ग में वह किंकर्त्तव्यविमूढ-सा दिखलाया गया है। छठे सर्ग मे प्रलयगान करने के लिए सरस्वती की प्रार्थना करता है। यहाँ पर भी उसके दिव्य दर्शन नहीं मिलते, वरन् महारानी के दिव्य दर्शन अवश्य होते है क्योंकि महारानी ने कवि-रानी द्वारा चन्द्र से कहलाया है कि वह अपनी वाणी से ज्वाला भड़कावे और वह स्वय रण-क्षेत्र में रणचण्डी का कृत्य सम्पादित करेगी। सातवें सर्ग में दूत का कार्य करते हुए जयचन्द के दरबार मे दर्शन होते है। वहाँ पृथ्वीराज के चक्षुविहीन किये जाने का समाचार मिलता है, फिर भी उसके ऊपर कोई प्रभाव नही पड़ता। जयचन्द अवश्य स्वतन्त्रता को पुनः स्थापित करने के लिए प्रयत्नशील दिखाई पड़ता है और महारानी में कर्त्तव्यपरायणता की भावना लक्षित होती है। आठवें और नवें सर्ग में भी कवि चन्द सम्मुख नही आता है। वहाँ पर भी हमें महारानी और जयचन्द के साथ गौरी की सेना के घोर युद्ध का वर्णन प्राप्त होता है। दसवें सर्ग में आर्य सेना विजयिनी होती है। उस समय चन्द हतचेत तथा किंकर्त्तव्यविमूढ़ दशा में दृष्टिगोचर होता है और उसी समय अपना पथ निरूपित करता है। ग्यारहवें सर्ग में एक फकीर के रूप में गौरी को उसके पैरों पर लोटते हुए देखते हैं। बारहवें सर्ग तथा तेरहवें सर्ग में वह अवश्य क्रियाशील दिखलाया गया है और वहीं पर उसका अन्त होता है। इस प्रकार नायक का चरित्र महाकाव्य के अनुरूप नहीं है। उसका चरित्र कहीं पर किंकर्त्तव्यविमूढ़ और कहीं पर दूत के कार्य को करता हुआ दिखलाया गया है, जो उदात्त भावना के विपरीत है। "नायक देश अथवा मानवता का प्रतिनिधित्व करता है, जिसकी विजय उसकी विजय पर आधारित होती है, और उसकी पराजय से देश और उद्देश्य को गहरी ठेस लगती है।"

Epic for instance one notices usually depicts a victorious hero. It cannot well do, otherwise for in such a poem the interest is rather national than individual. The Hero represents the country or a cause which triumphs with his triumphs, whose honour would suffer from his defeat.

English Epic & Heroic poetry P. 19.

२—इसके अतिरिक्त आर्यावर्त के चरित्र-चित्रण मे सबसे बड़ी त्रुटि यह हुई है कि समस्त पात्र श्रेष्ठ ही दिखलाये गए है जो अस्वाभाविक प्रतीत होते हैं। जयचन्द और गौरी का चरित्र भी श्रेष्ठ दिखलाने का प्रयास किया गया है जो न उचित ही है और न मान्य। यदि सब पात्र श्रेष्ठ ही है तो संघर्ष कैसा ?

३—कवि तथा पृथ्वीराज का अन्त जिस दशा में दिखलाया गया है वह अभारतीय है। इससे न तो पृथ्वीराज का ही मुख उज्ज्वल होता है और न कीव चन्द का ही।

४—कही कहीं चरित्रचित्रण में समय का ध्यान नही रक्खा। महारानी संयोगिता जब रणक्षेत्र को वीर रमणी की भाँति जाती है, उस समय कवि को उसके वीर वेश की कल्पना करके उसको वीर रूप देना था न कि नायिका का रूप ? देखिये—

"रानी पहिने थी पीत धिनांसुक उसमें,
शोभती थी जर की किनारी नेत्ररंजिनी।
मानो शची रानी घिरी सोने की घटाओं से,
और लिपटी हो जलधर धौत दामिनी।
उन्नत उरोज पर कवच कसे हुए,
बन्दिनी है मानो सुकुमारता हृदय की।
क्रूर कर्त्तव्यरूपी वज्र के कपाट में।"

यहाँ पर कवि ने जो रूप वीर क्षत्राणी का अंकित किया है वह उचित नही। यह तो ऐसा प्रतीत होता है कि मानो वह विवशता के कारण वह रूप धारण कर रही थी। उसकी आन्तरिक भावना नहीं थी।

५—इस महाकाव्य में अपेक्षित जीवन की पूर्ण एवं उदात्त व्याख्या नहीं पाई जाती है।

(??) कुरुक्षेत्र—यह काव्य रामधारीसिंह 'दिनकर' रचित सात सर्गों में विभाजित है। इसमें युधिष्ठिर की आत्मग्लानि, भीष्म का प्रबोध, अन्तर्वृत्तियों का काव्योचित आकलन, राजनीति में शान्ति, अशान्ति का उपयोग, ज्ञान-वैराग्य-

कर्म का योग, मानवीय साम्य सिद्धान्त की नूतनता का आनन्द और प्रयोग एव कोमल मानवीय भावों का बहुत ही सुन्दर चित्रण हुआ है। इसमें ओज-पूर्ण भाषा तथा तीव्र मर्मवेदना जगाने वाली शक्ति के दर्शन होते है किन्तु पारिभाषिक अर्थ में महाकाव्य का प्रबन्धात्मक कथानक के आधार पर अवस्थित होना अनिवार्य है। इसमे न तो इस प्रकार का कोई कथानक है, न नायक, नायिका और न सन्धियाँ, केवल युद्धदर्शन को सर्गबद्ध देखकर महाकाव्य कहना अनुचित ही होगा। इसे उच्च कोटि का खण्डकाव्य कह सकते है। मुख्यतः विचार-काव्य कहना ही उचित है।

(१२) जौहर—सुधीन्द्र द्वारा रचित यह छः खण्डों मे पूर्ण हुआ है। इस काव्य की रचना भारतीय सतीत्व की उज्ज्वल प्रतिमा वीरागना महारानी पद्मिनी के अपूर्व बलिदान की इतिहासप्रसिद्ध कथा के आधार पर की गई है। सम्पूर्ण काव्य बीज, संघर्ष, सन्धि, दर्शन, प्रत्यावर्तन तथा उत्सर्ग छः खण्डों में सजीव एवं ओजपूर्ण भाषा मे व्यंजित है। यह खण्डकाव्य है।

(१३) जौहर—रामकुमार वर्मा रचित वर्णनात्मक कविताएं जौहर अभि-शाप, प्रथम दर्शन के पश्चात् उनके गीत दिए गए है जिसमें उनकी प्रतिभा का अनूठा विकास हुआ है।

(१४) जौहर—श्री श्यामनारायण पाण्डेय द्वारा रचित इक्कीस चिनगा-रियों में समाप्त हुआ है। यह काव्य वीर एव करुण रस से ओतप्रोत है किन्तु सानुबन्ध कविता का अभाव है।

(अ) युद्ध का प्रारम्भ स्वाभाविक नही है।

(ब) अलाउद्दीन के युद्ध के हारने पर काम-वासना का स्थान ही शेष न रहेगा। उस समय लज्जा अथवा ग्लानि हो सकती है। उन्माद होना वहीं पर सम्भव होता है जहाँ पर युद्ध न हुआ हो। अतः अलाउद्दीन खिलजी का उन्माद अवैज्ञानिक है।

(स) तीसरी और चौथी चिनगारियाँ कथा को अग्रसर करने में सहायक नहीं होतीं। यह हो सकता है कि अपनी हार को जीत में परिणत करने के लिए खिलजी के मन में युद्ध की इच्छा उत्पन्न हुई हो और युद्ध की घोषणा कर दी गई। मृगदम्पति द्वारा अभिशाप निरी कल्पना है। रत्नसेन का बन्दी होना भी अस्वाभाविक लगता है।

(द) पन्द्रहवीं और सोलहवीं चिनगारियाँ उचित नहीं कही जा सकती हैं। एक ओर तो नगर तोपों की मार से विध्वंस किया जा रहा है और दूसरी ओर श्रृंगार का वर्णन, विशेषकर रानी की रतनसेन से मिलने

की इच्छा जबकि वह जौहर करने जा रही हो। ये भाव न तो रानी को तेजस्वी बनाते है और न मान-मर्यादा के अनुकूल ही है।

(य) अन्तिम मिलन न तो उचित रूप से प्रदर्शित किया गया है और न उस मानमर्यादा का ध्यान रक्खा गया है जो वीर के लिए शोभा देता। यह साधारण व्यक्ति के लिए भले ही उचित कहा जा सके।

(फ) जौहर के पश्चात् की जितनी चिनगारियाँ है वे अनावश्यक हो जाती है क्योंकि बलिदान ही इस काव्य का अन्तिम ध्येय है जो अठारहवीं चिनगारी में ही समाप्त हो जाता है। उन्नीसवीं, बीसवीं और इक्कीसवी चिनगारियों का महत्त्व इस काव्य के लिए कलेवरवृद्धि-मात्र ही है।

(ज) एक ही वाक्य में एक शब्द की आवृत्ति पुनरावृत्ति दोष में आती है। आठवी चिनगारी में ऐसा कई बार प्रयोग हुआ है। यथा—

"घूम घूम कर मधुप, फूल चूम कर मधुप गा रहे विहान थे,
गूँज रहे गान थे।"

इसमें विहान का प्रयोग उचित नही। और न मधुप की पुनरावृत्ति ही उचित है, जो काव्यसौष्ठव के लिए ग्राह्य नही।

यदि इस काव्य में उपर्युक्त दोष न होते तो यह सुन्दर महाकाव्य होता क्योंकि पाण्डेय जी की शैली प्रवाहपूर्ण है और वर्णन सजीव हुए है।

(?५) *महामानव*—श्री ठाकुरप्रसाद सिंह अग्रदूत द्वारा १५ सर्गों में महात्मा गान्धी के कुछ प्रमुख चित्र अंकित किए गए है। प्रबन्ध काव्य के लिए कुछ चित्रो का अंकन ही पर्याप्त नहीं होता, वरन् कथा का स्पष्ट एवं क्रम-बद्ध आयोजन होना आवश्यक होता है, जिसका इसमें अभाव है। इसमें संघर्ष का ही साम्राज्य है। किसी निश्चित योजना की कल्पना कवि पूर्ण न कर सका। यह सम्भव भी नहीं था क्योंकि जिस समय महात्मा गान्धी जी जीवित थे उसी समय इसकी रचना हो चुकी थी और स्वतन्त्रतादेवी के भी दर्शन नहीं हुए थे क्योंकि उनका अन्तिम लक्ष्य था स्वतन्त्रता प्राप्त करना, जिसके दर्शन सन् १९४७ ई० के अगस्त मास में प्राप्त हुए।

(अ) इसमें महाकाव्य को जीवन की व्याख्या नहीं माना।

(ब) कहानी में केवल उन अंशों को स्वीकार किया गया जिनका सम्बन्ध घात-प्रतिघात से है।

(स) कहानी में कोमल अंश (मार्मिक स्थल) पहिचानने की भी चेष्टा नहीं है।

(द) घटनाओं के स्वाभाविक विकास की चिन्ता भी नहीं की गई। कार्य व कारण सम्बन्ध भी उपस्थित नहीं है।

(य) मानवता का मूल केवल इतना है:—

(क) समानाधिकार,

(ख) शोषण के प्रति विद्वेष,

(ग) सत्य और अहिंसा।

(फ) ये भावनायें केवल सामयिक है। जीवन के शाश्वत सत्य से इनका सम्बन्ध कम है।

(ज) शास्त्रीय दृष्टि से जिस प्रकृतिवर्णन की आवश्यकता थी उसका कोई रूप उपस्थित नहीं है। न तो मानवस्वभाव का विश्लेषण है न इतर प्रकृति का। काव्य का अन्त भी उपन्यास का-सा है। महात्मा के नाम पर मानवीकरण की भावना को केन्द्रित करके आदर्शविशेष को ही सब कुछ मान लिया गया है। द्वन्द्वक्षेत्र भी सीमित है। दमन, अत्याचार और धार्मिक विद्रोह केवल यही कहा गया है।

इन्हीं भावनाओं का मानवीकरण उसी प्रकार किया जा सकता था जिस प्रकार महात्मा गान्धी को मानवता का जामा पहनाया गया। इस काव्य मे छाया के सहारे भावनाओं को व्यक्त करने का उपक्रम है। इन छायाओं की आधारभूमि कहीं स्पष्ट है और कहीं अत्यन्त अस्पष्ट। अतएव कहानी में रसवत्ता नाम को भी नहीं है। "जन-जागरण की महागाथा" नाम देकर गाथा शब्द का मूल्य इस कहानी में घटा दिया गया।

(१६) *शर्वाणी*—यह पं० अनूप शर्मा द्वारा विरचित है। इसमें सात विभाग है, जिनका एक दूसरे से कोई सम्बन्ध नहीं है। इसमें प्रथम विभाग में भगवती की प्रार्थना, दूसरे में चरणार्चना, तीसरे में मन्द-मुस्कान, चौथे में दृष्टिपात (नेत्र), पाँचवें में चक्र-चर्चा, छठे में कृपाण, सातवें में महिषासुर का वध वर्णन है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस ग्रन्थ को सप्तशती बनाने के लिए ७०१ घनाक्षरियाँ लिखी हों। यह ग्रन्थ धारा-वाहिक कथानक को लेकर नहीं लिखा गया है, इसलिए न तो यह खण्डकाव्य है और न महाकाव्य। यह मुक्तक काव्य है।

(१७) *जननायक*—(अ) यह श्री रघुवीरशरण 'मित्र' द्वारा विरचित है। इसमें महात्मा गान्धी के जीवनचरित्र को ३१ सर्गों में अंकित किया गया है। यह ग्रन्थ मौलिक नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि इसकी समस्त घटनायें महात्मा गान्धी द्वारा लिखित 'आत्मकथा' से ली गई हैं। यह चरितकाव्य है, महाकाव्य

नहीं, क्योंकि चरितकाव्य में चरित्रचित्रण पर अधिक जोर दिया जाता है, महाकाव्य में कवित्व पर। चरित प्रचारार्थ लिखे जाते है और महाकाव्य केवल रसास्वादन के लिए[१]।

(ब) इसमें राजनीतिक बातों की कर्कशता अधिक है, काव्यत्व बहुत ही कम।

(स) अप्रासांगिक बातों की भरमार है। देखिए विदाई के अवसर पर 'बा' का लड़के को खिलौना देना कितना हास्यास्पद है। कहीं बालिका अपने भाई से पृथक् होने का साहस करेगी ?

"बा ने दिए खिलौने शिशु को,
तब शिशु का मधु झगड़ा निबटा।"

(द) गोकुलदास मकन का कथन किससे है ? देखिये—

"मैं गरीब हूं क्षमा करो सब,
सेवा में जो कमी रह गई।
मानों श्रद्धा हाथ जोड़ कर,
अपने मन की बात कह गई।
फिर जननी के नयन पूंछ कर,
सुन्दर शुभ सन्देश दिया यह॥
भूत भविष्यत् वर्तमान में,
बेटी तेरी अमर कीर्ति रह॥"

यह बरातियों से कहा जा सकता है। यदि घर के अन्दर बराती हों तभी सम्भव हो सकता है और फिर माँ का पुत्री को उपदेश। भूत में कीर्ति कैसे अमर रह सकती है यह तो कवि ही जान सकता है।

(य) "महासभा कांग्रेस-सूर्य का फैला था प्रकाश भूतल पर।
स्वतन्त्रता की दीपक देखो, जिसकी किरणों पर चल चल कर॥
कलकत्ते के अधिवेशन में, रंग-बिरंगी चहल-पहल थी।
देशभक्ति की मधुर वायु में, जय की मंज़िल बहुत सहल थी॥"

इसका क्या भाव ! इसके आगे की पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैः—

"सब प्रबन्ध भी देखें आओ, देखो खड़े स्वयंसेवक हैं।
मातृभूमि को गर्व इन्हों पर, मातृभूमि पर इनके हक हैं॥
लेकिन सब कर्त्तव्य भूल कर, बातें बहुत गढ़ा करते हैं।
काम न करते नाम चाहते, भूखे मक्क लड़ा करते हैं॥"

१. कृष्णायन की भूमिका, पृष्ठ ३.

इस पद का क्या भाव है ? कौन लड़ा करता है ? देशभक्त अथवा स्वयं-सेवक ? गड़ा का क्या अर्थ ? 'इन्हों' का प्रयोग देखिये ।

(फ) "अफ्रीका का कण-कण रोया, धरती रोयी अम्बर रोया ।
कैसे उसकी विदा सहन हो, धरती अम्बर जिसके ऊपर ॥"

"धरती अम्बर जिसके ऊपर" का क्या भाव ?

(ज) इस काव्य मे आपकी उक्तियाँ देखिये:—

"कोट बूट पतलून डाल कर मोहनदास ठाठ से निकले ।
या मोहन के शुद्ध देह पर, खटमल वृन्द खाट से निकले ।
नये रूप में देख नाथ को, बा पति से मुस्का कर बोली ।
चोली जैसा कोट पहिन कर, किससे चले खेलने होली ?
यह इजार सी क्या पहनी है, सर पर धरा टोकरा सा क्या ?
मूँछ कहाँ उड़ गई तुम्हारी, दिल पर धरा मोगरा सा क्या ?"

क्या कस्तूरबा ऐसी नारी अपने पति से इस प्रकार के प्रश्न कर सकती है ? यह तो कोई पश्चिमी सभ्यता से ओतप्रोत नारी ही कर सकती है। यह प्रश्न ऐसे अवसर पर किया गया जबकि पत्नी अपने पति के दर्शन पाने के लिए एवं उनके प्रेम की इच्छुक थी । यह प्रसग मनोवैज्ञानिक भी नहीं है ।

(ह) प्रयोग भी देखिये:—

'चीस चुभा करती थीं'
'रूढ़ी की चिपटू जौं कौं का'
'नई नई रंगीनी रंग में,
दरवाज़े पर हाथी आया ।'
'छाती का छाता छिलता है'

इस चरितकाव्य को उपदेशात्मक काव्य बना दिया गया है। जिस स्थल पर देखिये वहीं पर प्रशंसा के पुल बाँधे जा रहे हैं । माँस-निषेध की व्याख्या की जा रही है । नमक, आमिष त्यागने के उपदेश दिए जा रहे हैं; बुखार, रोग से छुड़ाने की विधि बतलाई जा रही हैं । यदि काली का मन्दिर देखा गया अथवा काशी के घाटों का अवलोकन किया गया तो वहाँ का दृश्य वर्णन करना तो दूर रहा, वरन् एक उपदेशक के-से अकर्मण्य विचार प्रकट किए गए। इस प्रकार काव्य प्रबन्धकारिता की अनेक शिथिलताओं का शिकार हो गया है । भाषा-भाव सबमें शैथिल्य है ।

(१८) *उर्मिला*—पं० बालकृष्ण शर्मा नवीन द्वारा रचित बतलाया जाता है जिसके कुछ अंश 'प्रभा' पत्रिका में प्रकाशित हुए थे, किन्तु पूर्ण ग्रन्थ के दर्शन अभी नहीं हुए है । अतः इस पर कुछ नहीं कहा जा सकता ।

वर्गीकरण:—उपर्युक्त कथित महाकाव्यों का कुछ विवेचन किया जा चुका है और उनमें से कुछ कमियों की ओर ध्यान आकर्षित किया गया है। अब शेष महाकाव्यों की नामावली उनके रचना-काल के क्रमानुसार दी जाती है:—

प्रथम—प्रियप्रवास, रामचरितचिन्तामणि, साकेत।

द्वितीय—कामायनी, नूरजहाँ, सिद्धार्थ, वैदेही-बनवास, दैत्यवंश।

तृतीय—कृष्णायन, साकेत-संत, विक्रमादित्य।

पौराणिक काल में जब ईश्वर का अवतार लेना प्रतिष्ठित हुआ, तबसे लेकर आज तक वह विचार भारतीय साहित्य का प्रधान अंग बन गया। भक्तिकाल तो इसके लिए प्रसिद्ध ही रहा है। इस काल में फिर विचारों में परिवर्तन हुआ और राम-कृष्ण को मानव के स्वरूप में व्यक्त किया गया। इस प्रकार प्रबन्ध काव्य के विषय नायकों के अनुसार तीन प्रकार से विभाजित हो गए और उसी प्रकार उनकी रचना प्रारम्भ हुई।

प्रथम समुदाय ने ईश्वरावतार मान करके राम, कृष्ण और बुद्ध को ईश्वर का स्वरूप प्रदान किया। इस विचारधारा को लेकर निम्नलिखित काव्यों की रचना हुई:—

साकेत, सिद्धार्थ तथा कृष्णायन।

दूसरे समुदाय ने प्राचीन आदर्श महापुरुषों और महावीरों को नायक बनाकर काव्यों का प्रणयन किया। इन ऐतिहासिक महापुरुषों में राम और कृष्ण को एक आदर्श महापुरुष के रूप में चित्रित किया गया है। ये प्राग्-ऐतिहासिक काल के हैं और शेष ऐतिहासिक युग के हैं। इस आधार पर अधोलिखित महाकाव्यों की रचना हुई:—

प्रियप्रवास, रामचरितचिन्तामणि, कामायनी, नूरजहाँ, वैदेही-बनवास, साकेत-सन्त और विक्रमादित्य।

तीसरे समुदाय ने देवताओं के स्थल पर दैत्यों को नायक बनाकर काव्य निर्मित किये। उनमें दैत्यवंश महाकाव्य की रचना हुई।

पञ्चम अध्याय

आधुनिक महाकाव्यों के विषय और उपादान

वैदिक काल में वरुण, अश्विन और आदित्य आदि देवताओं और हेमवती, उषा जैसी देवियों का वर्णन मिलता है। उस काल में यही देव-देवी काव्य के विषय थे, किन्तु पौराणिक काल में पहुँचते-पहुँचते उन सबका स्थान त्रिदेव (ब्रह्मा, विष्णु, महेश) गणेश, कुबेर और दुर्गा ने ले लिया था। अवतारवाद पुराणों का प्रधान विषय बन गया था। उनमें विष्णु के दश अवतारों का वर्णन है तथा देवताओं की पूजा के और पर्वो-व्रतों के रखने के नियम वर्णित हैं। इन्द्र जैसे देवता स्त्री-पुरुष वाले कुटुम्बीजन बन जाते है। वे स्वर्ग में रहते है, सुन्दर विशाल भवनों के स्वामी है और मनुष्यों की तरह व्यवहार करते हैं। देवी-देवता भी काव्य के विषय बनते रहे हैं। इस प्रकार आदि काल से लेकर आज तक मानव और प्रकृति काव्य-साहित्य के प्रधान विषय और उपादान होते आये है। इसके अतिरिक्त आधुनिक काल में जब राष्ट्र एवं देश के प्रति प्रेम की भावना जागत हुई तो राष्ट्र एवं देश-प्रेम भी काव्य के विषय बन गए। अतः (१) मानव (२) प्रकृति (३) राष्ट्र एवं देश प्रेम महाकाव्यों के प्रधान विषय हो गए।

(१) *मानव* — आदि महाकाव्य के रचयिता काव्यकलाधर श्री वाल्मीकि जी ने रामचरित का ही गुणगान किया है क्योंकि राम जैसे धीरोदात्त नायक अथवा महापुरुष ही काव्य के विषय बन सकते थे। कालपरिवर्तन के साथ ही नायकों में भी परिवर्तन प्रारम्भ हो गया और महाभारत-काल में हम देव-पुत्रों को नायक पाते है। पाण्डु के पुत्र देवसंभव थे। यही नहीं, जब हम पौराणिक काल में पहुँचते हैं तो वे देवपुत्र से बढ़कर ईश्वर का स्थान ग्रहण कर लेते हैं। कालिदास के समय तक और भी परिवर्तन हो चुके थे। अब देवी-देवता नायक के पद पर आसीन थे। शंकर महादेव थे और पार्वती जी देवी थीं। ये दोनों कुमारसम्भव में नायक और नायिका के पद पर सुशोभित हो रहे थे। इस प्रकार प्रारम्भ में मानव नायक के पद पर आसीन था। उसी ने ईश्वर और देवता का पद ग्रहण कर लिया था। इसकी प्रतिक्रिया होनी स्वाभाविक थी। वीरगाथा युग में राजा अथवा उनके सेनापति नायक के पद पर आसीन थे जो महाकाव्य के विषय बन गए थे। भक्तियुग के आगमन पर वे फिर

ईश्वर के अवतार बन गए किन्तु रीतिकाल के प्रारम्भ होते ही नायिका-भेद काव्य का प्रधान विषय बन गया था। इस प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक कवियों के प्रधान विषय (१) ईश्वरावतार (दिव्यादिव्य) (२) देवी-देवता (दिव्य) (३) महापुरुष और उनके सेनापति (अदिव्य) और (४) नायिका-भेद थे।

आलोच्य काल में एक ओर धार्मिक महापुरुषों के प्रयास से भारतीय जीवन में सांस्कृतिक चेतना का प्रस्फुरण हुआ और दूसरी ओर राजनीतिक हलचल के कारण देश-प्रेम का सूत्रपात हुआ। नायिका-भेद, जो काव्य का विषय बन गया था, उसका स्थान देश-प्रेम, धर्म-प्रेम एवं जाति-प्रेम ने ले लिया और राजाओं के स्थान पर साधारण मानव की प्रतिष्ठा हुई। इस तरह मानव के–जो कविता का विषय आदि काल से रहा है–अनेक रूप आधुनिक महाकाव्यों में दिखाई देते हैं।

(अ) दिव्यादिव्य अथवा अवतारवाद आधुनिक काल मे आर्यसमाज के प्रचार से तथा वैज्ञानिक शिक्षा के कारण कुछ विचारवान् पुरुषों को ईश्वर के अवतारवाद में विश्वास न रहा। इसका प्रभाव कवियों पर भी पड़ा और उसके फलस्वरूप दो विचारधाराएं प्रवाहित हो चली। प्रथम विचारधारा में राम और कृष्ण को जाति अथवा मानवता के सर्वोच्च प्रतीक के रूप में कल्पित किया गया है और उनमें किसी प्रकार की मानवीय दुर्बलता की कल्पना नहीं की गई है। प्रियप्रवास इसका साक्षी है। कृष्ण को, जो भक्तिकाल में ईश्वर और भगवान् के रूप में और अमानुषिक कृत्य—जैसे गोवर्धन को उठा लिया था—करते हुए दिखलाए गए थे, आदर्श कर्ममय रूप में प्रस्तुत किया गया है। अभी तक कृष्ण के अमानुषिक रूप के प्रति विशेष अनुराग था। इस दशा में कृष्ण से ईश्वरत्व निकालकर उन्हें आदर्श मानव रूप में प्रकट करना साधारण कार्य न था। हरिऔध जी ने प्रियप्रवास में यही कठिन कार्य (अतिमानुषिक कार्य) स्वाभाविक रूप में किया है। उन्होंने अति पीड़ित जनता को—जो कि मूसलाधार जलवृष्टि होने के कारण डूबने-उतराने लगी थी और अपना धैर्य नष्ट कर चुकी थी— कृष्ण के बल-कौशल द्वारा उनकी रक्षा कराने के लिए गोवर्धन पर्वत की सुरक्षित कन्दराओं में पहुँचाने का सुन्दर आयोजन महाकाव्य में उपस्थित कर दिया। प्रत्येक व्यक्ति इस बात को स्वीकार करेगा और उसे किसी प्रकार की आपत्ति नहीं हो सकती। यही प्रियप्रवास की महत्ता है कि श्रीकृष्ण को श्रेष्ठ मानव के रूप में व्यक्त किया गया है।

रामचरितचिन्तामणि में कवि को राम के चरित्र को अदिव्य रूप में चित्रित करने के लिए विशेष प्रयत्न नही करना पडा क्योंकि रामचरित में अमानवीय घटनाएँ है ही नही। वाल्मीकि ने अपने महाकाव्य मे राम को मानव के रूप में ही अंकित किया है किन्तु रामचरित उपाध्याय का प्रयत्न रामायण की कथा को एक भिन्न रूप देने का रहा है। उसमे उन्होने राजनीतिक दृष्टिकोण से राम लक्ष्मण, सीता आदि को प्रस्तुत किया है।

वैदेही-बनवास में राम का स्वरूप एक आदर्श नृप के रूप मे प्राप्त होता है। नृप राम लोकापवाद को अनसुना नही कर सकता—

"पठन कर लोकाराधन मन्त्र,
करूँगा मैं इसका प्रतिकार।
साध कर जग हित साधन सूत्र,
करूँगा घर - घर शान्ति प्रसार॥"

दूसरी विचारधारा के पोषक मैथिलीशरण गुप्त और श्री द्वारिकाप्रसाद मिश्र है। ये लोग इस बुद्धिवादी युग मे रामकृष्ण को दिव्यादिव्य स्वरूप प्रदान करते है और ईश्वरत्व में पूर्ण विश्वास करते है। साकेत में गुप्त जी कहते है कि—

"राम तुम मानव हो, ईश्वर नहीं हो क्या?
विश्व में रमे हुए सभी कहीं हो क्या?
तब मैं निरीश्वर हूँ, ईश्वर क्षमा करे।
तुम न रमो तो मन, तुम में रमा करे॥"

मैथिलीशरण के विश्वास पर आधुनिक बुद्धिवाद का कोई प्रभाव न पडा किन्तु उनकी कविता पर अवश्य पडा है। उन्होने अपने काव्य-ग्रन्थों मे अतिमानुषिक और अलौकिक प्रसंगों का चित्रण नहीं किया।

कृष्ण के ईश्वरत्व में पूर्ण विश्वास करने वाले श्री द्वारिकाप्रसाद मिश्र हैं। मिश्र जी ने श्रीकृष्ण की पूर्वकथा तथा बाललीला का वर्णन अलौकिक रूप में किया है। काव्य के प्रारम्भ का अंश पढ़ते ही दृढ़ निश्चय हो जाता है कि चरितनायक उनके सुपरिचित भगवान् कृष्ण है, कोई भिन्न व्यक्ति नहीं। कृष्ण के अमानवीय तथा अलौकिक कृत्यों के दर्शन पग-पग पर होते हैं। यथा—

"सुनत श्याम यशुमति वचन, कीन्ह वदन विस्तार।
विकल मातु शिशु मुख लखेउ, कोटिन विश्व प्रसार॥"

राजस्थान वीरता का केन्द्र रहा है। इसने स्वाधीनता के लिए सर्वस्व-त्याग किया है। इसी हेतु पद्मिनी का जौहर, प्रताप का त्याग कवियों की अमर कृतियों द्वारा प्रकट हुआ है। आधुनिक काल में भारत ने स्वाधीनता के लिए सफल परिश्रम किया। उसे विक्रमादित्य ऐसे वीर पुरुषो की आवश्यकता थी जो विदेशियों को शकों की तरह बाहर निकाल देते। इसलिए विक्रमादित्य (चन्द्रगुप्त) महाकाव्य का नायक बना। उसके "अरि की रथसेना कुचल गजों ने पग से रज मे मिला दिया। दाँतों से हयदल छेद-छेद उसमे भी भगदड़ मचा दिया।"

त्याग भी एक वीरता का अंग है। भरत-ऐसे त्यागी महापुरुषों के चरित्र द्वारा हमारे राष्ट्र का उत्थान हो सकता है। इस कमी की पूर्ति बल्देवप्रसाद मिश्र ने साकेत-सन्त द्वारा की और हमें त्यागी भरत का सुन्दर चरित्र प्रदान किया। राम के कथन द्वारा भरत की महत्ता का आभास मिलता है—

> "बोले राम, धर्मसंकट से, आज भरत ने जगत उबारा।
> सबका दुःख अपने में लेकर, सबको सुख का दिया सहारा॥
> वह अनुराग त्यागमय अनुपम, बड़े भाग्य यदि कोई पाये।
> देव मनुज की महिमा समझें, सुर नर के दर्शन कर जाये॥"

इसी प्रकार वीर, त्यागी महापुरुष महाकाव्यों के विषय बने।

(स) सामान्य मानवता, मानवीय आदर्श और यथार्थ दिव्यादिव्य एवं वीर पुरुषों के अतिरिक्त साधारण पुरुष भी महाकाव्य के विषय हो सकते हैं क्योंकि इनमें भी आदर्श गुण मिल सकते हैं, परन्तु सामान्य मानवता की ओर हमारे कवियों ने विशेष ध्यान नहीं दिया, यद्यपि संसार में सामान्य मानवता का ही बाहुल्य है। राजा, महान् योद्धा सीमित सख्या में ही प्राप्त होते हैं। आलोच्य काल में कवियों ने प्रबन्ध काव्यों में इनके आदर्शों की योजना की है, जैसे नूरजहाँ। नूरजहाँ का जीवन सामान्य मानवता से उठकर साम्राज्ञी तक पहुँचता है। किन्तु इसमें यथार्थता का चित्रण प्रमुख है, जैसे अनारकली एक सामान्य वेश्या है किन्तु वह प्रेम में अपना सर्वस्व अर्पण कर देती है। उसे न राज्य की आकांक्षा है और न अकबर के प्राणदण्ड की चिन्ता, यदि कोई चिन्ता है तो सलीम की गोद में प्राण-उत्सर्ग की। प्राणदण्ड ग्रहण करने के लिए वह सदैव तत्पर है। उसका कथन उसके हृदय की भाप है—

"मैं रानी नहीं बनूंगी, रहने दो मुझे भिखारिन।
मैं जपा करूँगी माला, अपने प्रियतम की निशदिन॥"

यही नहीं, नरहरि भी एक साधारण जमींदार है। उसमें भी कर्त्तव्यपालन की दृढ़ता है। उसे कोई भी अपने पथ से विचलित नहीं कर सकता। इस प्रकार हम देखते है कि सामान्य मानव में भी शौर्य, वीरता, पर-सेवा, परोपकार, क्षमा, त्याग तथा देशभक्ति आदि गुण अधिकता से मिलते है।

अभी तक देवता ही नायक के पद पर आसीन हो सकते थे, किन्तु इस युग में साधारण मानवता की बात ही क्या दैत्य भी नायक हो सकते है। हरदयाल जी ने दिव्य पुरुषों के प्रतिद्वन्द्वी दैत्यों को 'दैत्यवश' महाकाव्य का नायकत्व प्रदान किया है। वे दैत्य भी इस साधारण मानवता की श्रेणी में आते है।

इन चरित्रों में नायक और नायिकाओं के गुण और अवगुण दोनो प्रतिबिम्बित होते है। इस प्रकार के चरित्र यथार्थ और आदर्श दोनों कहे जा सकते है, जो इस युग की नवीनतम देन कही जा सकती है।

(२) *प्रकृति*—सृष्टि के प्रारम्भ से ही मानव का प्रकृति के साथ घनिष्ट सम्बन्ध रहा है। वह उसकी क्रीड़ास्थली रही है। इस हेतु वह उसके सौन्दर्य एव उपयोगिता से प्रभावित है। इसी कारण उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकी और वह हमारे काव्यों की मुख्य अंग रही है। सस्कृत काव्यों में इसका वर्णन प्रचुर मात्रा मे उपलब्ध होता है। मुख्यतया रघुवश में। इसमें उसका बहुत ही सुन्दर एव मार्मिक वर्णन है। इसमें जड़ एव चेतन प्रकृति का सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवेचन किया गया है, किन्तु उसके पश्चात् के कवि उस परम्परा को अक्षुण्ण न रख सके। भक्ति एवं रीतिकाल में उसका वर्णन आलंकारिक चमत्कार दिखलाने एवं उद्दीपन के रूप में हुआ है। आधुनिक काल में फिर से प्रकृति का वर्णन विशद और यथार्थ रूप में होने लगा है। उसके चित्रण के लिए अनेक शैलियों का प्रयोग हुआ है। प्रकृति का पहला रूप वह होता है जिसमें प्रकृति भाव का आलम्बन बनती है। दूसरे रूप में प्रकृति कवि के भाव का उद्दीपन बनती है।

(अ) प्रकृति का आलम्बन रूप में प्रकृति का रम्य स्वरूप जब चित्रित किया जाता है तब उसका वास्तविक रूप उतारना पड़ता है। इस चित्र को कवि अपनी मनोवृत्ति के अनुरूप ही आकार देता है। भारतीय परम्परा में इसका दो प्रकार से वर्णन किया गया है—एक तो अर्थग्रहण में दूसरे बिम्बग्रहण मे।

(क) अर्थग्रहण मे केवल वस्तुओं का परिगणन होता चला आ रहा है। वास्तविक चित्र उतारने का प्रयास नहीं किया जाता। यह महाकाव्यों का एक प्रधान लक्षण समझा जाता था। जैसे—जायसी का वन-वर्णन, जिसमें अनेक वृक्षों के नाम, समुद्रवर्णन, पक्षीवर्णन आदि में उनके नाम का परिगणनमात्र है। इस परम्परा का निर्वाह करने के हेतु प्रियप्रवास में अयोध्यासिंह उपाध्याय ने वृक्षों की गणनामात्र की है और इसी भ्रम में वहाँ का करील वृक्ष भुला ही दिया गया है। देखिये—

"तरु तालीस तमाल ताल, हिन्ताल मनोहर,
मंजुल वंजुल लकुच बकुल, कुल केरि नारियल।"

(ख) बिम्बग्रहण में कवि प्रकृति के भिन्न-भिन्न अवयवों की संश्लिष्ट योजना करके उसकी प्रतिमा खड़ी कर देता है। इसमें नामपरिगणन नहीं होता है बल्कि प्रकृति के नैसर्गिक सौन्दर्य और उल्लास का चित्रण होता है। इसमें प्रकृति की विभिन्न स्थितियों का अंकन होता है। जब कवि प्रकृति के मधुर रूप को देखता है तब वह उसके मधुर दृश्य का चित्रण करता है।

प्रियप्रवास में अयोध्यासिंह उपाध्याय ने चन्द्रकान्ति का वर्णन करते हुए वृक्षलता आदि पर निर्मल ज्योति कैसी उत्तम प्रतीत होती है इसका सुन्दर चित्रण किया है। देखिये—

"थे स्नात से सकल पादप चन्द्रिका से,
प्रत्येक पल्लव प्रभामय दीखता था।
सारी लता सकल बेलि समस्त शाखा,
डूबी विचित्रतर निर्मल ज्योति में थी॥"

प्रसाद जी ने प्रातःकाल का सजीव वर्णन किया है। देखिये—

"उषा सुनहले तीर बरसती, जय लक्ष्मी-सी उदित हुई।
उधर पराजित कालरात्रि भी, जल में अंतर्निहित हुई॥"

—कामायनी

इसी प्रकार जब कवि प्रकृति के रुद्र एवं भयंकर रूप को देखता है तब उसके भीषण स्वरूप को ऐसा दिव्य रूप दे देता है कि उसका भीषण स्वरूप प्रत्यक्ष दिखाई पड़ता है। भीषणता का एक उदाहरण देखिये—

"पंच भूत का भैरव मिश्रण, शंपाओं के सकल निपात।
उल्का लेकर अमर शक्तियाँ, खोज रहीं ज्यों खोया प्रात॥"

दूसरे, जब कवि प्रकृति को रम्य एवं चेतनायुक्त देखता है तो उसकी हृद्-कली उत्फुल्ल हो उठती है और वह उसका मानव से तादात्म्य स्थापित करता है। इस दशा में कवि प्रकृति का वर्णन मानव की तरह करता है। आधुनिक महाकाव्यों में कामायनी, नूरजहाँ आदि में इसका सुन्दर चित्रण हुआ है। देखिये—

"धीरे धीरे हिम आच्छादन, हटने लगा धरातल से,
जगीं बनस्पतियाँ अलसाईं, मुख धोतीं शीतल जल से।
नेत्र निमीलन करती मानो, प्रकृति प्रबुद्ध लगी होने;
जलधि लहरियों की अँगड़ाई, बार बार जाती सोने।"

—कामायनी

इस स्थल पर कवि ने निर्जीव वस्तुओं का चित्रण जीवधारियों की तरह किया है। दूसरा उदाहरण और देखिये—नूरजहाँ में अनार की स्थिति विचित्र है। उसके सामने एक नदी है जिसने उसके मार्ग को रोध दिया है। नदी का स्वरूप भी इसी अनार की तरह है। नदी का मानवीकरण देखिये—

"है तपस्विनी वह कृशकाया, फेरा करती मणिमाला है।
शिव बना बना कर सलिल, चढ़ाती रहती वह गिरिबाला है॥
निर्मल जल में हैं झलक रहे, बालू के एक एक कण कण।
आराध्यदेव उसके अन्तर में प्रकट दिया करते दर्शन॥
वह नित घटती ही जाती है, हो गई सूख कर काँटा है।
कर दिया परिश्रम ने उसके पत्थर-पथ को भी आटा है॥"

—नूरजहाँ

तीसरे प्रकार के प्रकृतिचित्रण में कविलोग प्रकृति का वह स्वरूप ग्रहण करते है जिसके द्वारा वे मानव को उपदेश एवं सन्देश देते है। इस प्रकार की प्रवृत्ति तुलसी द्वारा निरूपित है किन्तु इस उपदेशक वृत्ति से कविवृन्द को विरक्ति होने लगी है। उपदेश का उदाहरण देखिये—

"बढ़ा स्व शाखा मिस हस्त प्यार का,
दिखा घने पल्लव की हरीतिमा।
परोपकारी जन तुल्य सर्वदा;
अशोक था शोक सशोक मोचता॥"

—प्रियप्रवास

चौथे प्रकार के प्रकृतिचित्रण मे कविवृन्द ने उसका यथार्थ स्वरूप अंकित किया है। उस चित्रण मे न तो उसने अपनी ओर से कुछ वृद्धि ही की है और न उसकी शक्ति का अपहरण ही किया है। देखिये—

"दिवस का अवसान समीप था,
गगन था कुछ लोहित हो चला।
तरु शिखा पर थी अब राजती,
कमलिनी कुल वल्लभ की प्रभा॥"
—प्रियप्रवास

पाँचवें प्रकार के प्रकृतिचित्रण को कवि मानवजगत् की घटना का पृष्ठाधार बनाता है। इसको वह कई प्रकार से चित्रित करता है, कहीं पर अनुकूल पृष्ठाधार के स्वरूप में और कही पर प्रतिकूल पृष्ठाधार के रूप में। प्रियप्रवास, कामायनी, वैदेही-बनवास में प्रायः इसी प्रकार के वर्णन प्राप्त होते हैं।

अनुकूल पृष्ठाधार देखिये—

"हिमगिरि के उत्तुंग शिखर पर, बैठ शिला की शीतल छाँह;
एक पुरुष भीगे नयनों से, देख रहा था प्रबल प्रवाह।
दूर दूर तक विस्तृत था हिम, स्तब्ध उसी के हृदय समान
नीरवता सी शिलाचरण से टकराता फिरता पवमान।"
—कामायनी

कवि ने कामायनी के विषय के अनुकूल ही चित्रपट खींचा है। मनु के हृदय के अनुरूप ही विस्तृत हिम भी स्तब्ध है।

प्रतिकूल पृष्ठाधार के स्वरूप मे एक चित्र देखिए, यथा—

वैदेही-बनवास के पंचम सर्ग में प्रकृति के सौम्य एवं मनोहर वर्णन के पश्चात् उसी का अदिव्य रूप प्रस्तुत किया गया है। इससे विदित होता है कि उस सती सीता पर दुःख के बादल आने वाले हैं—

"दिवि-दिव्यता अदिव्य बनी अब नहीं, दिग्वधू हँसती थी।
निशा-सुन्दरी की सुन्दरता अब न दृगों में बसती थी॥
कभी घन-पटल के घेरे में, झलक कलाधर जाता था।
कभी चन्द्रिका बदन दिखाती, कभी तिमिर घिर आता था॥"

छठे प्रकार के प्रकृतिचित्रण को जब कवि छायावाद द्वारा व्यक्त करता है उस समय वह अपने हृद्-गत भावों का आरोप प्रकृति में करता है और उनको प्रकट करने के लिए कई प्रकार की विधियों को अपनाता है।

प्रथम—वह उसमें नारी के व्यक्तित्व का आरोप करता है और उसके मूर्त्त-माँसल रूप की सृष्टि करता है। आलोच्य काल में प्रकृति की सूक्ष्म भावनाओं के मूर्त्त लाक्षणिक प्रयोग प्रचुरता से मिलते है। कही-कहीं पर तो प्रकृति अधिक मूर्त्तिमान कर दी गई है। एक उदाहरण, जिसमें रजनी का चित्रण किया गया है, देखिए—

"विश्वकमल की मृदुल मधुकरी, रजनी तू किस कोने से
आती चूम चूम चल जाती, पटी हुई किस टोने से?
किस दिगन्त रेखा में इतनी संचित कर सिसकी सी साँस,
यों समीर मिस हाँफ रही सी, चली जा रही किसके पास??
घूँघट उठा देख मुस्क्याती, किसे ठिठकती सी आती,
विजन गगन में किसी भूल सी किसको स्मृति पथ में लाती?"

—कामायनी

इस स्थल पर आध्यात्मिक प्रियतम का सकेत भी स्पष्ट दिखलाई देता है।

द्वितीय—दूसरे मानव भावनाओं (हृदय की विभिन्न मनोदशाओं) का आरोप करता है।

यथा—

"जीवन में सुख अधिक या कि दुःख, मंदाकिनि कुछ बोलोगी।
नभ में नखत अधिक सागर में या, बुदबुद हैं गिन दोगी?"

❀ ❀ ❀

"श्रद्धा देख रही चुप मनु के भीतर, उठती आँधी को।"

नखत = सुख
बुदबुद = दुःख
आँधी = भावनाओं का प्राचुर्य तथा प्राबल्य।

इन प्रकृति के उपकरणों से मानव के हृदय की अन्तर्भावनाओं का सुन्दर प्रकटीकरण हुआ है।

तृतीय—रहस्यवादी प्रयोग—जब कवि आध्यात्मिक अनुभूति करता है तो प्रकृति के द्वारा आत्मा का परमात्मा के साथ मिलन करता है।

यह ईश्वरोन्मुख प्रेम प्रकृति के प्रेम के साथ मिलकर रहस्यवाद का रूप धारण कर लेता है। एक उदाहरण—

"महानील इस परम व्योम में, अंतरिक्ष में ज्योतिर्मान।
ग्रह, नक्षत्र और विद्युत्कण, किसका करते से संधान॥

छिप जाते हैं और निकलते, आकर्षण में खिंचे हुए।
तृण वीरुध लहलहे हो रहे, किसके रस से सिंचे हुए ?"
—कामायनी

(ब) प्रकृति का उद्दीपन रूप में मानवहृदय की रागात्मक वृत्तियों को प्रकाश में लाने के लिए नानारूपिणी प्रकृति अपना सहयोग प्रदान करती है और रस का संचार करती है। रसों की निष्पत्ति में प्रकृति का वर्णन उद्दीपन रूप में किया जाता है। रीतिकाल में प्रकृति का वर्णन अधिकांश इसी रूप मे प्राप्त होता है।

प्रबन्ध काव्यों में पात्रो के क्रिया-कलापों के अनुकूल पृष्ठभूमि देने की आवश्यकता होती है। इस कारण प्रकृति का वर्णन भी इस प्रकार किया जाता है कि वह कथा के अनुकूल हो जाय। प्रायः नायक और नायिका के संयोग अथवा वियोग के चित्रण में प्रकृति ही उद्दीपन विभाव बनती है। चन्द्र-ज्योत्स्ना, मलय समीर, वसन्तऋतु की रमणीयता रति को स्थायित्व प्रदान करने के लिए आते हैं। यही नायक और नायिका के संयोग पक्ष में उल्लास का उद्दीपन करते है; इसके प्रतिकूल वियोग पक्ष में वेदना का संचार करते हैं। षट्ऋतु-वर्णन की परम्परा उद्दीपन के ही कारण चली। इसका चित्रण भी कई प्रकार से किया जाता है।

प्रकृति की सहानभूति प्रकृति मानव की प्रसन्नता में प्रसन्न और दुःख में दुःखी दिखलाई पड़ती है। यहाँ मनु एवं कामायनी में वासना का संचार हो रहा है, प्रकृति भी वासनामयी हो रही है। देखिये—

"सृष्टि हँसने लगी, आँखों में खिला अनुराग।
राग रंजित चन्द्रिका थी, उड़ा सुमन पराग॥
और हँसता था अतिथि, मनु का पकड़ कर हाथ।
चले दोनों स्वप्न-पथ में, स्नेह सम्बल साथ॥
देवदारु निकुञ्ज गह्वर, सब सुधा में स्नात।
सब मनाते एक उत्सव, जागरण की रात॥
आ रही थी मदिर भीनी, माधवी की गन्ध।
पवन के घन घिरे पड़ते थे बने मधु अन्ध॥" —कामायनी

अलंकार-योजना प्रायः सभी कवियों ने प्रकृति को अलंकार रूप में व्यक्त किया है। कमल कभी कपोल का उपमान बना तो कभी नेत्रों का। इसी प्रकार नायिका के ओष्ठ, दन्त, नाक— विद्रुम, मोती, शुक की चोंच से क्रमशः वर्णन किये हैं। इनका प्रयोग कभी

रूपक, कभी उत्प्रेक्षा और कभी उपमा अलंकारों द्वारा सादृश्य के आधार पर किया जाता है। आलोच्य काल में प्रायः सभी कवियों ने इस शैली को अपनाया है। विशेषकर हरिऔध और जयशंकर प्रसाद ने प्रकृति की अक्षय निधि से उत्प्रेक्षा और रूपकों की अभिनव सृष्टि की। एक उदाहरण देखिए—

"नील परिधान बीच सुकुमार खुल रहा मृदुल अधखुला अंग।
खिला हो ज्यों बिजली का फूल मेघ बन बीच गुलाबी रंग॥
आह! वह मुख परिचय का व्योम बीच जब घिरते हों घनश्याम।
अरुण रवि मण्डल उनको भेद दिखाई देते हों छविधाम॥"

—कामायनी

प्रतीकयोजना और अन्योक्तियाँ कवि प्रतीकों द्वारा प्रस्तुत से अप्रस्तुत का ही संकेत करते हैं। प्रतीकों द्वारा वासनामय सौन्दर्य का एक चित्र देखिये—

"यह मुकुल अभी ही खिल कर मुख खोल अवाक् हुआ है।
है अभी अछूता दामन मधुपों ने नहीं छुआ है॥
है हृदय पुष्प अनबेधा है नहीं किसी ने तोड़ा।
शृंगारहार का करके है नहीं गले में छोड़ा॥
मन-मन्दिर सुरुचि बना है है प्रतिमा अभी न थापी।
यौवन है उठा घटा सा नाचा है नहीं कलापी॥"

—नूरजहाँ

अन्योक्तियाँ—"नीच मनुज के साथ नीच ही रह सकता है।
क्योंकि वही नीचत्व नीच का सह सकता है॥
करके उसका संग नीचता कौन पढ़ेगा?
अधम रजक को छोड़ गधे पर कौन चढ़ेगा??
इन नीचों के योग्य ही,
रसिक मिले हैं काक भी।
अन्य पतंग इनकी तरफ,
क्यों सकते हैं ताक भी॥"

—रामचरितचिन्तामणि

इस प्रकार हम प्रकृति के चित्रण महाकाव्यों में विभिन्न प्रकार से देखते हैं। यदि हम उसका एक चित्र दे दें तो अनुचित न होगा—
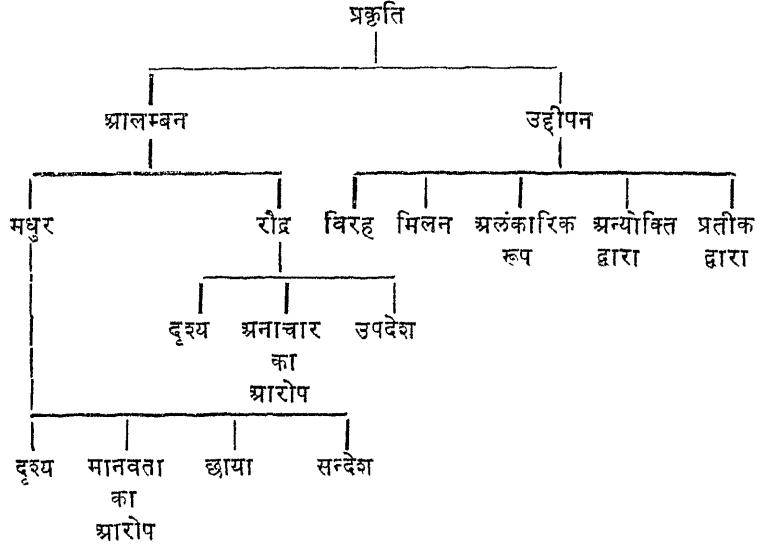
(२) *प्रेम*—प्रेम शब्द इतना व्यापक है कि इसके दर्शन किसी न किसी रूप में आदिकाल से प्राप्त हो रहे है। वीरगाथाकाल में इसके दर्शन अनायास ही प्राप्त हो जाते थे क्योंकि यह महाकाव्यों का एक प्रधान विषय था। उस समय किसी युवती के प्रेम में अथवा पाणिग्रहण के लिए ही बहुधा युद्ध हुआ करते थे। उसी में शौर्य के साथ प्रेम का तत्त्व भी मिला रहता था। आगे चलकर वही प्रेम भक्ति के रूप में परिणत हो गया। रीतिकाल में पहुँचते-पहुँचते उसने कामपूर्ति एवं कुत्सित भावना का स्वरूप धारण कर लिया। किन्तु बीसवीं शताब्दी के पदार्पण पर उसी प्रेम ने अपना मार्ग प्रशस्त किया और उसमें विविध परिवर्तन हो गये। इस युग में स्त्री कामवासना की तृप्ति का साधनमात्र नहीं रहीं, बल्कि वह शुद्ध प्रेम करने की केन्द्र बनी। वह प्रेम करना जानती है और उस प्रेम पर अपने को उत्सर्ग भी कर सकती है क्योंकि वही प्रेम शुद्ध कहा जा सकता है जिसमें आत्मत्याग की भावना निहित हो।

प्रियप्रवास में राधा को हम श्रीकृष्ण के प्रेम में रंगा हुआ पाते हैं और वही उसका प्रेम लोक-प्रेम में पर्यवसित हो जाता है—

> **"दीनों की थी बहिन जननी थी अनाश्रितों की,**
> **आराध्य थीं ब्रज अवनि प्रेमिका विश्व की थीं।"**

वैदेही-बनवास में सीता लोकाराधना के लिए ही बन जाना स्वीकार करती हैं और अन्त में उसी प्रेम में लीन हो जाती हैं। कामायनी की श्रद्धा तो प्रेम

की प्रतिमूर्ति है। वह समस्त जीवधारियों से प्रेम करती है और मनु को भी प्रेम करने का उपदेश देती है—

"औरों को हँसते देखो मनु हँसो और सुख पाओ।
अपने सुख को विस्मृति कर लो सबको सुखी बनाओ ॥"

आधुनिक काल के कवि प्रेमाभिव्यक्ति में बहुत ही सावधान रहते हैं। वे उस प्रेम में अश्लीलता का भाव नहीं आने देते हैं। गुरुभक्तसिंह ने नूरजहाँ में प्रेम को गीता के कर्मयोग की भाँति निष्काम भक्ति के रूप में व्यक्त किया है। सर्व-सुन्दरी के शब्द कितने उच्च हैं—

"कोमल हैं, पर रखती हैं वे प्रेमभक्ति का भारी बल,
इसी प्रेम में हो विभोर ललनाएँ छार हुईं जल-जल ॥
इसी प्रेम के ऊपर तो फरहाद हो गया था बलिदान,
इसी प्रेम में पागल हो शीरी ने दे दी अपनी जान।
वही प्रेम पति से करने को मेरा धर्म बताता है,
और निष्काम भक्ति से सेवा का करना सिखलाता है ॥"
—नूरजहाँ

प्रेम में वासना की आकांक्षा नहीं होती है। उसमें प्रिय-दर्शन की ही अभिलाषा होती है। अनारकली का प्रेम निष्कपट ही कहा जावेगा। देखिये—

"नहीं वासना है विलास की प्रणय मिला दर्शन पाया।
क्षमा मांग कर अन्त समय में प्रिय का आलिंगन पाया ॥"

राष्ट्रीय चेतना के कारण राष्ट्र एवं देश प्रेम कविता का एक विषय बन गया किन्तु महाकाव्यों में उस प्रेम की अभिव्यक्ति राष्ट्र के प्रकृति-सौन्दर्य, देश के प्रति वीर भावना एवं देश की वन्दना के रूप में हुई है। राष्ट्र की परवशता की शृंखलाओं को तोड़ने एवं उद्धार करने के लिए अनेक आयोजन हुए और महाकाव्यों का निर्माण हुआ। विक्रमादित्य और कृष्णायन में अपने धर्म एवं संस्कृति को अक्षुण्ण बनाए रखने एवं विदेशियों को भारत से निर्मूल करने का दृढ़ संकल्प किया गया है।

षष्ठ अध्याय

आधुनिक महाकाव्यों की प्रेरक शक्तियाँ तथा उन पर पड़े हुये विभिन्न प्रभावों का निरूपण

१. राष्ट्रीय पुनर्जागरण

उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्ध में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का जन्म साहित्य-जागरण के अग्रदूत के रूप में हुआ। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र में सामजस्य की भावना प्रबल थी। उन्होंने देशहित के लिए राजनीतिक, आर्थिक तथा शैक्षिक क्षेत्र में पाश्चात्य सांस्कृतिक उद्देश्य को मान्य समझा, किन्तु वे सामाजिक एवं धार्मिक क्षेत्र में स्वतन्त्र रहना चाहते थे। वे किसी का अन्धानुसरण करना नही चाहते थे। उन्हें अतीत के प्रति अटूट श्रद्धा थी। वे हमारा ध्यान गौरवपूर्ण अतीत की ओर ले जाकर हमें हमारी संस्कृति की सार्वभौमिकता और उच्चता का संकेत देते थे जिसके अनुशीलन से जाति में उन्नत बनने की इच्छा जागृत हुई।

स्वामी दयानन्द द्वारा स्थापित आर्यसमाज, जिसका जन्म भारतेन्दुकाल में हुआ था, द्विवेदीकाल में पल्लवित एवं पुष्पित हुआ। उसने अतीत के प्रति प्रेम तथा दृढ़ भावना का निर्माण किया। आर्यसमाज का मुख्य उद्देश्य था भारत का अभ्युत्थान और उसका आधार था वैदिक। आर्यसमाज वेद के आधार पर ही इस नवोत्थान का निर्माण करना चाहता था। स्वामी जी की दृढ़ धारणा थी कि वेद संसार की सर्वोत्कृष्ट पुस्तक है। उसमें संसार के ज्ञान-विज्ञान की समस्त बातें संचित तथा सुरक्षित हैं। उसके अध्ययन का अभाव ही हमारी अवनति का मुख्य कारण है। अतः भारत की उन्नति के लिए वेद का पढ़ना-पढ़ाना सबको अनिवार्य तथा परमावश्यक है। वेद के द्वारा हमें प्राचीन वैदिक संस्कृति की महत्ता का बोध हुआ और हम समझने लगे कि हमारा वर्तमान चाहे जितना दयनीय क्यों न हो किन्तु हमारा अतीत अत्यन्त गौरवपूर्ण रहा है।

आर्यसमाज ने अतीत के प्रति प्रेम एवं श्रद्धा उत्पन्न करने के साथ ही हममें जातीय अभिमान की भावना भरी। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में भारत

का जो राष्ट्रीय जागरण हुआ उसका प्रमुख श्रेय आर्यसमाज को ही था।

आर्यसमाज का कार्यक्षेत्र भारतीय समाज था। इसलिए वेद के आधार पर जो सुधार-योजना थी उससे भारत के इतिहास, साहित्य और दर्शन की उज्ज्वलता सिद्ध हुई और हिन्दू जाति ने गौरव का अनुभव किया।

आर्यसमाज की सबसे महत्त्वपूर्ण देन गतानुगति को हटाकर शुद्धि, विधवा-विवाह, पर्दा-पद्धति, बाल-विवाह, स्त्री-शिक्षा आदि सामाजिक समस्याओं को प्रकाश में लाना था। इसके द्वारा विशुद्ध साहित्यिक रचनाओं के लिए विषय और उपादान मिले। जातीयता की भावना, स्वराज्य और स्वदेश-भक्ति आदि की प्रेरणा स्वामी दयानन्द ने ही की थी। उपदेश-साहित्य में लेखकों और पाठकों की बहुत वृद्धि की। ये लेखक और पाठक उपदेश-साहित्य से प्रारम्भ कर, हिन्दी लिखने और पढने का अभ्यास कर लेने पर, साहित्यिक रचनाओं के पठन और लेखन में प्रवृत्त होने लगे।

दूसरी गतिवर्धक शक्ति महात्मा गान्धी का सत्याग्रह आन्दोलन था जिसके द्वारा जनता में जागृति उत्पन्न हुई और साहित्य के विकास को सबसे अधिक प्रेरणा मिली। राष्ट्रीय प्रेम से ओत-प्रोत साहित्य की सृष्टि प्रचुर परिमाण में हुई और राष्ट्रीय गीत, काव्य का आधिक्य हो गया। यह राष्ट्रवाद का ही परिणाम था।

अभी तक समाज रूढ़िवाद से पादाक्रान्त हो रहा था। जनता अन्ध-विश्वास के कारण जड़ताबद्ध थी। आर्यसमाज एवं राजनीतिक हलचलों ने बौद्धिक प्रेरणा दी जिससे जनता में जागरण की भावना का उन्मेष हुआ। उसका प्रभाव साहित्य पर पूर्ण रूप से परिलक्षित हुआ।

महाकाव्यों पर इन दोनों शक्तियों का प्रभाव पूर्ण रूप से पड़ा और उनका प्रकटीकरण किया गया। बौद्धिक जागरण के कारण ही अवतारवाद में, जो महाकाव्यों का प्रधान विषय रहा है, कवियों की श्रद्धा शिथिल हो चली थी। इसी हेतु उन्होंने मानववाद का प्रतिपादन किया और कृष्ण को मानव की तरह अंकित किया। प्रियप्रवास इसका साक्षी है।

बौद्धिक जागरण के साथ ही जनता मे आदर्शवाद की भावना का निर्माण हुआ। अभी तक जनता रीतिकालीन श्रृंगारिक अश्लीलता एवं विलासिता के पंक में निमग्न थी। उसने उस निर्मोक को उतार फेंका और सत् की ओर अग्रसर हुई। काव्य में इसकी प्रतिष्ठा हुई जिससे उदात्त सन्देश, आदेशात्मक एवं उपदेशात्मक कोटि की कविता का समावेश हुआ।

चौथी गतिवर्द्धक शक्ति थी समता की भावना। अभी तक समाज में सवर्ण-अवर्ण, ऊँच-नीच, स्त्री-पुरुष, कुलीन-अकुलीन का भेद-भाव प्रबल था। दयानन्द ने आर्यसमाज द्वारा और महात्मा गान्धी ने सत्याग्रह द्वारा इस भेद-भाव को मिटाने के लिए सतत प्रयत्न किये। इससे जन-साधारण के हृदय में अपने प्रति तथा देश के प्रति विचार करने की क्षमता उत्पन्न हुई। इस समता की भावना ने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में क्रान्ति उत्पन्न कर दी। क्या धर्म, क्या राजनीति और क्या साहित्य, सभी पर अपना पूर्ण प्रभाव डाला। लोगो मे सब धर्मो को समभाव में देखने की प्रवृत्ति उत्पन्न हुई। अभी तक अछूतों और स्त्रियों को न तो अन्य पुरुषों के समान समभाव से देखा जाता था और न उनको पढ़ने-लिखने एवं सामाजिक कार्यो में भाग लेने की स्वतन्त्रता थी, किन्तु अब वे अछूत अथवा स्त्री होने के कारण किसी कार्य में भाग लेने से वंचित नही किये जा सकते थे। स्त्रियों को सत्याग्रह में, शिक्षा प्राप्त करने में और जन-सेवा का कार्य करने मे पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त हो गई थी। इसी प्रकार अछूतों को भी। इसका प्रभाव महाकाव्यों पर भी पड़ा।

राजनैतिक और आर्थिक क्षेत्र में जनता की वाणी का कोई मूल्य न था। दीनों को कोई पूछने वाला न था लेकिन इस क्रान्ति ने जनता के प्रति सहानुभूति एवं दीन निर्बलों के प्रति श्रद्धा उत्पन्न कर दी। इसका सबसे अधिक प्रभाव साहित्यिक क्षेत्र में हुआ। अभी तक जनता काव्य का विषय न बन सकी थी किन्तु अब साधारण मानव भी कविता का विषय बन सका। मानव-सेवा, मानव-प्रेम कविता के अंग बने। प्रियप्रवास की राधा ने तो अपना जीवन लोक-सेवा में ही अर्पित कर दिया। पुरुषोत्तम मे तो कृष्ण को घोषणा करनी पड़ी कि यदि मुझ तक पहुँचना चाहते हो तो किसानों को अपना करके मानो। साकेत में सीता जी को कुटिया ही मे राजभवन के दर्शन प्रतीत हुए।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आलोच्य काल मे बुद्धिवाद का प्राबल्य है। उसी के साथ राष्ट्रवाद, आदर्शवाद एव मानववाद की प्रधानता है। इन प्रेरक शक्तियों ने महाकाव्यों पर नवचेतना का प्रभाव, जो भारतीयता से ओत-प्रोत है, सम्यक् रीति से डाला।

दूसरी ओर वैदेशिक सत्ता के कारण यहाँ पर अंग्रेजी भाषा का प्रभाव बढ़ रहा था। उसके अध्ययन के फलस्वरूप उस भाषा की श्रेष्ठ कृतियों से परिचय हुआ और उनका अनुवाद भी किया गया। उसके साहित्य के प्रभाव से काव्य के नवीन रूप छन्द, शैली, कथानक एवं उपादान प्राप्त हुए। साथ ही उनकी सभ्यता के वैज्ञानिक दृष्टिकोण के कारण हमारे विचारों में भी क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ। आर्यसमाज के प्रभाव से अन्धविश्वासों पर कुठाराघात हुआ

ही था, इसके सहयोग से नवीन आदर्श, नया ज्ञान, नव-विश्वास का अधिक संचार हुआ और हमारे ज्ञानचक्षु खुल गए। अभी तक हमारे साहित्य में रूढियों और पाण्डित्यप्रदर्शन का प्राबल्य था। उसके विरोध में स्वच्छन्दता का प्रादुर्भाव हुआ। इसके पश्चात् छायावाद, रहस्यवाद एवं प्रगतिवाद का प्रादुर्भाव हुआ। इस सबका साहित्य पर युगान्तकारी प्रभाव पड़ा।

२. स्वच्छन्दवाद

इसका संक्षिप्त परिचय दे देना अनुचित न होगा। जब फ्रांस देश में क्रान्ति की लहर व्याप्त हो रही थी, उस समय उसने प्रत्येक दिशा में क्रान्ति उपस्थित की। इसी कारण वहाँ की पुरानी संस्कृति, प्राचीन राज्य-व्यवस्था और परम्परागत सामाजिक सरकार का अन्त कर दिया गया। फलतः अभिनव कला-परिपाटी का प्रादुर्भाव हुआ जिसे स्वच्छन्द कला के नाम से पुकारते है। कवियों की कल्पना पूर्वपरम्परा का अतिक्रमण कर नवीन रूप में व्यक्त हुई। उसने ग्रीक प्रणाली के स्थान पर विद्रोहात्मक भावनाओं को प्रश्रय दिया। विदेशियों के प्रभाव से यही स्थिति भारतवर्ष की भी हुई।

उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक हिन्दी कविता रूढ़ियो से पादाक्रान्त थी। उसके विरोध में ही स्वच्छन्दवाद (रोमेंटिसिज्म) का प्रादुर्भाव हुआ, क्योंकि यह साधारण नियम है कि जब काव्य की धारा संकुचित एवं सीमा-बद्ध कर दी जाती है तो वह निष्प्राण हो जाती है। उसे अनुप्राणित करने के लिए प्रचलित देशी भाषाओं का आश्रय लिया जाता है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने उसको गति प्रदान करने के लिए काव्य-परिपाटी का, जो अलंकार, रस, छन्द आदि से आच्छादित थी, परिवर्तन किया, किन्तु भाषा व्रज ही बनी रही। श्रीधर पाठक ने खड़ीबोली में सुन्दर लय और ताल से युक्त छन्दों का निर्माण किया और स्वच्छन्दता का परिचय दिया। यह धारा द्विवेदी युग में कुछ कुण्ठित-सी हो गई क्योंकि द्विवेदी युग में इतिवृत्तात्मक काव्य की रचना प्रारम्भ हो गयी थी और संस्कृत वृत्तों में रचना होने लगी। यह होते हुए भी स्वच्छन्दवाद के प्रति जनता का उत्साह बढ़ता ही गया। पश्चिमी सभ्यता एवं आर्यसमाज के प्रभाव से रीतिकालीन इन्द्रिय-जन्य प्रेम मे परिवर्तन हो गया और उसके स्थान पर शुद्ध प्रेम की भावना की स्थापना हुई।

रीतिकाल में स्त्री के प्रति उच्च भावना नष्ट हो चुकी थी किन्तु द्विवेदी जी के प्रभाव से हमारी रुचि अंगेज़ी और संस्कृत साहित्य की ओर मुड़ रही थी जिसमें नारी के प्रति उच्च एवं पवित्र भावना विद्यमान थी। इस प्रकार

भावना में परिवर्तन किया। साथ ही छन्द-विधान, भाषा और शैली में भी स्वच्छन्दता के दर्शन प्राप्त होते है।

३. छायावाद और रहस्यवाद

द्विवेदी युग की कविता इतिवृत्तात्मक और वस्तुगत थी। कविगण उससे ऊब चुके थे, विशेषकर वे कवि जिन्होंने अंग्रेजी और बंगला के काव्यों का रसास्वादन कर लिया था। अतः काव्य-कला के क्षेत्र में प्रतिक्रिया हुई। जिस प्रकार राजनीति में जिन प्रवृत्तियों ने हमारी कर्मवृत्ति को अहिंसा की ओर प्रेरित किया उन्हीं प्रवृत्तियों ने हमारी भाववृत्ति को छायावाद की ओर। दोनों के मूल में विद्रोह की भावना एक-सी है—स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह।

अब कविता भावात्मक एवं आत्मगत हुई। द्विवेदी युग में कवि बहिर्मुखी होकर कविता लिखता था। छायावादी कवि आत्म-तल्लीन होकर कविता लिखने लगा। द्विवेदी युग सुधार युग था। उसमें श्रांगारिक भावना का अभाव था किन्तु छायावादी कविता प्रधानतः श्रांगारिक है। इस भावना को कवि-गण दो प्रकार से व्यक्त करते है—या तो वे प्रकृति के प्रतीकों द्वारा व्यक्त करते है अथवा प्रकृति पर नारीभाव का आरोपण करते है। यही नहीं, वे नारी के मन और आत्मा के सौन्दर्य को प्रधानता देते हुए उसके शरीर के अमांसल चित्रण द्वारा व्यक्त करते हैं।

छायावाद में प्रकृति के चित्रों की प्रचुरता है। छायावादी कवि प्रकृति पर चेतना का आरोप करता है किन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि छायावाद मे प्रकृति का चित्रण नहीं है बल्कि प्रकृति के स्पर्श से मन में जो छायाचित्र उठते है उनका चित्रण है। कभी-कभी कुछ आलोचक छायावाद और रहस्य-वाद को एक ही कोटि मे स्थान देते हैं और आधुनिक कविताओं को प्रायः रहस्यवादी कविता कह देते है। अतः इसका इस स्थल पर निराकरण कर देना असंगत न होगा।

जब कवि की चेतना बाह्य जीवन से हटकर आन्तरिक हो जाती है तो जीवन-मरण, प्रकृति-पुरुष, आत्मा-परमात्मा सम्बन्धी जिज्ञासायें मुखरित हो उठती हैं। इस प्रकार के विचार प्रत्येक भावुक के जीवन में कभी न कभी उत्पन्न होते रहते हैं। इनका आधार धार्मिक साधना नहीं, बल्कि भावना और चिन्तन पर ही आश्रित होता है। इन्हें रहस्यवाद नहीं कहा जा सकता। कुछ आलोचक इसे रहस्यवाद कह देते है। उनकी यह धारणा भ्रामक है। वे भूल जाते हैं कि छायावाद बौद्धिक युग की सृष्टि है। उसका जन्म न तो साधना

से है और न आध्यात्मिक विश्वास से। अतः उसके रूपकों और प्रतीकों को यथातथ्य मानकर रहस्यवाद का आरोप करना व्यर्थ है। छायावाद में कवि प्रकृति को अपनी सत्ता से स्पन्दित देखता है किन्तु रहस्यवाद में वह अपनी सत्ता को परोक्ष सत्ता का प्रतिरूप देखता है। पहिले में दृष्टि प्रत्यक्ष जगत् की सूक्ष्म चेतना पर ही केन्द्रित रहती है और दूसरे में परोक्ष जगत् के परोक्ष तत्त्व की भावना और अनुभूति पर रहती है। छायावाद में प्रकृति के मूल में चेतनत्व की प्रतीति आवश्यक है, ईश्वर की प्रतीति नहीं; परन्तु रहस्यवाद में प्रकृति, मानव और विश्व में परोक्ष तत्त्व की प्रतीति अनिवार्य है।

अस्तु! हम देखते है कि काव्य में छायावाद का प्रभाव कई दिशाओं में परिलक्षित हुआ। भाषा, शैली में क्रान्ति तो उत्पन्न ही हुई, साथ ही विषय में भी परिवर्तन हुआ। उसने खड़ीबोली की कर्कशता को दूर कर भाषा को सरस एवं माधुर्यपूर्ण बनाने के लिए विशेष प्रयत्न किया।

काव्य-जगत् को चित्रमय भाषा प्रदान की गई एवं भाव और भाषा में सामंजस्य स्थापित करने का यत्न किया गया। लक्षरणा-व्यंजना द्वारा भाव की अभिव्यक्ति की गई। द्विवेदीकाल के संस्कृत वृत्तों तथा सवैया, कवित्त छन्दों की उपेक्षा की गई और मुक्त छन्द को अपनाया गया। जातीयता और राष्ट्रीयता के भावों के विकास के साथ जन-साधारण का काव्य में प्रवेश किया गया। इसका काव्य पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि द्विवेदी युग के पश्चात् जो काव्य-धारा प्रवाहित हुई उसी के छायावादी नाम पर उस काल को छायावादी काल कहा गया।

४. प्रगतिवाद

छायावाद द्विवेदी युग के द्वितीय दशक में प्रारम्भ हो चुका था क्योंकि स्थूल के प्रति सूक्ष्म के विद्रोह ने इसकी प्राण-प्रतिष्ठा की थी किन्तु अब छायावाद की विचित्रता, सूक्ष्मता के प्रति स्थूल ने विद्रोह किया। यह प्रति-क्रिया दो रूपों में उपस्थित हुई। एक तो पलायनवृत्ति के विरुद्ध, दूसरी उसकी अमूर्त उपासना के विरुद्ध। इन दोनों प्रवृत्तियों का सम्मिलित रूप प्रगतिवाद के नाम से अभिहित है। इस धारा का प्रवर्तन बीसवीं शताब्दी के प्रथम-चतुर्थ दशक के अन्तिम काल से होता है।

यद्यपि जीवन को उच्च एवं गति प्रदान करने वाली कविता प्रगतिशील कही जावेगी किन्तु इस नवीनतम काव्यधारा का निर्माण उस शिक्षित वर्ग द्वारा, जो मार्क्स के आदर्शवाद से अनुप्राणित है, हुआ है। हम देखते है कि कबीर, जिन्होंने जनता को गतिशील बनाया, तुलसी, जिन्होंने पीड़ित जनता

को आशान्वित किया, भारतेन्दु एवं द्विवेदी, जिन्होंने राष्ट्रभावना का निर्माण किया और मैथिलीशरण गुप्त एवं जयशंकरप्रसाद जिन्होने इसे गतिशीलता प्रदान की—इन कवियों से एक परम्परा चली आ रही है, किन्तु आज प्रगतिवाद का कुछ भिन्न ही रूप दिखलाई पड़ रहा है। अभी वह पूर्ण विकास को भी नही प्राप्त हुआ है और न अपनी निश्चित रूपरेखा ही बना सका है, किन्तु उसकी गति को देखकर निम्नलिखित धारणाएँ बनती है।

(अ) जीवन और प्रगति पर्याय है। अतः जीवन को प्रत्येक क्षेत्र में अग्रसर होने के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए।

(ब) छायावादी कवि काल्पनिक सुख की खोज में विचरण करता है किन्तु प्रगतिवादी कवि इसे अकर्मण्यता मानता है। उसका कथन है कि सुख से जीवन-यापन करना मानवता है, अध्यात्म और परलोक कुछ नहीं। उसकी साधना व्यर्थ है। अतः मौलिक जीवन की साधना जीवन में मुख्य है।

(स) समाजवादी सिद्धान्तों का समर्थन, किसानों और मज़दूरों का गुण-कीर्तन,पूँजीवाद एवं उससे सम्बन्धित राजनीतिक, सामाजिक, नैतिक, धार्मिक और साहित्यिक रूढियों के विरुद्ध क्रान्ति। हम देखते हैं कि किसानों, मज़दूरों, शोषितों एवं पीड़ितों का काव्य में प्रवेश इसी का फल है। अभी तक राजा, रानी, नगर, प्रासाद का हिन्दी-काव्य में प्रचुर वर्णन एवं स्तवन किया जाता था। उसमें अब किसान, मज़-दूर, हल, भिक्षुक आदि दिखाई देने लगे हैं।

(द) प्रगतिवाद को प्रभावित करने वाली शक्ति मुख्यतः मार्क्सवाद है और किन्हीं अंशों में डारविन और फ्रायड भी। इसी कारण साम्राज्यवाद की विभीषिका, वर्गसंघर्ष, नारी-सौन्दर्य का नग्न चित्रण, नव समाज और नव संस्कृति की प्रतिष्ठा की प्रेरणा आदि इन नये कवियों के विषय हैं।

(य) यद्यपि आज के प्रगतिवाद ने नारी को यौन-स्वतन्त्रता प्रदान कर दी है, किन्तु उसकी आड़ में उसको नग्न किया जा रहा है। जिस छायावाद में कवियों ने नारी के अंग-प्रत्यंग को वासना का आधार माना, प्रगतिवाद में वही नारी रीतिकालीन नारी की तरह व्यक्त की जा रही है।

(फ) राष्ट्रीय भावना यद्यपि समाजवाद की तरह प्रगतिवाद का अनिवार्य तत्त्व नहीं है फिर भी राष्ट्रीय भावना में मौलिक संघर्ष है। अभी

कल की बात है जब योरोप में महायुद्ध चल रहा था, उस समय रूस के प्रवेश होने पर इन विचारों द्वारा वह युद्ध लोक-युद्ध के नाम से अभिहित किया गया; यद्यपि वह वस्तुतः साम्राज्यवादी शक्तियों का संघर्ष था। हमारे भारतवर्ष ने इसका विरोध किया और उसमें भाग नहीं लिया किन्तु प्रगतिवादी कवि इसका समर्थन कर रहे थे।

(ज) भाषा-शैली में भी परिवर्तन हो चला है। छायावादी अलकृत भाषा के विरोध में यहाँ गद्यात्मक भाषा प्रयुक्त होने लगी है क्योंकि इनका ध्येय है कि जन-साहित्य और जन-कला द्वारा जन-सपर्क और जन-सस्कृति का निर्माण किया जावे। इस ध्येय की पूर्ति के लिए नवीन काव्य का निर्माण हो रहा है जो जन-काव्य की भूमि के निकट आ रहा है किन्तु प्रगतिवाद के नाम पर आज जो कुछ लिखा जा रहा है उससे कविता निर्जीव हो गई है। अभी कुछ कहा भी नहीं जा सकता क्योंकि प्रगतिवाद पूर्ण विकसित भी तो नहीं हुआ है।

महाकाव्यों के रूप

भारतेन्दु के पूर्व श्रृंगारिक कविता का प्राधान्य था। उन्होंने उसका नव-निर्माण किया, फिर भी उसमें पूर्वजन्म के संस्कारों में परिवर्तन न हो सका और कविता मुक्तक ही रही। द्विवेदी जी ने कवियों को विभिन्न रूपों में कविता करने की प्रेरणा दी। कवियों ने भी प्रयत्न द्वारा प्राचीन निर्मोक को उतार फेंका और विविध रूपों में काव्यरचना की। फलतः उस काल में कई एक महाकाव्यों का प्रणयन हुआ। इन महाकाव्यों में नवीनता के दर्शन स्पष्ट दिखलाई पड़ते है। इनमें सर्गबद्ध विधान है और कथोपकथन की भावभंगिमा विद्यमान है। जीवन की विभिन्न परिस्थितियो के चित्रण एवं कथावस्तु का सम्यक् विभाजन किया गया है। साथ ही प्रकृतिचित्रण पूर्ण रीति से किया गया है। रसों और भावों की एकाग्रता पर भी विशेष ध्यान दिया गया है। कथावस्तु को अग्रसर करने के लिए प्रत्येक नव उद्भावना को सर्ग में समय, स्थान और वातावरण के अनुकूल रखकर अभिव्यंजित किया गया है।

आलोच्य काल में महाकाव्यों का प्रारम्भ प्रियप्रवास से होता है। उसमें प्रत्येक दिशा में विषयप्रवेश, भाषा, छन्द, प्रकृतिचित्रण आदि में नवीनता ही प्रकट होती है। विषयप्रवेश प्रकृतिचित्रण द्वारा हुआ है। यह पद्धति कामायनी, नूरजहाँ और वैदेही-बनवास में भी अपनाई गई है।

महाकाव्यों की भाषा में तो आमूल परिवर्तन हो गया है। अभी तक महाकाव्य अवधी या व्रज में ही लिखे जाते थे किन्तु खड़ीबोली में कोई भी महाकाव्य नहीं लिखा गया था। यद्यपि खड़ीबोली में महाकाव्य लिखने का यही से प्रारम्भ होता है. फिर भी शुद्ध एवं साहित्यिक भाषा प्राप्त होती है। छन्दों में भी विकास हुआ और संस्कृत के वर्णिक छन्द अपनाये गये। यही नहीं, आगे चलकर नवीन छन्द अंग्रेजी और बंगला के आधार पर गढ़े गये।

महाकाव्यों के कथानक में भी नवीनता लाने एवं उसको नाटकीय ढंग से प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया। प्रियप्रवास एवं साकेत का कथानक प्राचीन है किन्तु नये ढंग से वर्णन किया गया है। प्रियप्रवास मे यद्यपि श्रीकृष्ण रंगमंच पर अधिकतर नही आते है किन्तु उनका चरित्रवर्णन किसी दूसरे पात्र द्वारा कहलाया गया है। यह ढंग उचित नहीं कहा जा सकता क्योंकि इसमे कवि स्वयं ही अपने भावों को व्यक्त करता है। साकेत में कथानक को नाटकीय ढंग से प्रस्तुत किया गया है। चरित्रवर्णन इसमें भी अन्य पात्रों के मुख से ही कहलाया गया है।

प्रातःकाल का समय है, उर्मिला प्रासाद में विद्यमान है। उसकी सुन्दरता कवि के हृदय में कौतूहल उत्पन्न करती है—

"अरुण पट पहने हुए आह्लाद में,
कौन यह बाला खड़ी प्रासाद में?
प्रकट मूर्तिमती ऊषा ही तो नहीं?
कान्ति की किरणें उजेला कर रहीं।
यह सजीव सुवर्ण की प्रतिमा नई,
आप विधि के हाथ से ढाली गई।
कनकलतिका भी कमल सी कोमला,
धन्य है उस कल्पशिल्पी की कला!"

उक्त पद में प्रकृति के उपकरणों द्वारा उर्मिला का सौन्दर्य-चित्र उपस्थित किया गया है। इसी प्रकार कामायनी में मनु, श्रद्धा और इड़ा का सौन्दर्य-चित्र एवं कहीं-कहीं सुन्दर शब्दचित्र द्वारा किसी पुरुष का चित्र खींचा गया हैं। वैदेही-बनवास में महर्षि बाल्मीकि का चित्र देखिये—

"जटा जूट सिर पर था उन्नत भाल था,
दिव्य ज्योति उज्ज्वल आँखों में थी बसी।
दीर्घविलम्बित श्वेत श्मश्रु मुख सौम्यता,
थी मानसिक महत्ता की उद्घोषिनी।"

इस तरह कथानक एवं चरित्र का विकास नाटकीय ढंग से होता है। देखिये विक्रमादित्य में योगिनी और बन्दिनी का वार्तालाप—

योगिनीः— "मन को शान्ति भंग करने की दोषी होकर पछताई।
गुप्त मन्त्रणा कुछ करने को पास तुम्हारे हूँ आई।"

नन्दिनीः— "बड़ी दया की जो आदर दे चली पूछने मुझसे युक्ति,

योगिनीः— लेने आई पुरस्कार हूँ देकर तुमको बन्धन मुक्ति।"

नन्दिनीः— "नहीं मुक्ति की मैं इच्छुक हूँ साथी को संकट में छोड़,
यदि उनके भी छुटकारे का बैठा सकती हो तुम जोड़।"

योगिनीः— "कर सकती हूँ मुक्त युगल को करने पर यह भारी काम,
शीघ्र बताओ क्या दोगी देवी ! इस छुटकारे का दाम ?"

कवि ने किस प्रकार कथोपकथन द्वारा नाटकीय ढंग से चरित्र-विकास किया है और कथानक को अग्रसर करने में सफल हुआ है। यही नहीं, स्वगत-भाषण अथवा सम्वाद द्वारा भी किसी पात्र के चरित्र का विकास किया जाता कि। प्राचीन महाकाव्यों में कवि स्वयं सारी कथा कह डालता था। पात्र का चरित्र कवि के शब्दों में ही चित्रित हुआ करता था, किन्तु अब इस ओर ध्यान दिया गया और नाटकीय ढंग से चरित्रविकास किया गया।

इसके अतिरिक्त महाकाव्यों में गीतों का प्रचलन भी देखने को मिलता है। यद्यपि अधिक गीत होने पर कथा में स्थिरता आ जाती है और कथानक की प्रगति में बाधा उत्पन्न हो जाती है किन्तु यह गीत आन्तरिक भावों को व्यंजित करने में बड़े ही प्रभावशाली होते है। देखिये उर्मिला का कथन—

"निरख सखी, ये खंजन आये,
फेरे उन मेरे रंजन ने नयन इधर मनभाये।
फैला उनके तन का आतप, मन ने सरे सरसाये,
घूमें वे इस ओर वहां, ये हंस यहां उड़ छाये।
करके ध्यान आज इस जन का निश्चय वे मुसकाये,
फूल उठे हैं कमल, अधर-से, ये बन्धूक सुहाये।
स्वागत, स्वागत, शरद् भाग्य से, मैंने दर्शन पाये,
नभ में मोती वारे, लो, ये अश्रु-अर्घ्य भर लाये!"

इन गीतों में अब उच्च भावनाओं का प्रयोग होने लगा है। इससे उनमें गम्भीरता एवं शक्ति की भी वृद्धि हुई। इस प्रकार आलोच्य काल मे महा-काव्यों के रूपों में नवीनता के दर्शन प्रतिलक्षित होते हैं।

भाषा-शैली

उन्नीसवी शताब्दी तक काव्यभाषा ब्रज ही थी। लोगों की धारणा थी कि खड़ीबोली में कविता का माधुर्य नष्ट हो जावेगा। इस पर वाद-विवाद कुछ समय तक चलता रहा किन्तु श्रीधर पाठक, अयोध्याप्रसाद खत्री आदि महानुभावों के प्रयत्न से यह विवाद शान्त हुआ और खड़ीबोली में काव्यरचना होने लगी। यहाँ पर यह कहना अनुचित न होगा कि कविता के क्षेत्र में खड़ी-बोली का प्रयोग नवीन नही है। रहिम, ग्वाल और ललितकिशोरी आदि ने खड़ीबोली में कविताएँ की थी।

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ मे द्विवेदी जी के सरस्वती के सम्पादकत्व काल में काव्य की भाषा खड़ीबोली हो गई थी। यह सबसे बड़ा परिवर्तन था। जनता ने भी इसे स्वीकार किया। यद्यपि भाषा में शैथिल्य एवं व्याकरण-सम्बन्धी त्रुटियाँ पर्याप्त थीं, फिर भी द्विवेदी जी की सतर्कता एव अथक परिश्रम से यह अव्यवस्था समाप्त हो गई।

द्विवेदी जी संस्कृत के विद्वान् थे। इनकी शैली संस्कृतगर्भित और लम्बे समस्त पदों मे युक्त है और इस पर मराठी भाषा का प्रभाव है; फिर भी काव्यगत वक्रता का अभाव है। शताब्दी के प्रथम दशक तक काव्यभाषा इतिवृत्तात्मक ही रही।

द्विवेदी सम्प्रदाय की कर्कशता को अयोध्यासिंह उपाध्याय ने प्रियप्रवास की रचना करके दूर किया। इसकी भाषा में स्वाभाविक प्रवाह, संगीत और लालित्य है, किन्तु संस्कृत पदावली और लम्बे-लम्बे समासों का इतना बाहुल्य है कि हिन्दी का अपना स्वरूप छिप-सा गया है। देखिये—

"रूपोद्यान प्रफुल्ल प्राय-कलिका राकेन्दु बिम्बानना,
तन्वंगी" कलहासिनी सुरसिका क्रीड़ा-कला पुत्तली।
शोभा वारिधि की अमूल्य मणि सी लावण्य लीलामयी,
श्री राधा मृदुभाषिणी मृगदृगी माधुर्य-सन्मूर्ति थी॥"

इतना होते हुये भी इसकी लोकप्रियता कम न हुई। यद्यपि हरिऔध उपाध्याय जी द्विवेदी और उनके अनुयायियों की भाषा की कर्कशता को मिटाने में समर्थ हुये किन्तु अभिव्यजना की नवीन प्रणाली का सूत्रपात नहीं कर सके।

रामचरित उपाध्याय द्वारा रामचरितचिन्तामणि में भी भाषाप्रवाह पूर्ण और अलंकृत है। शैली संस्कृतगर्भित नहीं है। भावों की व्यंजना में शक्ति है।

उपमायें प्राचीन और परम्परागत हैं। इसमें अलंकारों के प्रति, विशेषकर यमक के प्रति, विशेष आकर्षण है। देखिये—

"कुशल से रहना यदि है तुम्हें दनुज! तो फिर गर्व न कीजिये।
शरण में गिरिए रघुनाथ के, निबल के बल केवल राम हैं॥"

यह काव्यभाषा भी खड़ीबोली के विकास की एक विशेष दशा निर्देशन करती है। यद्यपि इसमें सरसता और मधुरता के दर्शन होते हैं, किन्तु अभिव्यंजना की प्रणाली में कोई नवीनता नही दिखाई पड़ती।

शताब्दी के द्वितीय दशक के अन्तिम वर्षों में भाषा में प्रौढ़ता आ गई और अभिव्यंजना की नूतन प्रणाली का समावेश हुआ। यद्यपि कलाकार मैथिलीशरण गुप्त की प्रारम्भिक रचनायें संस्कृतगर्भित नहीं है और काव्यत्वशून्य है, किन्तु इस दशक में इनकी भाषा सशक्त एवं माधुर्य से युक्त हो गई। उसमें लक्षणामूलक और प्रतीकात्मक प्रयोग के भी दर्शन होते है। इस द्वितीय दशक में काव्यभाषा की शैली का क्रमशः विकास दिखलाई पड़ता है। इसमे भाषा की कर्कशता बहुत कुछ दूर हो गई। देखिये—

"पहले आँखों में थे, मानस में कूद मग्न प्रिय अब थे।
छींटे वही उड़े थे, बड़े बड़े अश्रु वे कब थे?" —साकेत

इस समय काव्यभाषा इतनी समर्थ और विकसित हो गई थी कि वह सब प्रकार के भावों को व्यक्त करने की क्षमता रखती थी।

द्वितीय दशक के मध्य में भाषा, छन्द एवं स्थूलता के प्रति विद्रोह खड़ा हो गया था क्योंकि द्विवेदीकाल के प्रथम चरण की इतिवृत्तात्मक प्रणाली, जिसमें स्थूलता का ही प्राबल्य है, बहिर्मुखी थी। इसकी प्रतिक्रिया हुई। फलतः कविता भावात्मक और आत्मगत हुई और उसमें मुक्तक गीत्यात्मकता, रहस्यभावना और अभिव्यंजना की नवीन प्रणाली का सूत्रपात हुआ।

तृतीय दशक में, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, काव्यभाषा का आदर्श बदल गया। इस समय भाषा मे संस्कृत के तत्सम तथा ध्वनिव्यंजक शब्दों का प्राधान्य था। इस काल में काव्यभाषा में दो धारायें स्पष्ट दिखलाई पड़ती है। पहली काव्यधारा संस्कृत शब्दों से ओत-प्रोत है, जिसका माधुर्य संस्कृत-पदावली पर आश्रित है। ऐसी काव्यभाषा सर्वसाधारण के लिये कठिन एवं दुर्बोध होती है और भाषा के नैसर्गिक स्वरूप को नष्ट कर देती है।

दूसरे प्रकार की काव्यभाषा में खड़ीबोली का प्राकृतिक एवं विकसित स्वरूप विद्यमान है। भाषा सरल एवं मुहावरों से युक्त है। इसमें भाषा का

नैसर्गिक विकास निहित है क्योंकि भाषा प्रवाह औरओज से पूर्ण है। इन दोनों प्रकार की भाषाओं का एक-एक उदाहरण देना पर्याप्त होगा। पहली काव्यधारा का कामायनी से एक स्वरूप देखिये। श्रद्धा के कथन को मनु अनुरक्त होकर सुन रहा है—

"यह अतृप्ति अधीर मन की क्षोभयुत उन्माद,
सखे! तुमुल तरंग सा उच्छ्वासमय संवाद।
मत कहो पूछो न कुछ, देखो न कैसी मौन,
विमल राका मूर्त्ति बन कर स्तब्ध बैठा कौन?
विभव मतवाली प्रकृति का आवरण वह नील,
शिथिल है, जिस पर बिखरता प्रचुर मंगल खील।
राशि राशि नखत कुसुम की अर्चना अश्रान्त,
बिखरती है तामरस सुन्दर चरण के प्रान्त॥"

दूसरी काव्यधारा का नूरजहाँ से एक उदाहरण देखिये—

"उस तारा के लघु प्रकाश में मञ्जुल रूप दिखाती।
सान्ध्य-सुन्दरी तुम परदे में कहाँ छिपी हो जाती?
रुको रुको तुम चन्द्रमुखी को कहीं देख तुम पाना।
तो दो बातें मेरी भी जाकर उस तक पहुँचाना॥
महा निठुर हो तुम भी चलती हुई अँधेरा करके।
क्या सब ललनाओं का मानस विरचा है पत्थर से?
नारी के मन का रहस्य मैं अब तक समझ न पाया।
विद्युत्-धारा सी अदृश्य है प्रिया-प्रेम की माया॥"

शैली—द्विवेदी युग के प्रथम दशक में भाषाशैली में संस्कृतपदावली का प्रयोग प्रचुर मात्रा में होता था। साथ ही मुहावरों का प्रयोग भी सफलतापूर्वक किया जाता था, क्योंकि हमारे साहित्य में इनकी बहुत बड़ी शक्ति है। मुहावरों के कारण स्वाभाविकता में प्रवाह उत्पन्न हो जाता है। देखिये—

(अ) "ऊधो मेरे हृदय पर तो साँप है लोट जाता।"

—प्रियप्रवास

(ब) "नन्द की उड़ी है नींद, उलझे विचार में।
नाव मेरी अटकी है, आज मझधार में।
हाय रे! पिशाच कल बात नहीं क्या करे?
दुर्मति मदान्ध-कृत्य सोच मन में डरे॥"

द्वितीय दशक में शैली में परिवर्तन हो चला। इस समय काव्य में अभिव्यंजना के लाक्षणिक वैचित्र्य के दर्शन होने लगे थे और गुप्त जी ने साकेत में प्रयोग कर भाषा को सशक्त बनाया, साथ ही ध्वन्यर्थव्यंजना का भी प्रयोग किया है—

"सखि निरख नदी की धारा।
ढलमल ढलमल, चंचल-अंचल, झलमल झलमल तारा।
निर्मल जल अन्तस्तल भर के, उछल उछल कर छल छल करके,
थल थल तर के कल कल धर के, बिखराती है पारा॥"

—साकेत

उपर्युक्त पद में ध्वनि से ही अर्थ की व्यजना होती है और इस ध्वनि द्वारा संगीत की वृद्धि होती है और नदी के स्वरूप को सम्मुख उपस्थित कर देती है।

कथोपकथन-शैली—इस शैली का प्रयोग होने लगा जिसके कारण काव्यों मे नाटकीय प्रभाव उत्पन्न हो गया। देखिये लक्ष्मण का कथन—

'धन्य जो इस योग्यता के पात्र हूँ। किन्तु मैं भी तो तुम्हारा दास हूँ।'
'दास बनने का बहाना किस लिए?
क्या मुझे दासी कहाना, इसलिए?
देव होकर तुम सदा मेरे रहो,
और देवी ही मुझे रक्खो, अहो।
उर्मिला यह कह तनिक चुप हो रही,
तब कहा सौमित्र ने कि यही सही।
तुम रहो मेरी हृदय देवी सदा,
मैं हूँ तुम्हारा प्रणय-सेवी सदा॥'

—साकेत

तृतीय दशक में प्रतीक-शैली का अधिकाधिक प्रयोग होने लगा है। इन प्रतीकों द्वारा अप्रस्तुत-विधान में एक पूर्ण परिचित प्रस्तुत-विधान का आरोप किया जाता है। प्रतीको से भावाभिव्यंजन में सरलता होती है और अधिक प्रभाव डालने की क्षमता उत्पन्न हो जाती है, किन्तु प्रसंगहीन प्रतीक जटिलता भी उत्पन्न कर देते है जिसके कारण भावप्रकाशन में बाधा पड़ती है। कामायनी से एक उदाहरण देखिये—

'लो चला आज मैं छोड़ यहीं, संचित सम्वेदन भार पुञ्ज।
मुझको काँटे ही मिलें धन्य! हो सफल तुम्हें ही कुसुमकुञ्ज॥'

काँटे = दुःख
कुसुमकुञ्ज = सुख

यही नही, पश्चिमी कला के आधार पर महाकाव्यो मे भी मानवीकरण, विशेषण-विपर्यय, तथा ध्वन्यर्थव्यंजन के सफल प्रयोग किये गए।

मानवीकरण—यह कोई नवीन प्रयोग नही है। इसमें निर्जीव वस्तुओं के वर्णन मे उन शब्दों का प्रयोग होता है जो सजीव प्राणियों अथवा केवल मनुष्यों के सम्बन्ध में प्रयोग किये जाते है। इसका प्रयोग संस्कृत काव्यों मे लेकर आज तक किसी न किसी रूप में होता चला आया है। पद्माकर ने गंगावर्णन में पातक को ललकारा है और गगा की कछार में नष्ट करने की धमकी दी है। देखिये—

'चलो चलु चलो चलु विचलु न बीच ही ते,
कींच बीच नीच! तो कुटुम्ब को कचरिहौं।
ए रे दगादार! मेरे पातक अपार तोहिं,
गंगा की कछार में पछार छार करिहौं॥'

—गगालहरी

आलोच्य काल में इसका अधिक प्रयोग हुआ है—

'नेत्र निमीलन करती मानो, प्रकृति प्रबुद्ध लगी होने,
जलधि लहरियों की अंगड़ाई बार बार जाती सोने॥'

—कामायनी

कवि ने प्रकृति के जागने का वर्णन किया है। उसके लिए उसने नेत्र-निमीलन का प्रयोग किया है। इसी प्रकार सागर की लहरों के लिए अगडाई का प्रयोग किया है।

विशेषण-विपर्यय इसका भी आधुनिक काव्यों में अधिक प्रयोग होता है। इसमें विशेषण ऐसे विशेष्य के साथ लगाया जाता है जहाँ वह वास्तव में नहीं लग सकता है। इसके एक-दो उदाहरण पर्याप्त होंगे—

(अ) "मूर्च्छना श्रवण कर जिसकी।
मूर्छित वीणा बांसरियां॥" —साकेत-संत

(ब) "मौन हुई हैं मूर्छित तानें।
और न अब सुन पड़ती बीन॥" —चिन्तामणि

मूर्छित वीणा में 'मूर्छित' विशेषण है। वीणा, निर्जीव होने के कारण, मूर्छित नहीं हुआ करती बल्कि मनुष्य मूर्छित होता है, किन्तु इस प्रकार के प्रयोग काव्य में चित्रमय व्यंजना कर देते हैं।

जैसा द्वितीय दशक के विवेचन में कहा गया है कि ध्वन्यर्थव्यंजना का प्रयोग प्रारम्भ हो गया था, उसकी इस काल में अधिक वृद्धि हुई। इसके द्वारा काव्य में संगीत की वृद्धि एवं उद्रेक होता है। देखिये—

(अ) "कंकण क्वणित रणित नूपुर थे,
हिलते थे छाती पर हार :" —चिन्ता०

(ब) "इस बाट गयी, उस बाट गयी,
इस घाट गयी उस घाट गयी।
फूलों के अंचल में भरती ही,
भरती हुई सपाट गयी।
इक निर्मोही की सुध करके,
कुछ ठिठक ठिठक कर पग धरती।
कर पुनः भरोसा भोलेपन पर,
रखती डग डगमग करती॥" —नूरजहाँ

इनमें नादव्यंजना है। यहाँ पर ध्वनि से नाद की व्यंजना होती है।

इस प्रकार विविध काव्यशैलियाँ प्रयोग में लाई गयीं। मुहावरों और लोकोक्तियों के प्रयोग में उर्दू के शब्द तो प्रयोग होते भी रहे किन्तु इस दशक में अँग्रेजी के मुहावरों के अनुवाद का भी प्रयोग होता रहा है। अँग्रेज़ी मुहावरों का प्रयोग देखिये—

"पानी पर मत चित्र बनाओ, रचो अनल में नहीं भवन।
ग्रसो नहीं भावना-भँवर में, अपने वश में रक्खो मन॥"

—विक्रमा०

'रचो अनिल में नहीं भवन'—'टु बिल्ड केसल्स इन दि एयर' का अनुवाद है। यही नही, इस काल में बहुत से शब्द गढ़े गए और ढूँढ निकाले गये जिनमें ध्वन्यर्थव्यंजक और भाववाचक संज्ञाओं का प्राबल्य था। जैसे—

(अ) "कल-कल गुन-गुन, घुमड़-घुमड़।" —नूरजहाँ

(ब) "प्रलय, कम्पन, धूमिल क्रन्दन।" —कामायनी

काव्य मे कहीं - कहीं पर विरोधसूचक शब्दों का प्रयोग भी हुआ है। जैसे—

"मणि-दीपों के अन्धकारमय, अरे निराशापूर्ण भविष्य।
देवदम्भ के महामेघ में, सब कुछ ही बन गया हविष्य॥"

दीप से अन्धकार नष्ट होता है किन्तु यहाँ पर प्रतीकों द्वारा विरोधसूचक शब्दो से लालित्य आ गया। मणि-दीप विलास एवं वैभव के प्रतीक है और

अन्धकार अज्ञानता का चिह्न है। इस कारण अज्ञानी पुरुष वैभव-विलास में पड़कर अपना भविष्य नहीं निर्माण कर सकता है। इस हेतु कष्ट पाता है।

छन्द

छन्द-बद्ध पद सरलता से कण्ठस्थ हो सकते है और श्रवणसुखद और मनोमुग्धकारी होते हैं। संस्कृत और हिन्दी के प्राचीन कवियों ने इसी कारण छन्दों को स्वीकार किया। महाकाव्यों में अनेक प्रकार के छन्दों का प्रयोग होता रहा है। और आज भी हो रहा है। कुछ महाकाव्यों में केवल मात्रिक छन्दों का प्रयोग हुआ है, कुछ में वर्णिक छन्दों का और कुछ में दोनों प्रकार के छन्दों का मिश्रण। गीत छन्दों में तो स्वतन्त्रता का प्रयोग हुआ है।

कहीं-कहीं उर्दू के बहरों, गज़लों, बंगला के पयार छन्द, और अँग्रेज़ी के सानेट का भी प्रयोग हुआ है।

(१) मात्रिक छन्दों में केवल मात्रा की गणना होती है। इन छन्दों मे विशेष बन्धन नहीं होता है। इनके तीन भेद हे—(अ) सम, (ब) अर्द्धसम, (स) विषम। सम के अन्तर्गत चौपाई, रोला, सार आदि।

अर्द्धसम के अन्तर्गत दोहा, सोरठा; और विषम के अन्तर्गत आर्या छन्द का प्रयोग होता है, जो केवल संस्कृत और महाराष्ट्रीय भाषा में ही पाया जाता है। आर्या का एक उदाहरण देखिये—

> **"रामा रामा रामा, आठौ यामा जापौ याही नामा—** ३०
> **त्यागौ सारे कामा पैहौ बैकुंठ विश्रामा।"** २७

आधुनिक छन्द भी इसी कोटि में रक्खे जा सकते है। इसमें भी पाँच प्रकार के छन्द होते है जो आर्या, गीति, उपगीति, उद्गीति, आर्यागीति के नाम से प्रसिद्ध हैं।

छन्द	प्रथम पद	द्वितीय पद	तृतीय पद	चतुर्थ पद	मात्रा
आर्या	१२	१८	१२	१५	५७
गीति	१२	१८	१२	१८	६०
उपगीति	१२	१५	१२	१५	५४
उद्गीति	१२	१५	१२	१८	५७
आर्यागीति	१२	२०	१२	२०	६४

(२) वर्णिक छन्दों में वर्णों का ध्यान रक्खा जाता है। इनमें वर्णों का कठोर बन्धन होता है। इसके दो भेद होते हैं—

(अ) गणाश्रित, जिसमें गणों के अनुसार छन्दरचना होती है किन्तु अन्त्यानुप्रास से सर्वथा मुक्त रहती है। इन्द्रवज्रा, भुजंगप्रयात, मन्दाक्रान्ता, शिखरिणी इनके भी दो भेद हैं जिनमें एक ही प्रकार के गण होते हैं, जैसे—सवैया, मौक्तिकदाम, भुजंगप्रयात। दूसरे, वे छन्द जिनमें विभिन्न गण होते है। जैसे—मन्दाक्रान्ता।

(ब) वर्णाश्रित, जिनमे गण का विधान नहीं होता है, बल्कि केवल वर्ण ही गिन लिए जाते है। जैसे—घनाक्षरी या मनहरण।

(३) मिश्र प्रयोग में उन छन्दो की गणना होगी जिनमें प्राचीन विभिन्न छन्दो को मिलाकर तीसरे छन्द की रचना कर ली जाती है। भारतेन्दुकाल में नवीन छन्दों की कल्पना नहीं हुई। उस समय तक रीतिकाल में प्रयुक्त छन्दों का ही प्रयोग होता था। आचार्य द्विवेदी जी ने हिन्दी के सभी छन्दो के साथ-साथ संस्कृत, उर्दू तथा बंगला के छन्दो के प्रयोग का आदेश दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि द्विवेदी जी तथा अन्य सभी प्रसिद्ध कवियो ने संस्कृत के वृत्तो को अपने काव्यो मे स्थान दिया। खडीबोली के प्रथम महाकाव्यकार हरिऔध ही है जिन्होंने संस्कृत वृत्तों मे प्रियप्रवास की रचना की और उनको उसी स्वरूप में रहने दिया। उन्होंने अन्त्यानुप्रास की ओर ध्यान नही दिया और अतुकान्त कविता की। अतुकान्त से मेरा अभिप्राय यह नही है कि उनमे गणों का आश्रय नहीं था। वे तो गणाश्रित छन्द थे ही। प्रियप्रवास मे निम्नलिखित शब्दो का प्रयोग हुआ है:—

(१) द्रुतविलम्बित, जिसका स्वरूप न. भ. भ. र. है। यह गण आठ प्रकार के होते हैं और वे "यमाताराजमानसलगा" सूत्र के अनुसार पहिचाने जा सकते है—यथा नगण को ज्ञात करना है, उसके लिए उस नकार के आगे दो अक्षरों को देखो 'नसल' प्राप्त होता है। अतः उसमें तीनों अक्षर लघु होंगे। इसी प्रकार 'भगण' को देखो–मानस में प्रथम अक्षर दीर्घ है और अन्तिम दोनों लघु हैं। इसी प्रकार अन्य गुणों को समझ लेना चाहिये। यथा—

"अति जरा विजिता वहु चिन्तता
विकलता ग्रसिता सुख वंचिता
सदन में कुछ थीं परिचारिका
अधिकृता कृशता अवसन्नता।"

अगर हम छन्द को जानना चाहें कि यह मात्रिक है अथवा गणाश्रित तो उसके लिए सरल उपाय यह होगा कि लघु के लिए और दीर्घ के लिए क्रमशः I ऽ 'चिह्न' रख लें तो सरलता से गण पहिचाने जा सकते है और बतलाया

जा सकता है कि अमुक छन्द में कितने गण हैं। उपर्युक्त छन्द की प्रथम व द्वितीय पंक्ति को हम इसी प्रकार से देखेंगे—

। । । S । । S । । S । S
अति जरा विजिता बहु चिन्तिता

। । । S । । S । । S । S
विकलता ग्रसिता सुख वंचिता
न. भ. भ. र.

(अ) रा ता चि ता — अतिज विजि बहु ति — पहली पंक्ति में नगण, भगण, भगण और रगण हैं

(ब) ता ता वं ता — विकल ग्रसि सुख चि — दूसरी पंक्ति में भी नगण, भगण, भगण और रगण हैं।

अतः यह गणाश्रित छन्द है। लक्षणों के अनुसार द्रुतविलम्बित हुआ।

(२) वसन्ततिलका में तगण, भगण दो जगण और अन्त में दो गुरु होते हैं—

SS। S। । । S । । S। SS
"भा भरा वा मुरलिका स्वर मुग्धकारी,

SS । S ।।। S।।S। SS
आदौ हुआ भरत साथ दिगन्त व्यापी।

पीछे पड़ा श्रवण में बहु भावुकों के,
पीयूष के प्रमुद वर्द्धकत्रि॥

(३) वंशस्थ में (ज, त, ज, र) गण होते हैं यथा—

"सुपक्वता पेशलता अपूर्वता,
फलादि की मधुकरी विभूति थी।
रसाप्लुता बन मंजु भूमि की,
रसालता थी करती रसाल की॥"

(४) मालिनी के प्रत्येक पद मे न, न, म, य, य गण होते है। यथा—

"अहह सिसकती मैं क्यों किसे देखती हूँ,
मलिन मुख किसी का क्यों मुझे है रुलाता।
जल जल किसका है छार होता कलेजा,
निकल निकल आहें कौन बेधती हैं ?"

(५) मन्दाक्रान्ता मे प्रत्येक पद मे म, भ, न, त, त दो गुरु होते है।

"सूखा जाता कमल मुख था होठ नीला हुआ था,
दोनों आँखें विपुल जल में डूबती जा रहीं थीं।
शंकायें थीं विकल करतीं काँपता था कलेजा,
खिन्ना दीना परम मलिना उन्मना राधिका थीं।"

(६) शार्दूलविक्रीडित में प्रत्येक पद में म, स, ज, स, त, त अन्त में गुरु होता है। यथा—

"यों ही आत्म प्रसंग श्याम वपु ने प्यारे सखा से कहा,
मर्यादा व्यवहार आदि व्रज का पूरा बताया उन्हें।
ऊधो ने सबको सुधीरज सुना स्वीकार जाना किया,
पीछे होकर के विदा सुहृद से आये निजागार वे ॥"

(७) शिखरिणी मे य, म, न, स, भ लघु और गुरु होते है।

(८) इन्द्रवज्रा मे त, त, ज, ग, ग होते है।

(९) उपेन्द्रवज्रा मे ज, त, ज, ग, ग होते है।

(१०) तोटक मे ४ सगण होते है।

(११) दुर्मिल मे ८ सगण होते है और (१२) भुजंगप्रयात मे ४ यगण होते है।

इस प्रकार हरिऔध का प्रयास अतुकान्त छन्दों में (सस्कृत वृत्तों मे) महाकाव्य लिखकर केवल मातृभाषा को सुसम्पन्न बनाना था। हिन्दी में इन्हीं छन्दो ने अन्त्यानुप्रास का रूप धारण कर लिया था। इनका प्रयोग मैथिलीशरण गुप्त और रामचरित उपाध्याय ने किया। वंशस्थ का उदाहरण प्रियप्रवास से दिया जा चुका है। अब एक उदाहरण अन्त्यानुप्रास से युक्त देखिये—

"उठे नहीं राम कभी प्रभात में,
उठे रहे बन्धु सभी प्रभात में।
स्वयं जगाने जननी उन्हें गयीं,
खिली मनों चम्पक की कली नयी।"

—रा० च० चि०

यद्यपि इन वृत्तों में कविता होने लगी थी फिर भी यह कठोर अनुशासन से बद्ध थी। छन्दों में गणों का अनुशासन था। मात्रिक छन्दों में, जैसा कि कहा जा चुका है कि केवल मात्राओं का ही नियम सर्वोपरि होता है, इसलिए पुराने छन्दों के साथ-साथ नये छन्दों का भी निर्माण हुआ। पुराने छन्द, जो महाकाव्यों मे प्रयोग में आये है, उनमें मुख्यकर रोला, सार, तोटक, वीर, पद्धरि, चन्द्रायण आदि है।

(अ) सार छन्द मे २८ मात्रायें होती है। देखिये--

"उस सुदृढ किले के अन्दर, था महल बना अति सुन्दर।
हो लिये अंक में शोभित, ज्यों हिमगिरि मानसरोवर॥"

—नूरजहाँ

(ब) चन्द्रायण मे २१ मात्रायें होती है। यथा—

"था निशीथ कालिन्दी कल कल शान्त था।
था मारुत हो श्रांत कहीं पर सो रहा॥
सुप्त धरा का रजनी नभ से मलिन मुख।
जगमग जगमग नभ दीपों ही से है हो रहा॥"

– नूरजहाँ

(स) वीर में ३१ मात्रायें होती है। यथा—

"पुरुष हृदय गम्भीर बड़ा है, सहज न मिलती उसकी थाह।
कैसे लोग छिपा लेते हैं मन में, खुटकी लेती आह॥"

—विक्र०

(द) पद्धरि में १६ मात्रायें होती है। यथा--

"बड़े हैं आप, पूज्य हे देव,
नहीं मन में मेरे कुछ भेव।
किसे दूँ दोष काल गति क्रूर,
मुझे ले गई सुपथ से दूर॥"

—विक्रमादित्य

(य) रोला में प्रत्येक पद में २४ मात्रायें होती है। यथा—

"उठा तुमुल रणनाद, भयानक हुई अवस्था।
बढ़ा विपक्ष समूह, मौन पद दलित व्यवस्था॥"

—कामा०

(य) तोटक के प्रत्येक पद में ३० मात्रायें होती हैं। यथा—

"देव न थे हम और न ये हैं, सब परिवर्तन के पुतले;
हाँ, कि गर्व-रथ में तुरंग सा, जितना जो चाहे जुत ले।"

—कामायनी, आशा०

मात्रिक छन्द को तुकान्तहीन करने का साहस कोई कवि न कर सका। केवल आल्हखण्डकार ने अवश्य इसका उल्लंघन किया। आलोच्य काल में मैथिलीशरण गुप्त ने भिन्न तुकान्त की सबसे पहिली कविता की। इन्होंने अरिल्ल छन्द, जो २१ मात्राओं का था, उसमें कुछ परिवर्तन करके रचना की, यद्यपि महाकाव्यों में इसका प्रयोग नहीं हुआ। उदाहरणार्थ एक पद देखिये—

"कहो कौन है ? आर्य जाति के तेज सा,–२१
देश भक्त जननी के सच्चे दास हैं।–२१
भारतवासी नाम बताना पड़ेगा,–१०
मसि मुख में ले अहो लेखनी क्या लिखे॥"२०

मात्रावृत्त में तुकान्तहीन पद्यरचना किसी भी छन्द में की जा सकती है। मुक्त छन्द में किसी प्रकार का बन्धन नहीं है। उसमे न मात्रा का बन्धन है, न गण का और न वर्ण का। यदि बन्धन है तो केवल लय का।

इस प्रकार के छन्दों का भी महाकाव्यों में प्रयोग नही हुआ है। संस्कृत और हिन्दी छन्दों के अतिरिक्त उर्दू छन्दों का भी प्रयोग किया गया है, किन्तु उनका प्रयोग मुक्तक काव्य तक ही सीमित रहा। कहीं-कहीं पर महाकाव्यों में भी प्रयोग हुआ है। नूरजहाँ से एक उदाहरण पर्याप्त होगा। देखिये बहरेतवील:—

"यह हार मेरे गले का ले अब, तू हार मेरे गले का हो जा।
हुए शिथिल तेरे अंग थक कर, तू लग कलेजे में मेरे सो जा॥" २५

उक्त छन्द उर्दू की बहरेतवील 'फ़ऊल फेलुन फऊल फेलुन फ़ऊल फेलुन फ़ऊल फा' के वजन पर लिखा गया है।

सप्तम अध्याय

द्विवेदीकाल के महाकाव्य

(१९००-१९२०)

द्विवेदीकाल के महाकाव्य निम्न हैं:—

प्रियप्रवास, रामचरितचिन्तामणि और साकेत।

प्रियप्रवास

खड़ीबोली में सर्वप्रथम महाकाव्य का प्रतिनिधित्व करने का सौभाग्य यदि किसी ग्रन्थ को प्राप्त है तो वह प्रियप्रवास ही है। उसमें शैली की एक नवीनता है जो प्रयत्न करने पर भी दूसरे ग्रन्थों को अप्राप्य रही। शास्त्रीय लक्षणों के अनुसार महाकाव्य के प्रायः सभी लक्षण इसमें घटित होते हैं। यह ग्रन्थ १७ सर्गों में विभाजित है। इसकी कथा प्रख्यात है, कल्पित नहीं। इसका आधार है—महाभारत और श्रीमद्भागवत। इसमें श्रीकृष्ण नायक है जो धीरोदात्त हैं। साहित्यिक नाम अनुप्रासपूर्ण होने के कारण हरिऔध की कलात्मकता के दिव्य दर्शन तो होते ही हैं; साथ ही प्रारम्भ में प्रकृतिवर्णन करके विषय-प्रवेश की सूचना "दिवस का अवसान समीप था, गगन था कुछ लोहित हो चला" द्वारा देकर अपनी विद्वत्ता का परिचय दिया है और परम्परा का निर्वाह भी किया है। रसप्राप्ति के लिये काव्य में अनेक प्रकार के वर्णन भी रखे जाते हैं जो क्रम-बद्ध कथा को अग्रसर करने में सहायक हों। शृंगार, वीर और शान्त में से किसी एक की प्रधानता रहे और अन्य रस गौण रूप में वर्तमान रहें। इसमें प्रारम्भ में श्रीकृष्ण के संयोग की कथा का वर्णन करने के पश्चात् विप्रलम्भ शृंगार (वियोग) की प्रधानता है, साथ ही वात्सल्य की पवित्र झाँकी उसमें दिखाई देती है। नन्द और यशोदा के हृदयोद्गार वात्सल्य रस के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। करुण रस का प्रवाह यत्र-तत्र सर्वत्र प्रवाहित तो है ही, साथ ही वीर रस के दर्शन हमें उन स्थलों से प्राप्त हो जाते हैं, जहाँ पर श्रीकृष्ण ने वन के हिंसक पशुओं और क्रूर प्रवृत्तियों वाले राक्षसों का वध किया है।

प्रकृतिवर्णन मे उत्तम एवं रोमाचकारी दृश्यों के उद्घाटन है जिनमें अद्भुत रस का समावेश है।

नाट्य सन्धियों के निर्वाह का प्रयत्न किया गया है। इस ग्रन्थ मे कवि का महत् उद्देश्य है मानव-जीवन की समस्याओं का समाधान। वह जीवन-समस्या है स्वार्थमोह का परित्याग कर निस्स्वार्थ भाव से समाज की सेवा करना। इसकी पूर्ति इस ग्रन्थ मे राधा और कृष्ण के शुद्ध प्रेम से होती है जो अन्त मे विश्वप्रेम मे परिणत हो जाती है। इस प्रकार हम देखते है कि यह महाकाव्य की कोटि में आ जाता है। कुछ विद्वान् आलोचकों के आक्षेपों पर भी यहाँ विचार कर लेना अप्रासाँगिक न होगा। वे आक्षेप निम्नलिखित है:—

(अ) प्रियप्रवास का कथानक इतना सूक्ष्म है कि एक महाकाव्य क्या, अच्छे खण्डकाव्य के लिए भी अपर्याप्त है[1]।

(ब) एकार्थ काव्य के अन्तर्गत रखते हुए पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने लिखा है कि एकार्थ काव्य में कथाप्रवाह में मोड़ कम होते है। गंगावतरण, प्रियप्रवास, साकेत और कामायनी वस्तुतः एकार्थ काव्य ही है[2]।

श्री गुलाबराय ने इस आक्षेप का निराकरण करते हुए लिखा है कि विस्तार और मोड़ का प्रश्न सापेक्षित है, अप्रत्याशित मोड़ों के लिए कल्पित कथानकों में अधिक गुँजायश रहती है। कृष्णकथा इतनी प्रचलित है कि उसमें मोड़ों की सम्भावना नहीं रहती। सर्गो और छन्दों की दृष्टि से प्रियप्रवास में महाकाव्य का पूर्ण निर्वाह हुआ है। उसमें महाकाव्य के वर्ण्य विषय भी प्रायः आ गये है[3]।

नन्ददुलारे वाजपेयी इसको महाकाव्य मानते हुए अन्य काव्यों में उच्च स्थान देते है[4]। इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में पं० लोचनप्रसाद पाण्डेय इसे महाकाव्य मानते हुए लिखते है कि चरित्रचित्रण की महत्ता, पूर्ण कुशलता, प्राकृतिक एवं ऋतुओं के वर्णन की उत्तमता, कर्त्तव्यपालन, स्वजाति और स्वदेश एवं देशोद्धार के लिए जीवन उत्सर्ग करने की दृढ़ता, निर्भीकता, गुरुता, प्रेम, भक्ति और योग की उपयोगिता, सुव्याख्यामयी गम्भीरता इस महाकाव्य की महोच्चता की सामग्रियाँ है। उपर्युक्त विवेचन से अनुमान लग गया होगा कि यह काव्य महाकाव्यों में स्थान पाने का अधिकारी है अथवा नहीं। मेरा अपना विचार

---

(१) हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ६७८. (२) वाङ्मय विमर्श, पृष्ठ ४४.
(३) सिद्धान्त और अध्ययन, काव्य के रूप भाग २, पृष्ठ ६२. (४) महाकवि हरिऔध, पृष्ठ ८-९

है, और जैसा मैंने महाकाव्य की परिभाषा में व्यक्त किया है कि महाकाव्य वही कहलाने का अधिकारी है जिसमें जातीय संस्कृति के महाप्रवाह को उद्‌घाटन करने के लिए अथवा महच्चरित्र के विराट् उत्कर्ष के प्रकटीकरण करने का विराट् आयोजन हो। नीचे इस दृष्टिकोण से हम 'प्रियप्रवास' पर विचार करेंगे।

हरिऔध जी ने समाज की गतिविधि एवं जीवन की विकट समस्याओं को पूर्ण रीति से समझा है। उनका मत है कि जितनी बुराइयाँ समाज में फैली हैं उनका मूल कारण स्वार्थपरता ही है। यदि समाज से स्वार्थपरता की भावना पृथक् कर दी जावे तो समाज में जो इतने द्वन्द्व दिखलाई देते है उनका निराकरण हो जावेगा। समाज स्वार्थ की शृंखलाओं में आबद्ध होने के कारण ही वह अपने तक ही सीमित रहता है लेकिन जब वह निःस्वार्थ भावना से कार्य में रत होगा तो उसे समस्त विश्व कुटुम्ब की भाँति दिखलाई पड़ेगा और उसके सुख-दुःख उसके सुख-दुःख बन जायेंगे। हरिऔध जी ने इस भाव को समझा है और उसे प्रसारित करने के लिए ही प्रियप्रवास का आयोजन किया है। क्या कृष्ण, क्या राधा—सभी अपने व्यक्तिगत स्वार्थों की तिलांजलि देखकर समष्टि की ओर ध्यान देते हैं। कृष्ण जानते हैं कि यदि कंस और शिशुपाल आदि को नष्ट न कर दिया गया और राज्य को सुव्यवस्थित न बनाया गया तो प्रजा को कष्ट होगा। अतः उन्होंने व्रज को लौट जाना उचित न समझा और व्रजवासियों के मधुर मिलन को त्याग देना ही उचित समझा क्योंकि इस समय त्याग की आवश्यकता थी। यदि वे स्वयं त्याग न करते तो किस प्रकार गोप और गोपियों को त्याग की शिक्षा दे सकते। यह स्वार्थ-त्याग का सन्देश था। इस प्रकार यह काव्य संस्कृति के महाप्रवाह का उद्‌घाटन करता है।

सबसे बड़ा आक्षेप इस बात का है कि कथानक इतना सूक्ष्म है कि कृष्ण-चन्द्र का पूर्ण जीवनचरित्र इसमें व्यक्त नहीं हो सका। यह आक्षेप किन्हीं अंशों में सत्य है, किन्तु आलोचकों को यह बात नहीं भुला देनी चाहिए कि यह युग बुद्धिवाद का है। इस काल में महाकाव्य उतने घटना-प्रधान नहीं होते जितने विचार-प्रधान। अतः इस महाकाव्य में कृष्णचरित्र को एक बौद्धिक एवं नैतिक रूप दिया गया है जो राष्ट्रीय भावना के अनुकूल है। (जीवनवृत्त-कथन न तो काल के अनुरूप होता न उसमें वह एकरसता रहती जो कवि को अपेक्षित है।) अन्त में मेरी धारणा यह भी है कि नायक के चरित्र के साथ नायिका का भी समावेश होता है। विरहप्रधान होने के कारण इसमें नायिका का विशेष स्थान होना स्वाभाविक ही है। इसी से इसमें नायिका

राधिका के पूर्ण चरित्र की अभिव्यक्ति मिलती है। इस प्रकार हमें जो कमी नायक के चरित्र में ज्ञात होती है उसकी पूर्ति नायिका के चरित्र से हो जाती है। प्रकृतिचित्रण के विशद वर्णन जैसे प्रियप्रवास में दिखलाई पड़ते हैं वैसे अन्य काव्यों में मिलना दुर्लभ है। इस प्रकार से यह काव्य महाकाव्यों की श्रेणी में स्थान पाने का अधिकारी हो जाता है।

कथानक–इस काव्य की कथा का आधार महाभारत और श्रीमद्भागवत है जिनमें श्रीकृष्ण के जीवन की झाँकी यत्र-तत्र प्राप्त होती है। ऐतिहासिक कथानक में हरिऔध जी ने कुछ स्थलों में परिवर्तन किया है जो तात्कालिक परिस्थिति से पूर्ण समन्वित तथा वर्तमान युग के अनुरूप तर्कसिद्ध है। श्रीकृष्ण हमारे सम्मुख अवतार के रूप में नहीं, बल्कि महापुरुष के सदृश उपस्थित होते हैं और लोकनायक के अनुसार सारे कृत्य सम्पादित करते है। कवि का प्रयास यही रहा है कि वे मानवता के गुणों से ओत-प्रोत रहें और अमानवीय कृत्यों से उनका सम्बन्ध न रहे। इसी कारण अद्भुत वेणुनाद से सर्पयूथ को सयुक्ति संचालन करना, प्रचण्ड दावानल से समस्त गोपालक एवं धेनुसमुदाय को अपनी अलौकिक स्फूर्ति से बचाना, इन्द्र के कोप से व्रजलोगों को पर्वत की कन्दराओं में सुरक्षित करके उनके दुःखों को निवारण करना, कार्य-लाघवता के कारण पर्वत को उँगली पर उठा लेना आदि को अपनी अभिव्यंजना-शक्ति द्वारा अभिव्यक्त किया है। यही नहीं, कवि ने कथा के मार्मिक स्थलों को ठीक प्रकार से समझा है। जैसे—माता का पुत्र के प्रति स्नेह, राधा का कृष्ण के प्रति निष्काम प्रेम, पवनदूत की कल्पना एवम् उसका क्रन्दन, गोपों का सौहार्द, पशु-पक्षियों की व्याकुलता आदि ऐसे स्थल है जो मानवसमुदाय को अनायास अपनी ओर आकृष्ट कर लेते हैं। कवि ने इन कोमल स्थलों को साकार रूप देने की सफल चेष्टा की है। इस प्रकार हम इसके कथानक को दो भागों में विभाजित कर सकते है–पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध। पूर्वार्द्ध है प्रथम सर्ग से लेकर अष्टम सर्ग की कथा, जिसमें प्रथम सर्ग में कृष्ण के गोचारण से लौटकर गृह आना और वंशी की ध्वनि से सबको प्रसन्न करना तथा दूसरे सर्ग में कंस द्वारा कृष्ण को मथुरा पहुँचाने का निमन्त्रण एवं उसको सुनकर दुःखी होना। तीसरे सर्ग में यशोदा का वात्सल्यमय विरह-विलाप, चौथे सर्ग में राधा का करुण क्रन्दन, पाँचवें सर्ग में कृष्ण का शोकसन्तप्तों को छोड़ मथुरा-प्रयाण, छठ, सातवें तथा आठवें सर्गो में सम्पूर्ण वृन्दावन मे शोक-सन्ताप का व्यापक विस्तृत वर्णन है।

उत्तरार्द्ध के नवें सर्ग में उद्धव का मथुरा आना, दस से सोलह तक गोप-गोपियों, विशेषकर राधा की विरहवेदना, अतीत सुखद स्मृतियों की दुःखद

कसक एवम् उद्धव द्वारा दिनानुदिन इस दयनीय दशा के निरीक्षण का वर्णन है। सत्तरहवें सर्ग में कृष्ण का लोकोपकारी कार्यों में रत होना और वृन्दावन न लौटना। इधर राधा की विश्वप्रेम में तल्लीनता व्यक्त की गई है।

इस प्रकार हम देख सकते हे कि पूर्वार्द्ध में प्रथम, द्वितीय, तृतीय और पञ्चम सर्ग मे कथा का क्रमिक विकास है और उत्तरार्द्ध में नवम एव सप्त-दशम सर्ग में विलाप इतना अधिक हो गया है कि मन व्याकुल होने लगता है। यह कलापक्ष की कमी है। किन्तु इस कमी को दूर करने के लिए श्रीकृष्ण के विक्रम एवं शील का अद्भुत परिचय देकर काव्य मे गति प्रदान की है। कथानक में इस बात का ध्यान रहना चाहिए कि स्थान, समय और कार्य की अन्विति में व्यवधान न पड़ने पावे। जैसे—बहुधा देखा जाता है कि दो घट-नाओं के बीच समय का अन्तर पड़ जाता है जिससे काव्य मे दोप आ जाता है और घटनाक्रम अस्वाभाविक-सा लगने लगता है किन्तु प्रियप्रवास मे समय एवं स्थान का क्रमिक विकास हुआ है।

चरित्र-चित्रण—प्रियप्रवास चरित्रप्रधान काव्य है। इसमे अधिक पात्र नही है। श्रीकृष्ण-राधा, नन्द-यशोदा और उद्धव ही सम्मुख आते हे। वैसे तो अनेक गोप-गोपिकायें, बाल, वृद्ध एवं वृद्धायें उपस्थित होते हे किन्तु उनका कोई महत्त्वपूर्ण स्थान नही। महत्त्वपूर्ण चरित्र श्रीकृष्ण, यशोदा और राधा जी के ही हैं। अतः यहाँ हम श्रीकृष्ण, राधा और यशोदा के चरित्र का विवेचन करेंगे।

कृष्ण—महाभारत एवं प्रियप्रवास के कृष्ण मे और सूर एवं गीत-गोविन्द के कृष्ण में महान् अन्तर है। अभी तक कृष्ण माखनचोर, गोप-ललनाओं के साथ प्रेमालाप करने वाले एवं राधा के चरणों मे पलोटन करने वाले के रूप में चित्रित किए गए थे किन्तु हरिऔध जी के द्वारा महाभारत के आधार पर उन्हें कर्मयोगी एवं लोकप्रिय नेता व्यक्त किया गया है। कृष्ण के चरित्र मे सौन्दर्य, शक्ति और शील का सुन्दर समन्वय हुआ है। वे इन्हीं गुणों के कारण समस्त गोकुलवासियों को अपनी ओर आकर्षित किए हुए हैं। उन्हें अपने सुख की चिन्ता नही है। वे राष्ट्र, जाति अथवा इष्ट मित्रों पर जब कष्ट आते देखते हैं, उस समय वे पूर्ण मनोयोग से उसका निवारण करते हे और अपने उदात्त चरित्र का परिचय देते है। गतानु-गतियों पर चलना उन्हें इष्ट नहीं। वे कण्टकाकीर्ण पथ को स्वयं प्रशस्त एवं ऋजु बनाते चलते हे। वे स्वजाति की दुर्दशा और मनुष्यमात्र की विगर्हणा देख अत्यन्त उत्तेजित हो जाते हे और कहते हे कि मैंने जातिरक्षा के लिए ही

"अवश्य हिंसा अति निन्द्य कर्म है,
तथापि कर्त्तव्य प्रधान है यही।
न सद्म हो पूरित सर्प आदि से,
वसुन्धरा में पनपें न पातकी॥"

❀ ❀ ❀

"मनुष्य क्या एक पिपीलिका कभी,
न वध्य है जो न अश्रेय हेतु को।
न पाप है किंच पुनीत कार्य है,
पिशाच कर्मी नर की वध-क्रिया॥"

❀ ❀ ❀

"क्षमा नहीं है खल के लिए भली,
समाज - उत्सादक दण्ड योग्य है।
कुकर्मकारी नर का उबारना,
सुकर्मियों को करता विपन्न है॥"

वे अपने अनिष्टकारी प्रिय को भी दण्ड देना उचित समझते है—

"वे तो सारी हृदय तल की भूल वेदनाएं,
शास्ता होके उचित उसको दण्ड और शास्ति देंगे।"

इस प्रकार कृष्ण अपने को उस मार्ग का अनुगामी बनाते है जो श्रेष्ठ एवं कल्याणकारी हो। यद्यपि मथुरा व्रज से तीन मील के अन्तर पर ही है, किन्तु कृष्ण समाजकल्याण के लिए शत्रु को नष्ट करना और समाज को सुव्यवस्थित करना गोप-गोपिकाओं के मिलन से श्रेयस्कर समझते हैं। इसी हेतु वे व्रज नही पहुँच पाते। किन्तु वे अपने पूर्वपरिचित साथियों, माता यशोदा एवं राधिका आदि को नहीं भूलते। उनकी याद उन्हें सदैव व्यथित करती रहती है—

"भूले हैं न, सदव याद उनकी देती व्यथा है महा।"

श्रीकृष्ण प्रेमी हैं किन्तु उनका प्रेम एकांगी नहीं है। उनकी दृष्टि विश्व-कल्याण की ओर है। फिर उसका अवसान व्रजजनसमुदाय में ही कैसे होता?

"वे जी से हैं अवनि-जन के प्राणियों के हितैषी,
प्राणों से है अधिक उनको विश्व का है प्रेम प्यारा।"

जो व्यक्ति अपने प्राणों को निःस्वार्थ भूतहित और लोकसेवा में अर्पित करना चाहता हो उसके लिए गोप-गोपिकाओं का रुदन बाधक नहीं होता। ऐसे व्यक्ति मानव जाति का उद्धार कर सकते हैं।

राधा—प्रियप्रवास की राधा भारतभूमि की नारी-जाति की एक जीती-जागती मूर्ति है जिसके दर्शन हमें प्रारम्भ में एक अपूर्व छविमयी बालिका के रूप में होते हैं। वह—

> "रूपोद्यान प्रफुल्ल-प्राय-कलिका, राकेन्दु बिम्बानना।
> तन्वंगी कल-हासिनी सुरसिका, क्रीड़ा-कला-पुत्तली॥
> शोभा वारिधि की अमूल्य मणि सी, लावण्य-लीला-मयी।
> श्री राधा मृदु-भाषिणी मृगदृगी, माधुर्य-सन्मूर्ति थीं॥"

वही बालिका बालकृष्ण के साथ बाललीला करती हुई कृष्ण के प्रेम में तल्लीन हो जाती है। उसका कृष्ण के प्रति इतना प्रेम बढ़ जाता है कि उसकी इच्छा कृष्ण को अपना पति बनाने की हो जाती है। वह कहती है कि—

> "हृदय चरण में तो मैं चढ़ा ही चुकी हूँ,
> सविधि-वरण की थी कामना और मेरी।
> पर सफल हमें सो है न होती दिखाती,
> वह कब टलता है भाल में जो लिखा है॥"

❀ ❀ ❀

> "मम पति हरि होवें चाहती मैं यही हूँ,
> पर विफल हमारे पुण्य भी हो चले हैं॥"

किन्तु जब कृष्ण मथुरा चले गए तो उसकी आशाओं पर तुषारपात हो गया। आज उसका हृदय दग्ध हो रहा है। वह कृष्ण के प्रेम में पागल हो रही है। उसे व्रजभूमि और यमुनातट ही अच्छा लगता है। वह प्रेम की भिखारिणी है। न उसे वैभव की आकांक्षा है और न किसी विशेष उच्च वंश की। वह तो आज कृष्ण के प्रेम में पागलिनी और वियोगिनी बनी हुई है। वह कहती है कि—

> "न कामुका हैं हम राजवेश की, न नाम प्यारा यदुनाथ है हमें।
> अनन्यता से हम हैं व्रजेश की, विरागिनी, पागलिनी, वियोगिनी॥"

वह इतनी दुःखी एवं संज्ञामूढ़ है कि कोयल से कहती है कि तू जाकर अपनी करुण वाणी सुना जिससे वे वियोग की कठोरता, व्यापकता एवं गंभीरता से अभिज्ञ हों। लेकिन स्वयं मना करती है और कहती है कि—

"न जा, वहाँ है न पधारना भला, उलाहना है सुनना जहाँ मना।"

इन शब्दों में कितनी वेदना और कसक भरी है। जब प्रेमी समझता है कि किसी बात का प्रभाव उसके प्रेमी के हृदय पर नहीं पड़ता तो उसे विरक्ति हो जाती है। आज राधा की वही दशा है। राधा को जीवन से भी विरक्ति है। वह यह इच्छा करने लगती है कि "इस पार्थिव शरीर से यदि कृष्ण का मिलन नहीं हो सकता तो मरने के पश्चात् उसकी मिट्टी पर श्यामता के सुन्दर फूल खिलना" कितना सुन्दर मिलन होगा। आत्मत्याग की कैसी सुन्दर कल्पना है। राधा के उच्च विचारों का अनुभव हमें उस समय होता है जब वे कौमार्यावस्था में ही उस प्रेम को भस्मसात् कर उस व्यापक ब्रह्म में लगा देती है जिसके कृष्ण भी एक अंग हैं। उनका विश्वास है कि समस्त विश्व की कल्याणकारिणी भावना के द्वारा लोक-सेवा-रत होना कृष्ण के अधिक निकट पहुँचना है। अतः राधा भी उन्हीं भावनाओं को स्वीकार करती है जिन्हें कृष्ण अपने जीवन का अंग बना चुके हैं। वह कहती है कि—

"पाई जाती विविध जितनी वस्तुएं हैं सबों में।
जो प्यारे को अमित रंग औ रूप में देखती हूँ॥
तो मैं कैसे न उन सबको प्यार जी से करूँगी।
यों है मेरे हृदय तल में विश्व का प्रेम जागा॥"

फिर आगे चलकर कहती है—

"विश्वात्मा जो परम प्रभु है रूप तो है उसी के।
सारे प्राणी सरि गिरि लता बेलियाँ वृक्ष नाना॥
रक्षा पूजा उचित उनका यत्न सम्मान सेवा।
भावोपेता परम प्रभु की भक्ति सर्वोत्तमा है॥"

अतः वह उन्हीं पवित्र कार्यों में रत हो जाती है। वह अपने दुःख से दुःखित नहीं है बल्कि अब वह व्रजवासियों के दुःख से व्यथित है। उसका यह व्रत है कि—

"आज्ञा भूलूँ न प्रियतम की विश्व के काम आऊँ।
मेरा कौमार व्रत भव में पूर्णता प्राप्त होवे॥"

कितना कठोर तथा निर्मल है। जिस राधा के हृदय में "मम पति हरि होवें चाहती मैं यही हूँ।" है वही आज सेवाव्रत लिए व्रजभूमि में देवियों-सी पूजी जाती है। वह सदैव वृद्ध-रोगी-जनों की सेवा में रत दिखलाई पड़ती है—

"वे छाया थीं सुजन शिर की शासिका थीं खलों की।
कंगालों की परम निधि थीं औषधी पीड़ितों की॥
दीनों की थी बहिन जननी थीं अनाश्रितों की।
आराध्या थीं ब्रज अवनि की प्रेमिका विश्व की थीं॥"

इस प्रकार हम देखते है कि राधा न तो सूर की राधा है जो प्रभु की ह्लादिनी शक्ति की प्रतीक मानी गई है और न रीतिकालीन कवियों की। किन्तु प्रियप्रवास की राधा समाजसेविका है जो भौतिक प्रेम को विश्व-प्रेम में परिवर्तित कर देती है और अन्त में उसके दर्शन लोक-सेविका के रूप में प्राप्त होते हैं। आज जबकि पश्चिमीय संस्कृति से ओत-प्रोत नारियाँ सम्बन्ध-विच्छेद (तलाक) को ही सर्वश्रेष्ठ समझ रही है यहाँ भारतभूमि की राधा आजीवन कौमार व्रत को लेकर लोक-सेवा द्वारा ही अपना जीवनयापन करना श्रेयस्कर समझती है। धन्य है राधा ऐसी नारियाँ, जो विश्व को अपनी ध्येय-निष्ठा से आलोकित एवम् उसका पदप्रदर्शन कर सकती हैं। राधा का जो भव्य रूप हमारे समक्ष आता है वैसा स्वरूप हमें आधुनिक महाकाव्यों में कहीं देखने को नही मिलता। अतः हम भी कवि के साथ होकर प्रार्थना करते हे कि—

"राधा जैसी सदय हृदय विश्व प्रेमानुरक्ता।
हे विश्वात्मा! भरत भुवि के अंक में और आवें॥"

यशोदा—मातृत्व की प्रतीक कृष्ण को प्राप्त कर अपने जन्म को कृत-कृत्य समझने वाली यशोदा का चरित्र बड़ा ही मर्मस्पर्शी है। कृष्ण उसकी औरस सन्तान नहीं किन्तु वह उन्हें अपना पुत्र ही मानती है और उसी प्रेम से लालन-पालन करती है। वह कृष्ण के अनुचित कार्यों पर दण्ड भी देती है और थोड़ी ही देर मे प्यार करने लगती है। वह ममता से युक्त है। जब उसे कंस-नियोजित षड्यंत्र का आभास होता है, उसका मातृ-हृदय काँप जाता है और वह उसी स्थिति में रात्रिभर ईश्वराराधन करती है कि मेरा लाल सकुशल लौट आवे। व्यथितहृदय को शान्ति देने के लिये वह रुदन करती है, किन्तु उसका लाड़ला पुत्र जग न जाये इस हेतु वह रातभर सिसकती ही रहती है। मार्ग में अनिष्ट हो सकते है। उनका निर्देश वह नन्द से कर देती है और उनसे बचाने का यथाशक्ति प्रयत्न करने की प्रार्थना करती है —

"मधुर फल खिलाना दृश्य नाना दिखाना,
कुछ पथ दुःख मेरे बालकों को न होवे।"

यद्यपि नन्द भी सतर्क हैं कि कृष्ण को किसी प्रकार का मार्ग-जन्य कष्ट न हो किन्तु माता की ममता का अन्त नहीं। वह स्वयं जानती है कि "हृदय-

धन तुम्हारा भी यही लाड़ला है, पर विवश हुई हूँ जी नहीं मानता है, यह विनय इसी से नाथ मैंने सुनाई।"

वह अति दुःखी है। उसकी स्थिति कृष्ण के चले जाने पर विचित्र हो जाती है। खाना-पीना कुछ भी अच्छा नहीं लगता। नन्द के लौटने पर उनसे प्रश्न करती है कि—"प्रिय पति वह मेरा प्राण प्यारा कहाँ है?" कितनी ममता इस प्रश्न के भीतर झलकती है।

आशा ही जीवन है। उसे आशा है कि कृष्ण एक दिन लौटकर अवश्य आवेंगे। वह भी कृष्ण के आगमन की प्रतीक्षा करती रहती है। कोई भी मथुरा से आता दिखाई देता तो उससे भी दो-चार बातें कृष्ण के सम्बन्ध में अवश्य पूछती। उद्धव के आने पर वही प्रश्न कि—"मेरा पुत्र सकुशल तो है?" यही नहीं, यहाँ पर मातृस्नेह एवं वात्सल्य मुखरित हो उठता है और वह कहती है कि—

"मीठे मेवे मृदुल नवनी पकवान्न नाना,
धीरे प्यारों-सहित सुत को कौन होगी खिलाती?
प्रातः पीता सु-पय कजरी गाय का चाव सेथा,
हा पाता है न अब उसको प्राण प्यारा हमारा।"

कौन ऐसा होगा जो उन वस्तुओं को प्रदान कर सकेगा जिसका अनुभव कृष्ण के शैशव से ही प्राप्त है? उसे यह सुनकर आनन्द है कि दुःखिता देवकी आज सुखी है किन्तु यह कथन कि "मेरा कृष्ण दूसरे का लाड़ला है" उन्हें मृतक बनाता है और उनके हृदयोद्गार प्रवाहित हो उठते हैं कि—

"छीना जावे लकुट न कभी वृद्धता में किसी का,
ऊधो कोई न कल छल से लाल ले ले किसी का।
पूँजी कोई जनम भर की गाँठ से खो न देवे,
सोने का भी सदन न बिना दीप के हो किसी का।।"

अन्त में जब उन्हें ज्ञात हो जाता है कि कृष्ण का व्रज आना कठिन है तब भी वह सदैव यही चाहती है कि "प्यारे जीवें और प्रमुदित रहें औ बनें भी उन्हीं के। धाई नाते बदन दिखला और बारेक जावें।।" यही भाव विश्व में उन्हें श्रेष्ठ और उच्चतम पद प्रदान करने के लिये पर्याप्त है और इसीलिये वे वंद्य और श्लाघ्नीया हैं।

प्रकृति-चित्रण—संस्कृत-काव्यों में प्रकृति-चित्रण पर्याप्त मात्रा में मिलता है। भक्तिकाल में भी उसके दर्शन होते हैं, किन्तु रीतिकालीन कवि केवल नायक और नायिका तक ही सीमित रहे और उन्हीं के हाव-भाव, भृकुटि-संचालन आदि के वर्णन में अपनी प्रतिभा का प्रमाण देते

रहे। भारतेन्दु ने यद्यपि प्रकृति-चित्रण की ओर ध्यान दिया किन्तु प्रकृति की नैसर्गिक रूपराशि की ओर से वे भी उदासीन रहे। उपाध्याय जी ने ही इस उदासीनता को हटाकर हमारे समक्ष प्रकृति के भावपूर्ण और कलात्मक चित्र प्रस्तुत किये है। आदि से अन्त तक उनका काव्य प्रकृतिदृश्यों के वर्णनों से ओत-प्रोत है। इस दिशा में यह महाकाव्य महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

प्रियप्रवास का घटनास्थल व्रजभूमि है जहाँ प्रकृति का सौम्य स्वरूप अनायास प्राप्त हो जाता है। यमुनातट, कदम्ब एवं करील-कुञ्जों से युक्त विशाल सघन-वन, नाना प्रकार के पशु-पक्षी, विविध प्रकार के प्रसून एवं पर्वतमालायें आदि इसे रम्यस्थली में परिवर्तित कर देते है। कवि का कार्य एकमात्र इतना ही है कि वह इस प्रचुर सामग्री को अपनी तूलिका से चित्रित कर दे। भावुक कवि ने इस नैसर्गिक सौन्दर्य को अपने काव्य मे चित्रित किया है और प्रकृति-चित्रण की जितनी विधियाँ हो सकती है अवसरानुकूल यथानुसार उनका प्रयोग किया है।

प्रकृति का मानवीय पृष्ठाधार स्वरूप प्रस्तुत काव्य का प्रारम्भ दिवस के अवसान से होता है जो मानव-जगत् की घटना का पृष्ठाधार है, क्योंकि इस वर्णन से ज्ञात हो जाता है कि अब कोई अप्रिय घटना घटित होने जा रही है। प्रारम्भिक पंक्तियों का अवलोकन कीजिये—

> **"दिवस का अवसान समीप था, गगन था कुछ लोहित हो चला,**
> **तरुशिखा पर थी अब राजती, कमलिनी कुल वल्लभ की प्रभा।"**

अन्त मे इसका भान भी होने लगता है कि—

> **"विशद चित्रपटी व्रजभूमि की रहित आज हुई वर चित्र से,**
> **छवि यहाँ पर अंकित जो हुई अहह लोप हुई सब काल को।"**

इस प्रकार हम देखते है कि उपाध्याय जी ने प्रकृति को मानवीय व्यापारों का पृष्ठाधार बनाया। इसे कही पर अनुकूल और कहीं पर प्रतिकूल पृष्ठाधार के रूप में व्यक्त किया है। जब गोप और गोपिकाये श्रीकृष्ण का गुणगान कर रही थीं कि अक्रूर के आगमन की क्रूर सूचना प्राप्त हुई। उसका प्रभाव प्रत्येक व्यक्ति पर पड़ा। यही नही, प्रकृति तो इस अप्रिय घटना की सूचना अक्रूर के आने के पूर्व ही दे चुकी थी। वह भी इससे अभिन्न न रही—

> **"तम ढके तरु थे दिखला रहे तमस पादप से जन वृन्द को,**
> **सकल गोकुल गेह समूह भी तिमिर निर्मित सा इस काल था।"**

प्रकृति का आलम्बन स्वरूप कहीं-कहीं हरिऔध जी ने प्रकृति का वर्णन आलम्बन के रूप में किया है। प्रथम अर्थग्रहण में, जिसमें वस्तुओं की नामावली रहती है, जो केवल परम्परानिर्वाह ही कहा जा सकता है। देखिये—

> "जम्बू अम्ब कदम्ब निम्ब फलसा अम्बीर औ आमला,
> लीची दाड़िम नारिकेल इमली औ शिन्शपा इंगुदी ॥
> नारंगी अमरूत बिल्व बदरी सागौन शालादि भी,
> श्रेणीबद्ध तमाल लाल कदली औ शालमली थे खड़े।"

आलम्बन का द्वितीय रूप बिम्बग्रहण में वर्णन किया है जिसमे नाम-परिगणन नही होता, बल्कि प्रकृति के नैसर्गिक सौन्दर्य और उल्लास का चित्रण होता है—

> "थे स्नान से सकल पादप चन्द्रिका से प्रत्येक पल्लव प्रभामय दीखता था।
> सारी लता सकल बेलि समस्त शाखा डूबी विचित्र तर, निर्मल ज्योति में थी ॥"

कहीं पर सौन्दर्यवर्णन के साथ प्रकृति का मानव के समान रूप देखिये—

> "बढ़ा स्वशाखा मिस हस्त प्यार का, दिखा घने पल्लव की हरीतिमा।
> परोपकारी जन तुल्य सर्वदा, अशोक था शोक सशोक मोचता।"

उद्दीपन स्वरूप इसमे कहीं-कहीं पर प्रकृति का चित्रण उद्दीपन के रूप में किया गया है। यथा—

> "नीला प्यारा उदक सरि का देख के एक श्यामा,
> बोली खिन्ना विपुल बन के अन्य गोपांगना से।
> कालिन्दी का पुलिन मुझको उन्मना है बनाता,
> प्यारी डूबी जलद तन की मूर्ति है याद आती ॥"

प्रकृति का बिम्ब-प्रति-बिम्ब-स्वरूप - प्रस्तुत काव्य में कहीं पर मानव और प्रकृति की चेष्टाओं में बिम्ब-प्रति-बिम्ब के भाव प्रदर्शित किये गये है। जब यशोदा अश्रुपात करती है तो रजनी भी अश्रुपात करती है जिसे हम ओस का स्वरूप देते है—

> "विकलता लख ब्रज देवि की रजनि भी करती अनुपात थीं,
> निपट नीरव ही मिल ओस के नैन से गिरता बहु वारि था।"

कहीं पर प्रकृति मानव-जगत् से सहानुभूति प्रकट कर अपनी उद्दाम प्रवृत्ति को त्याग देती है। वसन्तागमन, जो प्रेमियों के हृदय में विरह-वेदना उत्पन्न

कर उन्हें व्यथित कर देता है, वही राधा की शान्तिवाटिका मे अवलाम्ब था। देखिये—

"प्रसून थे भाव समेत फूलते लुभावने श्यामल पत्र अंक में,
सुगन्धि को पूत बना दिगन्त में पसारती थी पवनाति पावनी।"

प्रकृति का सहचरी-रूप

कहीं प्रकृति को सहचरी अथवा यों कहिये कि उसको दूत बनाकर सन्देश भेजने के रूप मे अंकित किया है। पवनदूत को देखकर संस्कृत-कवि कालिदास का स्मरण हो जाता है—

"धीरे लाना वहन करके नीप का पुष्प कोई,
और प्यारे के चपल दृग के सामने डाल देना।
यों देना तू प्रगट दिखला नित्य आशंकिता हो,
कैसी होती विरह-वश में नित्य रोमांचिता हूँ॥"

प्रकृति के इन चित्रों के साथ निदाघ, वर्षा एवं शरद् आदि ऋतुओं के विशद वर्णन किये है। निदाघ का एक चित्र देखिये—

"स्वशावकों साथ स्वकीय नीड़ में,
अबोल होके खग वृन्द था पड़ा।
सभीत हो दाम निदाग्र से मनो,
नहीं गिरा भी तजती स्व-सद्म थी॥"

वर्षा का एक चित्र—

"ललितपूरित थी सरसी हुई उमड़ते पड़ते सरवृन्द थे,
कर सु-प्लावित कूल समस्त को सरित थी सप्रमोद प्रवाहिता।"

शरद्-पूर्णिमा का भी चित्र द्रष्टव्य है—

"जो मेदनी रजत पत्रमयी हुई थी,
किम्वा पयोधि पथ से यदि प्लाविता थी।
तो सर्व पत्र पर पादप बेलियों के,
पूरी हुई प्रथित-पारद-प्रक्रिया थी॥"

प्रकृति के द्वारा ही राधा को उस विराट् पुरुष के दर्शन प्राप्त हुए है और विश्वप्रेम भी उत्पन्न हुआ—

"यों ही है अवनि नभ में दिव्य प्यारा उन्हें में—?
जो छूती हूँ श्रवण करती देखती सूँघती हूँ।
तो होती हूँ मुदित मन में भावते श्याम को पा,
न्यारी शोभा सुगुण गरिमा साम्यता अंग जाता॥"

इस प्रकार हम देखते है कि प्रकृति के विविध स्वरूप एवं प्रातः, सायं, वनखण्ड, कछार, कुञ्जों, कुटीरों और ऋतुओं का मनोहर वर्णन प्रियप्रवास में मिलता है। ऐसा प्रकृति-चित्रण अन्यत्र अप्राप्य है।

भाव और रस—प्रियप्रवास विरह-प्रधान काव्य है। इसमें मुख्यतः शृंगार, करुण और वात्सल्य का सन्निवेश किया गया है। साहित्यदर्पण मे कहा गया है कि उत्तम प्रकृति का कामोद्रेक शृंगार कहलाता है[1]। इसके आलम्बन है नायक और नायिका। उद्दीपन है सखी, परिहास अथवा चन्द्र, वन, उपवन एवं ऋतु आदि; अनुभाव है भृकुटि-भंग, हाव-भाव आदि; संचारी है असूया, धृति आदि (आलस्य, मरण, उग्रता और जुगुप्सा को छोडकर) और स्थायी-भाव रति है। शृंगार में संयोग और वियोग दोनों पक्ष रहते है किन्तु वियोग शृंगार को अधिक महत्त्व दिया जाता है। वियोग मे मिलन का अभाव रहता है। यह वियोग विविध प्रकार का होता है। जो वियोग-अभाव परदेशगमन द्वारा होता है उसे प्रवास कहते है। इस काव्य मे इसी प्रकार का मिलन अभाव है। प्रियप्रवास इसका द्योतक है। इसके अतिरिक्त जो वियोग परा-काष्ठा को पहुँच जाता है वह करुणात्मक कहलाता है। साधारण करुणा और करुणात्मक वियोग में यही अन्तर है कि प्रथम मे सदा के लिये वियोग होता है और मिलन की आशा तिरोहित हो जाती है, द्वितीय मे मिलन की आशा केन्द्रित रहती है।

प्रस्तुत काव्य के प्रथम सर्ग में हमें श्रीकृष्ण के संयोगपक्ष के दर्शन होते है, क्योंकि उनके दर्शन से अपूर्व आनन्द और उल्लास छा गया था—

> "उछलते शिशु थे अति हर्ष से,
> युवक थे रस की निधि लूटते।
> जरठ को फल लोचन का मिला,
> निरख के सुखमा सुख मूल की॥"

लेकिन जैसे ही कृष्णवियोग की सूचना प्राप्त होती है कि उसका विद्युत्-प्रभाव प्रत्येक व्यक्ति पर लक्षित होता है—

> "नव उमंग मयी सब बालिका,
> मलिन और सशंकित हो गई।
> अति प्रफुल्लित बालक वृन्द का,
> वदन मण्डल भी कुम्हला गया॥"

---

१. "शृंगं हि मन्मथोद्भेदस्तदागमनहेतुकः।
उत्तमप्रकृतिप्रायो रसः शृंगार इष्यते॥"

जो बातें संयोगावस्था में आनन्द एवं सुखदायक प्रतीत होती है वही वियोगावस्था में दुःखदायी लगती हैं। शीतल-मन्द-सुगन्ध-पवन, जो प्राणों को जीवनदान देता था, वही वियोगावस्था मे राधा को विपन्न करता था।

"श्री राधा को यह पवन की प्यार वाली क्रियायें,
थोड़ी सीधी न सुखद हुई हो गई बैरिणी सी।
भीनी भीनी महक मिगरी शान्ति उनमूलती थी,
पीड़ा देती परम चित्त को वायु की स्निग्धता थी॥"

कृष्णानुरक्ता राधा विवश होकर अपने व्यथित हृदयोद्गारों को प्रेषित करने के लिए पवन का आश्रय लेती है। ऐसे चित्रों से विरहवर्णन अधिक व्यापक और गम्भीर बन जाता है। राधा का कथन है कि—

"जो तू ला देगी चरण रज को,
तो तू बड़ा पुण्य लेगी।
पूता हूँगी परम उस अंग में,
में लगा के॥"

राधा के हृदय मे काम-पिपासा की भावना नहीं है। निष्काम भावना से ओत-प्रोत राधा कृष्ण के सामीप्य के लिए छटपटाती है। यही छटपटाहट कृष्ण की कर्त्तव्यनिष्ठा से, समय के प्रभाव तथा ज्ञानोदय से लोक-प्रेम, लोक-सेवा में परिणत हो जाती है।

राधा की प्रियमिलन की कैसी अपूर्व सजीव एवं अनूठी उक्ति है—

"विधिवश यदि तेरी धार में आ गिरूँ मैं,
मम तन व्रज की ही मेदिनी में मिलाना।
उस पर अनुकूला हो बड़ी मञ्जुलता से,
कल-कुसुम अनूठी श्यामता के उगाना॥"

जायसी की नायिका केवल यह कहकर सन्तोष की साँस लेती है कि—

"यह तन जारौं छारि के कहौं कि पवन उड़ाव।
मकु तेहि मारग उड़ि परै कन्त धरै जहँ पाँव॥"

मेरी धूल को मेरे कन्त के मार्ग में डाल देना किन्तु हरिऔध की नायिका (राधा) यमुना जी से कहती है कि जब वह उसकी धार में आ पड़े तो उसकी मिट्टी को व्रज की ही मिट्टी में मिला देना और नायिका के उसी पार्थिव अस्तित्व पर श्याम कुसुम उगा देना—यह कितना अभूतपूर्व मिलन होगा। आत्मत्याग की कैसी अलौकिक भावना है।

वात्सल्य रस--अब कुछ पद वात्सल्य रस से ओत-प्रोत देखिये—कितनी अनूठी व्यञ्जना हरिऔध जी ने की । जननी-हृदय की विकलता का कितना मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया है । यशोदा को ज्ञात है कि कृष्ण कंस-नियोजित षडयन्त्र का शिकार बन गया है । वह रुदन करती है । कृष्ण न जग पड़ें, इसलिए सिसकी में भी संकुचित होती है । माता का हृदय जानता है कि कृष्ण के मथुरागमन के अवसर पर मार्ग में नाना प्रकार के अनिष्ट एवं विघ्न उपस्थित हो सकते है । अतः उनके निराकरण के लिए नन्द को साथ भेजती है । जब कृष्ण चले जाते है तो उनकी रक्षार्थ यज्ञ किये जाते है । कृष्ण के लौटने की तिथि को जानने के लिये ज्योतिषी घर पर बुलाये जाते है ।

नन्द के लौटने पर उन्हे (नन्द को) शोकाकुल देख यशोदा का हृदय काँप जाता है । वाणी को साहस ही न हुआ कि कृष्ण के सम्बन्ध में कुछ प्रश्न कर सकती क्योंकि "आते ही वे निपतित हुई बेलि उन्मूलन सी" और संज्ञा आने पर मर्मस्पर्शी स्वर में कहती है कि—

"प्रिय पति वह मेरा प्राण प्यारा कहाँ है ?
दुःख जलनिधि डूबी का सहारा कहाँ है ?"

इसे पढ़कर कौन ऐसा व्यक्ति होगा जो द्रवीभूत न हो जाये । अत्यधिक व्याकुल होने पर वह अपने जीवन को हेय समझने लगती है और कहती है कि—

"लघु तर सफरी भी भाग वाली बड़ी है,
अलग सलिल से हो प्राण जो त्यागती है ।
अहह अवनि में मैं भाग्यहीना महा हूँ,
प्रिय सुत बिछुड़े जो आज लौं जी सकी हूँ ।।"

अष्टम सर्ग में हमे श्रीकृष्ण के बाल रूप के मनोरम चित्र मिलते है—

"दसन दो हँसते मुख मञ्जु में दरसते अति ही कमनीय थे ।
नवल कोमल पंकज कोष में विलसते द्विमौक्तिक हों यथा ।।"

यह सर्ग बाल रूप के प्राकृतिक एवं सजीव वर्णन से युक्त है । यथा सर्ग में यशोदा के विलाप में मातृ-हृदय के भावों की सकरुण अभिव्यक्ति है । वे उद्धव से कहती हैं कि—

"मृदुल कुसुम सा है औ तुने तूल-सा है,
नव किसलय सा है स्नेह के उत्स-सा है ।
सदय हृदय ऊधो श्याम का है बड़ा ही,
अहह हृदय माँ के तुल्य तो भी नहीं है ।।"

करुण रस—कारुण्य के वर्णन में कवि को सफलता भी पर्याप्त मिली है। राधा के करुण-क्रन्दन की छाप गृह की प्रत्येक वस्तु पर लक्षित होती है। यहाँ तक कि वृक्ष भी मनमारे खड़े हैं—

> "बहु ध्वनि करुणा की फैल सी क्यों गई है,
> तरु-गन मनमारे आज क्यों यों खड़े हैं।
> अवनि अति दुःखी सी क्यों हमें है दिखाती ?
> नभ पर दुःख छाया पात क्यों हो रहा है ??"

तरुलता वेलियों, पन्थ की रेणुओं, कुञ्जों और काननों में वेदना इतनी व्याप्त हो गई है कि वे करुणा के प्रतीक बन जाते हैं। इन्हें देखकर अतीत के दिन स्मरण हो आते हैं और वे शोकोद्दीपन बन जाते हैं। करुणा का प्रवाह जो प्रारम्भ में प्रवाहित हुआ था मध्य में पहुँचकर मन्द पड़ जाता है और उसका स्थान निर्वेद ले लेता है। आत्मत्याग की भावना जागृत हो उठती है और राधा का प्रियतम विश्वम्भर बन जाता है। वह कहती है कि मुझे तो लाभ मिले—

> "मेरे जी में अनुपम महा विश्व का प्रेम जागा,
> मैंने देखा परम प्रभु को स्वीय प्राणेश ही में।"

अभी तक जो—

> "श्रवण कीर्त्तन वन्दन दासता स्मरण आत्मनिवेदन अर्चना,
> सहित सख्य तथा पद सेवना निगदिता नवधा प्रभु भक्ति है।"

उसका स्वरूप ही परिवर्तित हो जाता है। आर्त्तजनों का करुण-क्रन्दन सुनना ही श्रवणभक्ति है। इस प्रकार का गान, जो पतितों को ज्ञान दे, कीर्त्तन है। विद्वानों, लोकोपकारकों के प्रति नत होना वन्दनभक्ति है। सारांश यह कि राधा ने लोकसेवा को ही विश्वम्भराराधना समझ लिया। उसका पार्थिव प्रेम सूक्ष्म में परिणत हो गया। यह विप्रलम्भ शृंगार का क्रमिक विकास साहित्य के लिए अनोखी देन है।

भयानक रस—इस रस का आस्वादन कीजिये—

> "प्रकटतीं बहु भीषण मूर्ति थीं, कर रहा भय नित्य कराल था।
> विकट दंत भयंकर प्रेत भी विचरते तरु मूल समीप थे॥"

रौद्र रस—उन स्थलों पर, जहाँ पर कृष्ण ने कालिया नाग को स्थानान्तरित किया अथवा दावानल से साथियों की रक्षा की, वहाँ पर रौद्र एवं वीर रस का प्रवाह प्रवाहित होते देखा गया है। रौद्र का स्थायी-

भाव क्रोध है। इसका आलम्बन अनिष्ट करने वाला व्यक्ति होता है। यहाँ पर उक्त कालिया नाग आलम्बन है क्योंकि काली नाग के—

"हितैषिणा से निज जन्मभूमि की, अपार आवेश हुआ ब्रजेश को।
बनी महा वंक गठी हुई भवें नितान्त विस्फारित नेत्र हो गये॥"

भीषण कृत्यों को देखकर कृष्ण को आवेश हुआ। साथ ही नेत्रों का विस्फारित होना, भवों का तिरछा होना अनुभाव है।

वीर रस—इसका स्थायीभाव उत्साह है। कार्य के करने में आद्योपान्त जो प्रसन्नता का भाव रहता है उसे उत्साह कहते हैं। यह केवल युद्ध में ही नहीं, वरन् दान देने, दया करने आदि में भी होता है। जिसको जीतना होता है वही आलम्बन होता है। चेष्टायें, सेना, अस्त्रों का प्रदर्शन आदि उद्दीपन और धृति, मति, तर्क आदि संचारीभाव होते हैं। देखिये—

"बढ़ो करो वीर सुजाति का भला, अपार दोनों विधि लाभ है हमें।
किया स्व कर्तव्य उबार जो लिया, सुकीर्ति पाई यदि भस्म हो गये॥"

यह वीर रस का उदाहरण है।

भाषा और शैली—प्रियप्रवास की भाषा संस्कृतशब्दावली से ओतप्रोत है जिस पर उपाध्याय जी का पूर्ण आधिपत्य है। वह इनके इंगित पर नाचती चलती है; यद्यपि कई स्थलों पर संस्कृतशब्दों की ऐसी लम्बी लड़ी बाँधी है कि हिन्दी को है अथवा था आदि क्रियाओं में ही सीमित हो जाना पड़ा। यथा—

"रूपोद्यान प्रफुल्ल प्राय कलिका राकेन्दु बिम्बानना।
तन्वंगी कलहासिनी सुरसिका क्रीड़ा कला पुत्तली॥
शोभा-वारिधि की अमूल्य-मणि सी लावण्य-लीला-मयी।
श्रीराधा-मृदुभाषिणी मृगदृगी माधुर्य की मूर्ति थी।"

पर सर्वत्र यह बात नहीं है। अधिकतर पदों में भाषा सरल और अबाध गति से चलती है। देखिये भाषा कितनी सुन्दर और भावपूर्ण है—

"प्रिय पति वह मेरा प्राण प्यारा कहाँ है।
दुःख जलनिधि डूबी का सहारा कहाँ है॥
लख मुख जिसका मैं आज लौं जी सकी हूँ।
वह हृदय हमारा नेत्र-तारा कहाँ है॥"

इस प्रकार हम देखते हैं कि इनकी भाषा में स्वाभाविक प्रवाह, संगीत और लालित्य है और भावों को व्यक्त करने की क्षमता है। अलंकारों में विशेष रुचि रखने के कारण इनका प्रयोग प्रचुर मात्रा में किया गया है।

शब्दालंकारों में अनुप्रास, यमक और श्लेष का और अर्थालंकारों में रूपक, उपमा, प्रतीप, अपन्हुति, अतिशयोक्ति आदि अलंकारों का यथावत् प्रयोग किया है। कहीं-कहीं सुन्दर शब्दचित्र भी मिलते हैं। कृष्ण का एक चित्र देखिये—

"विचित्र थी शीश किरीट की प्रभा।
कसी हुई थी कटि में सुकाछनी॥
दुकूल से शोभित कान्त कंध था।
बिलम्बिता थी बन माल ग्रीव में॥"

मुहावरों का प्रयोग भी सफलतापूर्वक किया गया है। कहीं पर भी स्वाभाविकता को नष्ट नहीं होने दिया गया है। यथा—

"तुम सब मिल के क्या कान को फोड़ दोगी।
ऊधो मेरे हृदय पर तो साँप है लोट जाता॥"

कहीं-कहीं पर तत्सम शब्दों के साथ उर्दू शब्द बहुत ही खटकते हैं। जैसे—

"निशीथिनी में समां था।"
"पतन दिलजले गात का हो रहा है।"

लेकिन खड़ीबोली में नवीन प्रयोग करके उपाध्याय जी अति सफल हुए हैं। इनका यह प्रयास नवीन एवं मौलिक है। अभी तक कोई भी इस प्रकार सफल न हो सका।

शैली—प्रत्येक व्यक्ति की भावप्रकाशनक्रिया पृथक् होती है। इसके लिए हरिऔध जी ने कई प्रकार की शैलियाँ अपनाई हैं—

(अ) संस्कृतपदावली,
(ब) सरल पदों की योजना।

प्रथम प्रकार की तत्सम शैली में लम्बे-लम्बे समासों के कारण भाषा का स्वरूप छिप-सा गया है। इस प्रकार की शैली सर्वग्राह्य नहीं हो सकती। देखिए—

"सद्वस्त्रा-सदलंकृता-गुणयुता सर्व-सम्मानिता।
रोगी वृद्ध-जनोपकार-निरता सच्छास्त्र चिन्तापरा॥
सद्भावातिरता अनन्यहृदया सत्प्रेम सपोषिका।
राधा थी सुमना प्रसन्नवदना स्त्रीजाति रत्नोपमा॥"

किन्तु जहाँ पर आपने दूसरे प्रकार की शैली को अपनाया है वहाँ पर आप सफल हुए हैं। आपने संस्कृतवृत्तों में इस काव्य को लिखा है। इसलिए संस्कृत-साहित्य के छन्द द्रुतविलम्बित, वसन्ततिलका, वंशस्थ, शिखरिणी,

मालिनी, मन्दाक्रान्ता एवं शार्दूलविक्रीडित आदि मिलते हैं। आपने अतुकान्त संस्कृत-वर्णवृत्तों का प्रयोग हिन्दी भाषा में किया है और इसमें वे सफल भी हुए हैं।

दोष—दोष प्रायः काव्यों में मिल ही जाते हैं। हरिऔध जी इसके अपवाद नहीं हैं। कहीं-कहीं पर तो व्याकरण की अशुद्धियाँ, जैसे—कुँजों, पुँजों, अनेकों आदि हैं। कुंज, पुंज और अनेक बहु समुदाय को प्रकट करते हैं। अतः कुँज, पुंज और अनेक ही प्रयोग में आने चाहिये थे। इसी प्रकार विजित-जरा का प्रयोग न कर जरा-विजित का प्रयोग उचित होता। इसी प्रकार स्वर्गीय दिव्यांगना में पुनरुक्ति दोष आ जाता है।

कहीं पर श्रुतिकटुत्व दोष जैसे—"भाखना चाहती हूँ"—आदि मिल ही जाते हैं किन्तु इन दोषों को छोड़कर काव्य पूर्ण सरस एवं कलात्मक है।

रामचरितचिन्तामणि

काव्य-सम्पत्ति—रामचरितचिन्तामणि की रचना पच्चीस सर्ग में विभक्त की गई है। कथा का आधार रामायण है। इसकी कथा प्रख्यात है। कथा के नायक सर्वगुणसम्पन्न श्री रामचन्द्र जी हैं और इसी आधार पर पुस्तक का नामकरण संस्कार सम्पन्न हुआ। प्रकृतिवर्णन परम्परानुसार हुआ है। साथ ही रस का प्रस्फुरण सम्यक् रीति से हुआ है, जिसमें करुण रस प्रधान है। नाट्य संधियों का अभाव नहीं है। भाषा में ओज है और यमक और अनुप्रास अलंकारों से अलंकृत है। राजनीति, उपदेश तथा कूटनीति की भी कमी नहीं है। इस प्रकार हम देखते हैं कि यह काव्य शास्त्रीय लक्षणों से युक्त महाकाव्य कहलाने का अधिकारी बन जाता है किन्तु मार्मिक स्थलों की उपेक्षा के कारण इसका महत्त्व गिर गया है।

कथानक—अयोध्या के राजा दशरथ सब विभूतियों से युक्त होते हुए भी निःसन्तान थे। उन्होंने पुत्रेष्टि यज्ञ किया। फलतः उन्हें पुत्र-रत्न प्राप्त हुये। एक दिन जब चारों पुत्र राम, भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न साथ-साथ खेल रहे थे कि विश्वामित्र का आगमन हुआ। उन्होंने राजा से राम और लक्ष्मण को माँगा। राजा ने विश्वामित्र जी के साथ राम और लक्ष्मण को कर दिया। आश्रम में पहुँचकर उन्होंने यज्ञ-विध्वंसक-राक्षसों का संहार किया। तत्पश्चात् जनकपुर में जाकर शिव-धनुष तोड़ा और उसके फलस्वरूप सीता जी से विवाह सम्पन्न हुआ। तदुपरान्त अयोध्या वापिस आये। कुछ समयोपरान्त राजा दशरथ ने कुल-रीत्यनुसार राम—जो सब भाइयों के अग्रज थे—का

राज्याभिषेक करना चाहा किन्तु कैकेयी के वरदान-स्वरूप राम को १४ बरसों के लिए वनगमन करना पड़ा। सीता और लक्ष्मण ने राम का अनुसरण किया। पुत्रवियोग में दशरथ ने प्राणोत्सर्ग किया और समाचार पाने पर भरत ननिहाल से अयोध्या आये। पिता की अन्त्येष्टि-क्रिया की। तब कैकेयी के दूसरे वरदानस्वरूप भरत जी को राजसिंहासन पर आसीन होने के लिए वशिष्ठ जी ने आग्रह किया किन्तु भरत जी इस पर सहमत नहीं हुए और बनवासी भाई को पुनः अयोध्या लाने के लिए चित्रकूट गये। भरत जी के अनुरोध पर राम सहमत नहीं हुए। फलतः भरत जी को अयोध्या वापिस जाना पड़ा। तथापि भरत जी ने राज्य करना स्वीकार नहीं किया। उधर मर्यादापुरुषोत्तम श्री रामचन्द्र जी महाराज चित्रकूट से दण्डकारण्य को चले गये जहाँ शूर्पणखा से भेंट हुई और वह खरदूषण की स-सैन्य मृत्यु का कारण बनी। वह तत्पश्चात् रावण के पास गई और रावण ने मारीच की सहायता से सीता का अपहरण किया और अशोकवाटिका में सीता जी को अवस्थित किया। इधर राम सीता के वियोग मे दुःखी हुए और उसकी खोज करते हुए गृद्धराज तथा शबरी आदि से मिलते हुए ऋष्यमूक गिरि पर पहुँचे, जहाँ सुग्रीव से मैत्री स्थापित कर बाली का वध किया। सुग्रीव ने हनूमान आदि को सीता की खोज मे भेजा। हनुमान जी इस खोज में सफल हुए और लंकादहन भी किया और सीता के मिलने का सुखद समाचार राम को सुनाया। इस समाचार को पाकर रामचन्द्र जी ने सागर पर पुल बाँधकर सेना पार उतारी और लंका पर चढ़ाई कर दी। युद्ध में रावण सकुटुम्ब मारा गया और सीता बन्धनमुक्त हुई। राम ने सीता को अग्निपरीक्षा के पश्चात् ही स्वीकार किया। तब हनूमान जी ने अयोध्या में आकर भरत आदि को राम के शुभागमन की सूचना दी। सुनते ही समस्त नगरनिवासियों ने आनन्दातिरेक से उनका स्वागत किया। राम सबसे मिले और गले लगाया। तत्पश्चात् राम का राज्याभिषक हुआ और चारों भाई सानन्द राज्य करने लगे। एक दिन राम ने सीता जी के विषय में अपवाद सुना। फलतः इस लोकापवाद के कारण राम को सीता का परित्याग करना पड़ा और वह लक्ष्मण द्वारा जंगल में परित्यक्त की गई, जहाँ वाल्मीकि जी का आश्रम था। इसी आश्रम में सीता जी ने लव-कुश को जन्म दिया और वाल्मीकि द्वारा वे शिक्षित हुवे। इधर राम ने अश्वमेध यज्ञ किया और लव-कुश द्वारा रामायण की कथा सुनकर रामचन्द्र को अपने पुत्रों (लव-कुश) का ज्ञान हुआ। वे अपनाये गये एवं सीता जी को बुलाने का आयोजन हुआ।

कथानक पर विचार—उपाध्याय जी ने राम का चरित्र अवतार मानकर व्यक्त किया है लेकिन कथा की धुन मे पडकर वे इस चरित्र का सफल निर्वाह न कर सके। कथानक में पुत्रों के जन्मोत्सव एवं लालन-पालन का कहीं पर वर्णन नही है। केवल कौशल्या द्वारा राम को जगाने के लिए एक प्रभाती कहलाई गई है। वह अनुचित ही प्रतीत होती है। प्रथम तो सब बालक पूर्व से ही जागृत है, केवल राम को ही सोता हुआ दिखाया गया है जो अस्वाभाविक है। दूसरे, विश्वामित्र का एकाएक प्रवेश भी आश्चर्य से खाली नही है। जब राम यज्ञ निर्विघ्न पूर्ण कराने में सफल हुये कि विश्वामित्र की यह आज्ञा हो गई कि "चलिए चलें शोभा लखें राजा जनकपुर की अभी। है असुर अगणित देश में फिर मारना उनको कभी।"

अहल्या के उद्धार के पश्चात् उससे एक स्तुति करवाई गई जिसमें भारत के दुःखों का वर्णन हुआ। राम का ईश्वर बनकर "होवे यही यह राम कह आगे चले मुनि साथ में" कहना कहाँ तक उचित कहा जा सकता है। धनुषभंग का भी कोई चित्र उपस्थित नही किया गया। चतुर्थ सर्ग के अन्तिम पद मे यह संकेत मिलता है कि जानकी जी राम से ब्याही गई। पाँचवें सर्ग के प्रथम छन्द में यह बतलाया गया कि "चारों सुखों को ब्याह कर आये नृपति निज धाम पर" केवल राम और लक्ष्मण वहाँ पर उपस्थित है। भरत और शत्रुघ्न एवं राजा दशरथ अयोध्या में विराजमान है। फिर वे किस प्रकार चारों पुत्रों को ब्याह कर अयोध्या वापस हुए? राज्य में न किसी को इसकी सूचना और न किसी को इसका आनन्द ही मिल पाया। बारात की चर्चा कहीं नहीं है। इसके पश्चात् राम के राज्याभिषेक का उपक्रम तथा वनगमन केवल एक-दो छन्दों द्वारा चित्रित किया गया है। दशरथमरण, भरत-आगमन तथा चित्रकूट पर रामचन्द्र जी से उनका मिलन चलताऊ ढंग से ही व्यक्त किया गया है। इसी प्रकार सुग्रीव का मिलन भी अंकित किया गया है। हनूमान अभी प्रश्न ही कर रहे है कि आप कौन है? क्या बाली ने भेजा है? और प्रश्नों का उत्तर प्राप्त किये बिना ही उनसे सुग्रीव के पास चलने का प्रस्ताव प्रस्तुत कर देते है। उसके पश्चात् निम्न छन्द द्वारा सारी कथा समाप्त होती है। देखिये—

> "अपना देकर नाम पता फिर गये वहाँ पर,
> बैठा था सुग्रीव काँपता हुआ जहाँ पर।
> मिले परस्पर आत्मकथा दोनों ने गाई,
> दोनों में प्रण सहित प्रेम से हुई मिताई॥

फिर छिपकर मारा राम ने बाली को निज हाथ से,
गति किसकी है बदली नहीं हा ! जघन्य के साथ से।"

इसी प्रकार लंका-विजय, भरत-मिलन एवं सीता-बनवास आदि प्रसंगों की रचना हुई। कहना न होगा कि मार्मिक एवं प्रभावपूर्ण स्थलों की उपेक्षा की गई है। यही कारण है कि राम का चरित्र भी उचित रूप मे वर्णन न किया जा सका।

चरित्र-चित्रण—काव्य की महत्ता नायक के चरित्र पर निर्भर रहती है। इस काव्य के पात्रों में राम, लक्ष्मण, भरत तथा रावण और महिलाओं में सीता तथा कैकेयी प्रमुख है। अन्य पात्र गौण हैं।

राम— रामचरितचिन्तामणि के राम ईश्वर के रूप में अवतरित हुये है। वे मर्यादापुरुषोत्तम है। उन्होंने असुरों को नष्ट करने की प्रतिज्ञा की और अपने भाई को भी सचेत किया कि धर्मरक्षार्थ सब कुछ करना चाहिये। वे माता-पिता के आज्ञाकारी, कौटुम्बिक एवं सामाजिक सम्बन्ध को निर्वाह करने वाले है। वे पिता की आज्ञा को शिरोधार्य कर वनवासी होते है और भाइयों से भी प्रेम करते है। उन्हें राज्य से प्रेम नहीं है, किन्तु राम का यह कथन कि —

"दुर्दैव ने ही राज्य देकर हाथ से फिर ले लिया,
मुझको अकिंचन कर दिया घर भी नहीं रहने दिया।"

❀ ❀ ❀

"विधि है विमुख बस बन्धु इससे भूप की मति खो गई।
जो बात अनुचित भी न थी वह भी अचानक हो गई॥"

इसको पढकर हृदय में यही धारणा होती है कि राम में उदात्त भावना का नाम भी नही। वह तो राज्यलोलुप, विधि पर विश्वास करने वाला एवं पिता को दोष देने वाला एक साधारण व्यक्ति है। आगे चलकर उनके वचन उनको बहुत ही तुच्छ बना देते है। जब वे लक्ष्मण से कहते है कि तुम घर पर रहो, यह आदेश मरे लिए है। अतः "वन में भटकने दो मुझे सीता सहित विधि वृक्ष से कुछ दिन लटकने दो मुझे" वही राम पिता को उपदेश देते हुए देखे गये कि—

"मेरे पिता प्रण को न अपने प्राण रहते छोड़िये।
चाहे भले ही प्राण अपने सत्य कहते छोड़िये॥"

❀ ❀ ❀

"दुःखाब्धि को तरिये सुदृढ़ हो आह को भरिए नहीं।"

यहाँ पुत्र पिता के दुःख को निर्मूल करने के लिए कटिबद्ध होता है और उसके दुःख को सुनकर व्यथित होता है। यहाँ पर तो उन्हें उपदेश दिया जा रहा है कि आप दुःखों को दृढ़तापूर्वक सहन कीजिये।

राम धर्मोद्धारक हैं। वे तपोभूमि को निशिचरहीन करने के दृढ़प्रतिज्ञ हैं। इसलिए जहाँ कहीं पर भी असुर दिखलाई पड़ते हैं, उनका वध करते हैं, चाहे वे स्त्री हों अथवा पुरुष, क्योंकि नीति यही कहती है। वे एक-पत्नी-व्रत-धारी हैं तथा बहु-विवाह के विरोधी हैं। यह उचित ही है, किन्तु पिता पर आक्षेप करना या उनके सम्बन्ध में विवेचन करना असंगत ही कहा जायेगा। उनका निम्न कथन उनके व्यक्तित्व के विपरीत है—

"सुन्दरि मेरे पूज्य पिता ने विविध विवाह किये थे,
सच कहता हूँ वे विवेक से वन्चित इसी लिये थे।
एक-स्त्रीव्रत वे यदि करते क्यों बन में मैं आता,
हो करके युवराज आज क्यों दुसह दुःख उठाता॥"

उपर्युक्त पद में भी उनके आन्तरिक विचारों की झलक स्पष्ट परिलक्षित होती है। यही कारण है कि वे पिता पर भी अनुचित आक्षेप करते हैं और उन्हें विवेकशून्य बतलाते हैं। भरत से जो प्रश्न राम ने किये, जिनसे नवाँ सर्ग परिपूर्ण है, उनसे भी उनकी विशुद्ध भावनाओं का पता नहीं चलता, बल्कि उनके वचन व्यंगभाव ही प्रदर्शित करते हैं। राम वीर हैं। उन्होंने खरदूषण एवं पापी बाली का भी वध करने में विलम्ब नहीं किया, लेकिन उनकी स्व-स्तुति एवं सुग्रीव के प्रति उनका यह वचन उचित प्रतीत नहीं होता—

"हा कृतघ्न सुग्रीव ! न होगा मुझ सा कोई,
तुझे सहायक भी न मिलेगा मुझ सा कोई।"

राम सीता से प्रेम करते हैं किन्तु वही सीता जब अपहरण कर ली जाती है तो उस पर व्यंग करते हुये दृष्टिगोचर होते हैं—"भद्रे कहो लंकेश के घर में रहीं तो क्षेम से।" वही राम आगे चलकर कहते हैं—

"संसार में मुझको न कोई भीरु समझे इसलिए,
मैंने किया रण तुम बताओ स्मित वदन हो किसलिए ?
होकर कलंकित मैं रहूँ क्यों राम मेरा नाम है,
चाहो जहाँ जाओ चली तुमसे न कुछ भी काम है॥"

क्या ऐसे वाक्य किसी साधारण व्यक्ति के लिए भी उचित हो सकते हैं ? यदि उन्हें सीता मान्य न थीं तो उनके जले घाव पर नमक क्यों छिड़का गया ? इस प्रकार राम के उदात्त चरित्र के दर्शन से हम प्रस्तुत काव्य द्वारा वञ्चित रह जाते हैं।

लक्ष्मण—लक्ष्मण उग्र स्वभाव के व्यक्ति है। उन्हें राम के प्रति अटूट श्रद्धा है। वे माता, पिता, पत्नी, भाई सबका त्याग करने के लिए उद्यत हो जाते है। पिता के प्रति उनके कहे हुए वाक्य क्षम्य नही हो सकते। वे चाहे किसी समय, किसी अवसर पर ही क्यों न कहे गये हों—

"कृपण कामियों का इस जग में कहना करना ठीक नहीं,
बुद्धि बिगड़ती है वृद्धों की यह भी बात अलीक नहीं।
इसीलिये बस आप बैठिये आज राजसिंहासन पर,
व्यर्थ विचार तनिक मत करिये वृद्ध भूप अनुशासन पर।"
"माता और पिता दोनों को इससे मारूँगा तत्काल,
आज्ञा मिले देखिये सज्जित है मेरे कर में करवाल।
भारत का साम्राज्य भरत क्या मेरे रहते पावेंगे,
नहीं नहीं मेरे हाथों से रण में वे कट जावेंगे॥"
"भरत युक्त कैकेयी वन में भटकेगी दशरथ के साथ,
या नाचेगी कठपुतली सी कैदी होकर मेरे हाथ॥"

यह विचारधारा न तो भारतीय है और न पुत्र के लिए किसी दशा मे वाञ्छनीय है। यह तो औरंगजेब की भावना के समान ही है। इसने अपने पिता को बन्दी बना दिया था। यद्यपि रामचन्द्र के समझाने पर उनके विचारों में परिवर्तन हो गया था किन्तु जिसके मन पर जो बात पूर्व से ही अवस्थित है वह अपरिवर्तित है। यथा—

"मेरे हाथों भरत नियत हो पृथ्वी पर सोवेंगे,
आज ससैन्य भरत आमिष से श्वान तृप्त होवेंगे।"

वह योद्धा है। उसके पराक्रम को देखकर इन्द्रजीत भी भयभीत हो जाता है और कहने लगता है "फिसल के हम यद्यपि थे गिरे तदपि तू नृप बालक धन्य है।"

लक्ष्मण केवल दास है। उसे उचित-अनुचित करने में तनिक भी संकोच नहीं होता है। वह तो राम के संकेत पर चलता है। सीता को छल से वन में त्यागने के आदेश को भी स्वीकार करता है। यद्यपि यह कार्य भ्रातृ-प्रेम-वश ही सम्पादित किया गया है तथापि समाज इस कार्य को अपना नहीं सकता।

भरत—माता, पिता एवं भाइयों पर प्रेम करने वाले हैं। जब वे मामा के घर से लौटकर आते हे तो माता से प्रश्न करते है कि पिता कहाँ है?

"उनके बिना तेरा भवन खाली कभी रहता नहीं था।"

प्रश्न तो उचित ही था किन्तु माता से इस प्रकार सम्भाषण करना कहाँ तक न्यायसंगत कहा जा सकता है, यह तो उपाध्याय जी पर ही हम छोड़ते

हैं। आदर्श चरित्र में इस प्रकार के असंगत वाक्य जोड़कर उन्हें कलंकित किया गया है।

वे त्यागी थे। राम का वनगमन सुनकर वे हतप्रभ हो गये और राज्य करना अस्वीकृत कर दिया। यही नहीं, वे चित्रकूट तक भी भाई को मनाने के लिये गये किन्तु राम ने उसे अस्वीकार कर दिया। इस प्रकार उनका चरित्र महानतम होते हुए भी अत्यधिक गिरा दिया गया है।

सीता—सीता पतिव्रता नारी है। वह वन जाना ही श्रेयस्कर समझती है और पति का अनुसरण करती है। वह कोमलाँगना है किन्तु समय पर वह दुर्गा बन जाती है—

> **"व्याली के मुख को मूषक शिशु नहीं चूम सकता है,**
> **अग्निराशि में तृण का पुतला नहीं घूम सकता है।"**

उसका चरित्र उज्ज्वल है। हम उसे अग्नि में प्रवेश होते हुए देखते है और वन में वाल्मीकि के आश्रम पर रुदन करते हुए पाते हे किन्तु प्रत्येक स्थल पर उसके शुद्ध चरित्र का दर्शन होता है। वह भारतीय ललना है। इतना कष्ट होने पर भी उसे राम के प्रति किसी प्रकार की दुर्भावना नहीं, यद्यपि उसे स्थल-स्थल पर वियोग सहन करना पड़ा। वह वात्सल्य रस की भी प्रतिमूर्त्ति है। बालकों का लालन-पालन करने एवं उन्हें वीर बनाने मे प्रयत्नशील है। उसका चरित्र उदार एवं सहिष्णु है। ऐसी नारियाँ धन्य हैं।

इस काव्य में अनेक पात्र हैं किन्तु कवि ने किसी पात्र के चरित्र को पूर्णतया चित्रित करने की ओर ध्यान नहीं दिया। बल्कि उनमें धर्म, देश एवं गौ-ब्राह्मण के उद्धार की ही भावना बनी रही और जहाँ कहीं भी उन्हें अवसर मिला एक या दो छन्दों से उस भावना को व्यक्त करने का प्रयास किया। फलतः इन भावों की उमंग ने चरित्र-चित्रण में बाधा पहुँचाई।

प्रकृति-चित्रण—इस काव्य में प्रकृति-चित्रण में कोई नवीनता नही है। पुरानी परम्परा के अनुसार ही ग्रीष्म, वर्षा तथा शरद् का अन्योक्तिपूर्ण एवम् उपदेश से युक्त वर्णन किया है तथा तथ्य की ओर ध्यान नहीं दिया गया है। इसमें आलम्बन के रूप में प्रकृति-वर्णन नहीं मिलता है। अधिकतर उद्दीपन के रूप में ही प्रकृति के दर्शन होते हैं। देखिये—जनक जी की वाटिका का वर्णन; यहाँ पर केवल उपमा और दृष्टान्त द्वारा प्रकृति का वर्णन किया गया है—

> **"इस चम्पक की सुषमा लखिये इसकी तुलना किससे करिये,**
> **इसका सुठि स्वर्ण समानन है जग में इसके सम आन न है।"**

"अलि आकर जो मिलता इससे मधु पाकर तो खिलता इससे,
जब जन्तु चतुष्पद अज्ञ रहे तब षट्पद क्यों फिर विज्ञ रहें।"

अन्योक्तियों द्वारा प्रकृति-चित्रण अन्योक्तियों द्वारा जीवन के तथ्यों के साथ प्रकृति का साम्य किया जाता है। देखिये—

"हंसो पर दो दृष्टि अनुज ये शुक्ल सही हैं,
हो पर इनके हृदय कालिमा रिक्त नहीं है।
पर की उन्नति देख मूढ़ ये जल जाते हैं,
नभ में घन को देख कहीं ये टल जाते हैं।"

इसमें हंसों का तो वर्ण है किन्तु अंग्रेजों पर अन्योक्ति की गई है। इसी प्रकार की अन्योक्तियों द्वारा पम्पासर का वर्णन किया गया है जो पूर्ण सर्ग में है।

प्रकृति का आलम्बन-स्वरूप—प्रकृति के संश्लिष्ट वर्णन की चेष्टा की गई है। देखिये—

'बारहमासी वृक्ष वहाँ पर फूल रहे थे,
रंग बिरंगे सुभग पक्व फल झूल रहे थे।
नव रत्नों से वहाँ सरों के घाट बने थे,
मानस सर से अधिक मनोहर ठाठ बने थे।
कलरव युत कल हंस वहाँ क्रीड़ा करते थे,
दर्शक के मन हंस वहाँ बरबस हरते थे।"

प्रकृति से तादात्म्य—जब मानव दु:खी होता है तो प्रकृति भी उसे दु:खी ही दिखलाई पड़ती है मानों वह स्वयं दु:खी हो। सीता को रुदन करते हुए देखकर प्रकृति भी वैसी ही दिखलाई पड़ती है। यथा—

"शोभा सर जो नन्दन वन सा खिला हुआ था कानन,
किया शोकमय उसे सिया ने रोकर आनन-फानन।
केकारूकी केकिनी की भी व्यग्र हुए सब प्राणी,
करुण भरी सीता की सुनकर रोदन वीणा वाणी।
मानों पी कहाँ बोल पपीहा सीता संग देते थे,
या पी के रटने की शिक्षा घर बैठे लेते थे॥"

इस काव्य में नवीन कल्पना का अभाव एवं प्रकृति-चित्रण में अलंकार अथवा अन्योक्तियों की भरमार है। सुन्दर स्वरूप के दर्शन नहीं प्राप्त होते हैं।

रस और भाव—इस काव्य में करुण रस का प्रवाह प्रवाहित है। भरत जी जब ननिहाल से वापस आये और अपने पिता को मृत पाया उस समय उनके उद्गार किसे नहीं व्यथित कर देते हैं—

"अब कौन मुझको हा पिता ! बैठायेगा निज गोद में,
अब कौन मुझको देख होगा मग्न वत्सल मोद में।
रक्षा करेगा कौन मेरी तात क्यों आते नहीं,
शिक्षा मुझे किससे मिलेगी युक्ति बतलाते नहीं॥"

राम का विलाप—

"धोखा न दो भइया मुझे इस भाँति आकर के यहाँ,
मझधार में मुझको बहाकर तात जाते हो कहाँ ?
जाने न पाओगे नहीं मारा गया अरिदल अभी,
तुमको न करना चाहिये हे अनुज मुझसे छल कभी।"

विप्रलम्भ शृङ्गार—संयोग पक्ष का वर्णन इस काव्य में नहीं प्राप्त होता। किन्तु वियोग के दर्शन कई स्थानों पर होते हैं। जब सीता जी का अपहरण हो गया उस समय राम कितने दुःखी हैं—

"कुसुम शयन छोड़ा प्रीति से मैथिली ने,
निज नियम निबाहा नीति से मैथिली ने।
उर रहित उसी से चूर्ण सा हो रहा है,
वह अनुज मराली चाल वाली कहाँ है ?"

वीर रस—काव्य में वीर रस के दर्शन अनेक स्थल पर प्राप्त होते हैं। लक्ष्मण की गर्वोक्ति सुनिये—

"सौमित्र ने उत्तर दिया क्रोधान्ध हो घननाद को,
लड़ता नहीं क्यों मूढ़ मुझसे छोड़ कर बकवाद को।
संग्राम में क्या काम है रिपु नाम से कायर अरे,
यदि प्राण का है लोभ तो रण छोड़ भग जा घर अरे।"

रौद्र का एक उदाहरण देखिये—

"टपक पड़े क्रोधाश्रु दृगों से उसके तत्क्षण,
दीपवर्त्ति से गिरे मनो अति तप्त तैलकण।
दाँतों को भी विकट रूप से पीस रहा था,
प्रलय सूर्य सा मनो शीश भी काँप रहा था।"

भाषा और शैली—इस काव्य की भाषा सरस एवं ओजपूर्ण है। इसमें संस्कृत शब्दों का न तो बाहुल्य है और न अप्रचलित शब्दों का प्रयोग। यथा—

"कुशल से रहना यदि है तुम्हें दनुज तो फिर गर्व न कीजिये,
शरण में गिरिये रघुनाथ के निबल के बल केवल राम हैं॥"

भाषा में अलंकारों का प्रयोग अधिक हुआ है। यमक और अनुप्रास की तो भरमार है। कुछ उदाहरण देखिये—

(अ) "सुजन है वह क्यों जिसकी प्रिये द्विरद के रद के सम नीति है"
(ब) "जगत में भट की भट मानिता अचल है चल है अचलादि भी"
(स) "इसलिए मम निर्भय हो सदा विजन में जन में मन मग्न है"
रद के चलचल, जनमें जनमें आदि यमक हैं ।

(इ) "उनके हृदय से एकदम भयभूत मानो भग गया ।" इसमें भ का अनुप्रास है ।

इस काव्य मे उर्दू शब्दों का भी अधिक प्रयोग हुआ है । यथा–

(अ) "सिखा रही है पर होश है नहीं ।"
(ब) "ज्यों उजबक अधिकार धूर्त्तजन अपनाते हैं ।"
(स) "क्लेश का तनिक न गम है ।"

शैली—कथोपकथन एवं मुहावरों का प्रयोग आपकी शैली के मुख्य अंग हैं । कथोपकथन शैली के अन्तर्गत अंगद-रावण का सम्वाद अति सुन्दर बन पड़ा है । यथा—

(अंगद) "जनकजा रघुनायक हाथ में तुरत जा कर अर्पण कीजिये,
पर वधू जन से रहते सदा अलग सन्तत संत नमीचर ?"
(रावण) "मर मिटें रण में पर राम को हम न दे सकते जनकात्मजा,
सुन कपे ? जग में बस वीर के सुयश का रण कारण मुख्य है"

काव्य में मुहावरों का प्रयोग पर्याप्त मात्रा में मिलता है । यथा—

(अ) "स्वामी दशा को देख सीता काठ की सी हो गईं ।"
(ब) "उनके छक्के छूट गये आ गया पसीना ।"
(स) "कर मलने लगे"

आपने सुन्दर चित्र भी खीचे हैं । चित्रकूट के तपोवन का एक सुन्दर चित्र देखिये—

"कहीं मेखला टंगी हुई है कहीं कमण्डल पड़ा हुआ है,
कहीं वेदिका बनी हुई है कहीं सरोवर कहीं कुआं है ।"

इस काव्य में विभिन्न छन्दों का प्रयोग हुआ है जिनमें गीतिका, वंशस्थ, तोटक, द्रुतविलम्बित, रोला, भुजंगप्रयात, छप्पय, हरिगीतिका तथा रूपमाला आदि प्रमुख हैं । सूक्तियों का चयन भी प्रचुर मात्रा में मिलता है ।

(अ) "निलज निर्भय नीच रहें जहां,
कुछ नहीं मुख से कहिये वहां ।"
(ब) "अन्यायियों को रुचि की अनीति है,
नहीं किसी की, उनको प्रतीति है ।"

(म) "सुखरना मठ की चलती नहीं बुध जहां उपदेशक हैं नहीं।"

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि भाषा ओजपूर्ण और प्राञ्जल है। साथ ही भावों को व्यक्त करने की क्षमता रखती है।

(अ) वादों का प्रभाव—राष्ट्रीय एवं धार्मिक चेतना का प्रभाव इस काव्य पर पूर्ण रूप से परिलक्षित होता है। राम की माता राम को राष्ट्रसेवा-व्रत लेने के लिए प्रेरणा देती है। वे कहती हैं कि—

"स्वदेश सेवा व्रत से नहीं भगो,
उठो उठो राम सुकर्म में लगो॥"

स्वधर्म के ऊपर ध्यान दीजिये।

(ब) स्वतन्त्रता का अभाव भी देश के लिए घातक होता है। यथा—

"रुका हुआ है अन्य देश का आना जाना।
कह भी नहीं सकते किसी से कुछ मन माना॥"

(स) पुरानी रूढ़ियों का प्रभाव—

(क) भविष्यवक्ता के रूप में—अंगद को शोक है कि राम ने उसके पिता को छल से मारा है अतः वह उनसे बदला चुकाना चाहता है। यदि वह बदला न ले सका तो सदैव दुःखी रहेगा। ऋक्षेश भी युद्ध करना चाहता है। उसकी इच्छा की पूर्ति होनी चाहिये। राम ने कहा कि मैं व्रज में जन्म लूँगा, उस समय हे अंगद—

"छिप कर यथा सुख बाण को,
मुझ पर चला देना वहां।
हे वीर अपने बाप का,
बदला चुका लेना वहां॥"

❀ ❀ ❀

"धीरज धरो ऋक्षेश तुमसे भी,
समर होगा वहीं।
दो-गेस्यमन्तक रत्न को तुम,
जब किसी विधि से नहीं।
रण लालसा पूरी तुम्हारी,
मैं करूँगा देखना॥"

(ख) तापस का वध एवं ब्राह्मणपुत्र का जीवनलाभ प्राप्त करना अन्धविश्वास के अन्तर्गत ही माने जावेंगे।

इस युग में ही क्या, सदैव तपस्या का अधिकार प्राणीमात्र को रहा है। यदि कोई प्राणी—चाहे वह किसी कुल में ही क्यों न उत्पन्न हुआ हो—ईश्वर की तपस्या में रत होता है तो वह कोई जघन्य पाप नहीं करता। फिर उसका वध क्यों। यह तो घोर अन्धविश्वास होगा कि ब्राह्मण का पुत्र शूद्र के वध करने पर जीवनलाभ प्राप्त कर सके। इस प्रकार का विश्वास करना ईश्वर के प्रति अश्रद्धा उत्पन्न करना होगा। इस प्रकार की धारणायें कम से कम इस युग में न तो मान्य हो सकती हैं और न जनहित कल्याणकारी।

साकेत

काव्य-सम्पत्ति—उपेक्षिताओं को समाज में स्थान देने एवं परिचय कराने के हेतु खड़ीबोली में साकेत का प्रादुर्भाव हुआ। महाकाव्य के लक्षण के अनुसार इसमें प्रायः सभी गुण पाये जाते हैं। इसमें १२ सर्ग हैं। कथा प्रख्यात है। इसका आधार है रामायण। इसमें नायक लक्ष्मण और उर्मिला है नायिका, जिसके लिए ही इसका निर्माण हुआ है। इसमें सर्वप्रथम लक्ष्मण और उर्मिला के वाग्विनोद और दाम्पत्य प्रेम की झलक मिलती है जो संयोग श्रृंगार के अन्तर्गत है। इसके पश्चात् वियोग का हृदयविदारक दृश्य उपस्थित होता है। साथ ही राम-वन-गमन एवं दशरथमरण के अवसर पर करुण रस की धारा प्रवाहित होती है। कौशल्या के वचनों में वात्सल्य प्रेम के दर्शन होते हैं। प्रजा का रण के लिए प्रस्तुत होना एवं सुमित्रा एवं कैकेयी के वचन वीर एवं रौद्र रस के द्योतक हैं। इस प्रकार इसमें श्रृंगार रस की प्रधानता है। साथ ही अन्य रस भी यथास्थान प्राप्त होते हैं। प्रकृतिवर्णन भी उत्तम है। इसमें महाकाव्य के सभी वर्ण्य विषय आ गये हैं और साँस्कृतिक पक्ष भी सबल है।

कथानक -इस काव्य की कथा का आधार रामायण है किन्तु कवि ने उन्हीं अंशों को अपनाया है जिन पर अब तक प्रकाश नहीं डाला गया था, अथवा वे चलताऊ ढंग से वर्णन किये गये थे। कथा का प्रारम्भ लक्ष्मण और उर्मिला के प्रेमालाप से होता है। उसके पश्चात् एक ओर कैकेयी-मन्थरा का वार्त्तालाप "भरत से सुत पर भी सन्देह, बुलाया तक न उन्हें जो गेह" कहने के उपरान्त समाप्त होता है; दूसरी ओर लक्ष्मण उर्मिला से भरत के घर न होने पर "इसका है हम सबको खेद" का भेद बतला रहे हैं; तीसरी ओर राम को यह दुःख है कि पिता वाणप्रस्थी हो जावेंगे और हममें से एक को राज्य मिलेगा। इधर दशरथ गुरू से वार्त्तालाप कर रहे हैं कि "खेद है भरत नहीं

जो गेह।" किन्तु वही दशरथ कैकेयी के कुटिल जाल में फँसे हुए एवं राम को वनवास तथा भरत को राज्याभिषेक का वरदान देते हुए यह वचन कहते हुए सुने गये कि "किसी को न दे कभी वर देव, वचन देना छोड़े नर देव। दान में दुरुपयोग का त्रास, किया जावे किसका विश्वास।" इधर वनगमन की सूचना पाकर लक्ष्मण माता-पिता पर क्रुद्ध होते हैं एवं अपनी माता से आज्ञा लेकर राम के साथ वन जाने को उद्यत होते हैं। राम भी दुःखी माता कौशल्या को धर्मरहस्य बताकर आज्ञा प्राप्त कर लेते हैं और सीता भी वन जाने का निश्चय कर लेती हैं किन्तु उर्मिला की दशा ही विचित्र है। वह "कह कर हाय! धड़ाम गिरी" किन्तु सुमित्रा के कथन ने "निश्चय निश्चय ही है जो कुछ आएगा सहन किया जाएगा।" लक्ष्मण के मार्ग को प्रशस्त कर दिया। वन जाने के अवसर पर प्रजा विनत विद्रोह करती है किन्तु राम के समझाने पर उन्हें मार्ग देती है। रामचन्द्र जी गंगा के तट पर पहुँचते हैं और वहाँ गुह से भेंट करते हैं। इसके पश्चात् सुमन्त को घर वापस होने की आज्ञा देते हैं। फिर वे भरद्वाज से भेंट करके चित्रकूट चले जाते हैं। इधर उर्मिला की हृदयवेदना एवं चिन्तन, दशरथ की व्यथित दशा एवं मरण, माताओं का करुण क्रन्दन एवं प्रजा का दुःख, शव की रक्षा एवं भरत के लिए दूतों का भेजा जाना आदि बातें घटित होती हैं। भरत के आगमन पर शव-दाह किया जाता है तथा राम को वन से लौटा लाने के लिए चित्रकूटगमन एवं वहाँ पहुँचने पर राम से घर लौट चलने की प्रार्थना की जाती है। यहीं पर लक्ष्मण और उर्मिला का क्षणिक मिलन होता है किन्तु जनक के आगमन को सुन वे दोनों पृथक् हो जाते हैं और भरत भी राम की पादुका लेकर साकेत लौट आते हैं।

उर्मिला के घर लौटने पर उसकी विरहवेदना साकार रूप धारण कर लेती है। वह अपने तथा अपनी बहिनों के बाल्यकाल तथा पाणिग्रहण की घटनाओं का वर्णन करती है। भरत राज्यव्यवस्था का भार लेते हैं और शत्रुघ्न द्वारा उसे सुदृढ़ बनाते हैं। यहीं पर व्यापारियों द्वारा राम का समाचार प्राप्त होता है एवं लक्ष्मण के संज्ञाशून्य होने पर हनूमान का बूटी लेने के लिए आने पर शेष विवरण प्राप्त होता है। इस समाचार को सुनकर रणसज्जा के साथ वशिष्ठ के योगबल द्वारा समस्त दृश्य, जो घटित हो रहे थे, दिखलाये गये। इसके पश्चात् मेघनाथवध, सीता की प्राप्ति एवं विमान द्वारा साकेत-आगमन होता है और फिर सबसे भेंट होती है और अन्त में उर्मिला का प्रियतम (लक्ष्मण) से मिलन होता है। यही कथानक है।

हम इस कथानक को दो भागों में विभक्त कर सकते हैं। प्रथम अष्ट सर्गों को, जिनमे लक्ष्मण-उर्मिला का हास-परिहास, कैकेयी की वर-याचना, राम-लक्ष्मण-जानकी का वनगमन, चित्रकूट पर साकेत का सारा समाज, भरत के साथ राममिलन एवं लक्ष्मण और उर्मिला का क्षणिक सयोग होता है, पूर्वार्द्ध कहेंगे, क्योंकि सारा समाज यहीं पर से विभिन्न दिशाओं की ओर अग्रसर होता है और अपना पथ निरूपण करता है। अन्तिम चार सर्गों को उत्तरार्द्ध कहेंगे क्योंकि उसमे उन कार्यों की पूर्ति होती है अथवा वियोग का अन्त होता है जिसका प्रारम्भ हम पूर्वार्द्ध मे देख चुके हैं।

पूर्वार्द्ध सर्गों में कथा का क्रमिक विकास है। यद्यपि कैकेयी की वर-याचना एवं दशरथ-मरण का भावपूर्ण वर्णन कुछ अनुचित प्रतीत होता है किन्तु उसका भी स्थान है। यदि कैकेयी वर-याचना न करती तो वनगमन कैसे होता और दशरथ की मृत्यु से जो गम्भीरता उत्पन्न हो गई उसका प्रादुर्भाव कैसे होता और किस प्रकार कैकेयी का लांछन दूर किया जाता, एवं किस प्रकार लक्ष्मण और उर्मिला का मिलन होता, जो कथा को गति देने मे सहायक होता।

उत्तरार्द्ध मे नवम सर्ग उर्मिला के उद्‌गारो से ही पूर्ण है, जिसके कारण कथा की गति में विराम उत्पन्न हो गया है। दशम सर्ग में विवाह के पूर्व की कथा उर्मिला द्वारा वर्णन की गई है। कुछ कथा हनुमान द्वारा कहलाई गई है और कुछ वशिष्ठ द्वारा दिव्य दृष्टि से दिखलाई गई है। इस प्रकार कथा जोड करके पूर्ण हुई है। कथा का स्थान साकेत है। इसलिये प्रयास यह किया गया है कि पूर्ण कथा साकेत में ही हो। पूर्वार्द्ध कथा तो साकेत मे ही घटित होती है केवल चित्रकूट की घटना साकेत के बाहर की प्रतीत होती है, किन्तु कवि ने "सम्प्रति साकेत-समाज वही पर सारा" कहकर इस अभाव को हटा दिया और इस कमी की पूर्ति कर ली।

जैसा ऊपर कहा गया कि शेष कथा शत्रुघ्न, हनूमान एवं वशिष्ठ जी की दिव्य दृष्टि से हमें ज्ञात हो जाती है। इसमें किसी प्रकार का व्यतिक्रम नहीं उत्पन्न हुआ। अतएव साकेत नाम सार्थक ही हुआ है।

कथानक में नवीनता है क्योंकि पूर्वप्रतिपादित विषय को नवीन प्रसंगों की उद्‌भावना से, उपेक्षितों को प्रमुख स्थान देने से एवं सामयिकता के आधार पर वर्णन करने में कवि पूर्ण सफल हुआ है। यही नहीं, गुप्त जी ने मर्मस्थलों को पहिचाना भी है। जैसे लक्ष्मण-उर्मिला का हास-परिहास, कैकेयी-मन्थरा-सम्वाद, भरत-आगमन, उर्मिला-चिन्तन एवम् उसकी विरहकथा, चित्रकूट के

अवसर पर कैकेयी, भरत, जाबालि, रामचन्द्र आदि का वार्त्तालाप, भरत-माण्डवी-वार्त्तालाप, साकेत-वासियों की रण-सज्जा एवं पुनर्मिलन आदि का सफल चित्रण कर कथानक को पूर्ण सरस बनाया।

चरित्र-चित्रण—साकेत चरित्रप्रधान काव्य है। इसमें बहुत से पात्र हैं जो उर्मिला के चरित्र को विकसित करने मे सहायक होते हैं। यद्यपि गुप्त जी ने लक्ष्मण और उर्मिला को प्रधानता देने का प्रयास किया है किन्तु अपने आराध्यदेव राम को भुला न सके और अनायास ही प्रमुख स्थान पर ला बिठाया। उन्होंने उन्हे अवतार के रूप मे व्यक्त किया है किन्तु पारिवारिक जीवन में हम उन्हे साधारण व्यक्तियों के रूप में ही पाते है। इस प्रकार साकेत में दो प्रकार के पात्र मिलते है—अवतारी अथवा अमानव और दूसरे मानव। मानव के अन्तर्गत एक प्रकार के वे पात्र है जो नियमो पर दृढ़ हे। उनमें किसी प्रकार के परिवर्तन होने की सम्भावना ही नही है। जैसे भरत, कौशल्या, माण्डवी आदि। दूसरे प्रकार के वे पात्र हे जो परिस्थितियों के अनुसार अपने में परिवर्तन लाते रहते हैं किन्तु इन परिवर्तनों के होने पर भी वे सामाजिक मर्यादा का पूर्ण ध्यान रखते है। यथा—कैकेयी, लक्ष्मण और उर्मिला आदि। अतः हम राम एवम् उन पात्रो के चरित्र का विवेचन करेंगे जो अभी तक उपेक्षित रहे हैं।

राम—राम को गोस्वामी तुलसीदास की तरह गुप्त जी ने शक्ति, शील एवं सौन्दर्य से ओत-प्रोत ईश्वर का अवतार माना है। उन्होने मुखपृष्ठ पर ही लिखा है कि—

> "राम तुम मानव हो ? ईश्वर नहीं हो क्या ?
> विश्व में रमे हुए नहीं सभी कहीं हो क्या ?
> तब मैं निरीश्वर हूँ ईश्वर क्षमा करे।
> तुम न रमो तो मन तुम में रमा करे॥"

फिर गुप्त जी घोषणा करते है कि "हो गया निर्गुण सगुण साकार है, ले लिया अखिलेश ने अवतार है। किसलिए यह खेल प्रभु ने है किया, मनुज बनकर मानवी का पर पिया।" रामचन्द्र धीर, वीर और गम्भीर हैं। परिस्थितियों को अपने वश में करते चलते है। यदि उनके ऊपर किसी प्रकार के अनिष्ट की सम्भावना होती है तो घबड़ाते नहीं है बल्कि उसका कारण ज्ञात कर और उसका निदान निर्धारित कर उस पर संलग्न हो जाते हैं। जब वे देखते हैं कि उनके पिता शोकातुर हैं तो माता से कारण जानकर एक निश्चय पर आरूढ़ हो जाते हैं और पिता से कहते हैं कि दुःख की आवश्यकता नहीं क्योंकि मुझमें और भरत में कोई अन्तर नहीं है।

"करें वे प्रिय यहां निज कर्म पालन।
करूँगा मैं विपिन में धर्म पालन॥"

लेकिन लक्ष्मण को पिता पर क्रोधित होने पर वे समझाते हैं और कहते हैं कि—

"बड़े की बात है अविचारणीया,
मुकुट-मणि तुल्य शिरसा धारणीया।"

इस प्रकार वे बड़ों के प्रति श्रद्धा रखने एवं मर्यादा का पालन करने में सहायक होते हैं।

उनमें माता और पिता के प्रति प्रेम तो अटूट था ही और यही कारण था कि उनके वचनों को शिरोधार्य कर बनवास स्वीकार किया। उनमें भाई के प्रति कितना निश्छल प्रेम था, इसके दर्शन हमें उस समय मिलते हैं जब सुमित्रा कहती है कि मैं तो अपना भाग छोड़ ही नहीं सकती। उस समय राम के सद्विचारों को सुनिये—

"भैया भरत अयोग्य नहीं, राज्य राम का भोग नहीं,
फिर भी वह अपना ही है यों तो सब सपना ही है।"

वही राम लक्ष्मण के शक्ति लगने पर कितने दुःखित होते हैं? उनके इस कथन में "तुम न जगे तो सुनो राम भी सो जावेगा" कितनी मार्मिक वेदना एवं असीम प्रेम प्रकट होता है।

वे आदर्शवादी थे। आर्यों का आदर्श बताने के लिए ही वे आये थे। वन में आने के कारणों पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने स्वीकार किया है कि—

"मैं आर्यों का आदर्श बताने आया,
जन-सम्मुख धन को तुच्छ जताने आया।
सन्देश यहाँ मैं नहीं स्वर्ग का लाया,
इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया॥"

मानस के राम धर्मस्थापन हेतु उत्पन्न हुए थे, किन्तु गुप्त के राम नवीनता लिये हुए आदर्श बतलाने के लिए आये थे। गुप्त जी के राम में जो विनोद-प्रियता है वह मानस के राम को कहाँ प्राप्त हो सकती थी। वे वन में सीता के साथ विनोदपूर्ण वार्त्ता भी करते पाये जाते हैं। देखिये—

"हो जाना लता न आप लता संलग्ना,
कर तल तक तो तुम हुई नवल दलमग्ना।
वह सीता फल जब फले तुम्हारा चाहा,
मेरा विनोद तो सफल, हँसी तुम आहा।"

यही विनोदी राम वीरता के अवतार और शौर्य की प्रतिमा बन जाते है और दुष्टों को दमन करने में अपने बल का परिचय देते हैं। रणक्षेत्र में रावण को ललकारते हुए दृष्टिगोचर होते हैं और कहते है—

"......धिक भीरु! पीठ जो मुझसे फेरे,
इसे समझ रख, आज भाग भी तू न सकेगा।"

लक्ष्मण—इस काव्य के नायक हैं। वीर, न्यायी, विवेकी एवं सौन्दर्यवादी हैं और साथ ही रागी भी, किन्तु यह सब होते हुए भी राम के भाई और उनके चरणसेवी सेवक हैं। वीर होने के कारण किसी प्रकार के अन्याय को सहन नहीं कर सकते। जब वे देखते हैं कि कैकेयी भरत की आड़ में कुछ उत्तेजना देती है उसी समय उनका क्रोध भड़क उठता है और वे कहते हैं—

"अरे मातृत्व तू अब भी जताती।
ठसक किसको भरत की है बताती?
भरत को मार डालूँ और तुझको।
नरक में भी न रक्खूँ ठौर तुझको।
भला वे कौन हैं जो राज्य लेवें,
पिता भी कौन है जो राज्य देवें?"

किन्तु राम के समझाने पर उनका सारा क्रोध नष्ट हो जाता है और अश्रुधारा प्रवाहित होने लगती है। इससे उनके हृदय की निःस्वार्थ भावना एवं स्वच्छता प्रकट होती है। उनका कथन केवल राम के प्रति जो अन्याय हो रहा था इसी हेतु था न कि अपने स्वार्थ के लिए। उन्हीं लक्ष्मण का स्वर भरत-आगमन पर कुछ भिन्न सुनाई पड़ता है। उनमें आज न उतना आक्रोश है और न उतना आवेश। वे कहते है कि यदि वे कुमतिवश वन में पधारे हैं तो मैं भी अपना धनुपसंधान करूँगा और राम की बात भी नहीं मानूँगा। मारीच-वध के अवसर पर जब सीता जी लक्ष्मण पर अनुचित वचनों का प्रयोग करती है और निर्मम, जड़, निर्दय, पाषाणहृदय वाला बतलाती हैं और कहती हैं कि राम पर आपत्ति आई है तुम जाकर उनकी सहायता करो, यदि तुम न जाओ तो मैं जाऊँ, तुम कैसे क्षत्रिय हो? तो लक्ष्मण के उस अवसर के वाक्य उनके चरित्र पर प्रकाश डालते हैं। देखिये—

"मैं कैसा क्षत्रिय हूँ इसको तुम क्या समझोगी देवी,
रहा सदा ही और रहूँगा सदा तुम्हारा पद-सेवी।

उठा पिता के विरुद्ध में किन्तु आर्य भार्या हो तुम।
नहीं अन्ध ही किन्तु बधिर भी अबला बन्धुओं का अनुराग।
जो हो जाता हूँ, पर तुम करना नहीं कुटी का त्याग॥"

लक्ष्मण में कितनी सामर्थ्य है, कैसा क्षत्रियत्व है। सीता कैसे समझ सकती क्योंकि वह तो उनका पद-सेवी था और वे आर्यभार्या थी। यही स्वरूप उन्होंने देखा था।

उनमें स्वाभाविक उग्रता है जिसे वे न राम के सम्मुख और न सीता जी के सामने शिथिल होने देते, बल्कि अपने क्षत्रियत्व एवम् उग्रता को सदैव जाज्वल्यमान रखते है। उनकी इस उग्रता एवं क्षत्रियत्व के गर्व पर प्रत्येक को अभिमान हो सकता है। इसमे स्वार्थ की गन्ध नहीं। साकेतकार ने लक्ष्मण जी को तुलसी जी के लक्ष्मण से अधिक उग्र बना दिया क्योंकि मानस में लक्ष्मण जी राम और सीता के सम्मुख अस्वाभाविक रूप में बिल्कुल नम्र बन जाते है जो उनके चरित्र को ऊँचा उठाने में सहायक नही होता है। उर्मिला तो उनके उसी उग्र स्वरूप एवम् ऐंठ पर मुग्ध हुई थीं—

"सुन देख हुई विभोर मैं,
बटती थी परिधान-छोर मैं।
अब भी वह ऐंठ सूझती,
तब तो हूँ आज जूझती।"

वह एक-पत्नी-व्रत-धारी था। शूर्पणखा के प्रति तिरस्कारपूर्ण कृत्य इसका उज्ज्वल प्रमाण है। यही नही, मेघनाथ-वध के अवसर पर उनके स्वयं के वचन इसकी पुष्टि करते हैं। वे कहते है कि—

"यदि सीता ने एक राम को ही वर माना,
यदि मैंने निज वधू उर्मिला को ही जाना।
तो बस अब तू संभल बाण यह मेरा छूटा।
रावण का वह पाप पूर्ण हाटक घट फूटा॥"

"निज वधू उर्मिला को ही जाना।" कितने महत्त्व की बात है। उर्मिला का स्त्रीहृदय ही समझ सकता है कि वह कितनी सौभाग्यवती है।

अन्तिम वचनों में उनके वीरता के सम्पूर्ण लक्षण प्रकट हो जाते हैं और वे मेघनाथ का वध करते हुए देखे जाते हैं। उनके वीरत्व के दर्शन स्थल-स्थल पर मिलते हैं। यही गुण उन्हें नायक के पद पर आसीन कराने के लिए पर्याप्त हैं। वीरता के साथ ही वह प्रेमी भी हैं। उनके दर्शन हमें प्रथम एवम् अन्तिम सर्ग में प्राप्त होते हैं।

"हार जाते पति कभी पत्नी कभी,
किन्तु वे होते अधिक हर्षित तभी।
प्रेमियों का प्रेम गीतातीत है,
हार में जिसमें परस्पर जीत है॥"

❀ ❀ ❀

"बनवासी के लिए सुमन की भेंट भली वह।
किन्तु उसे तो कभी पा चुका प्रिये, अली यह॥"

जो लोग यह आक्षेप करते हैं कि साकेत में लक्ष्मण जी का चरित्र नायकत्व के लिए उचित नहीं प्रतिपादित हुआ, उन्हें लक्ष्मण के चरित्र का फिर से अवलोकन करना चाहिए और देखें कि वह निर्भीक, स्पष्टवक्ता, वीर, संयमी, उदार, एक-पत्नी-व्रत-धारी एवं सहृदय हैं। ये गुण नायक के लिए पर्याप्त हैं।

भरत—त्यागी, तपस्वी एवं भ्रातृप्रेम से परिपूर्ण हैं। जब भरत ननिहाल से लौटकर साकेत आते हैं और माता के कृत्य को जानते हैं तो वे प्रश्न करते हैं कि—

"राज्य क्यों माँ राज्य केवल राज्य?
न्याय, धर्म, स्नेह तीनों त्याज्य।
स्वार्थ ही ध्रुव धर्म हो सब ठौर,
क्यों न मां? भाई न बाप न और।"

इस प्रकार हमें भरत के हृदयगत भावों का पूर्ण परिज्ञान हो जाता है कि वे कितने न्याय-धर्म-स्नेह से युक्त एवं भ्रातृ-पितृ-प्रेम से ओत-प्रोत हैं। राज्य-वैभव उन पर अपना प्रभाह नहीं डाल सकता। वे तो निःस्पृह हैं और इतने महान् हैं कि उनकी महत्ता का आभास उनकी माता कैकेयी को भी न लग सका। रामचन्द्र के ये वचन कि—

"उसके आशय को थाह मिलेगी किसको?
जन कर जननी ही जान न पाई जिसको।"

उन्हें दुःख है कि उन्हीं के कारण सारे उत्पात उत्पन्न हुए हैं। यदि वे इस संसार में न हुए तो क्या इसमें कमी आ जाती। वह अपने लिए नहीं दुःखी हैं, वह तो आज उर्मिला के लिए दुःखी हैं जिसने भोजन तक नहीं ग्रहण किया। कितना वेदनाशील हृदय है।

वे वीर हैं। यद्यपि वे जटा धारण किए हुए त्यागी थे किन्तु प्रत्यञ्चा हाथ में ही रहती थी कि अवसर पर उसका प्रयोग कर सकें। जब उन्होंने सुना कि लक्ष्मण के शक्ति लगी है तो उन्होंने अपना पथ निश्चय कर लिया

और आदेश दिया कि सेना तैयार हो और समस्त साकेत तत्पर हो जावे जिससे कि रावण की लंका शेष न रह जाय।

"माताओं से माँग विदा मेरी भी लेना।
मैं लक्ष्मण पथ पथी उर्मिला से कह देना॥
लौटूँगा तो साथ उन्हीं के और नहीं तो।
नहीं नहीं वे मुझे मिलेंगे भला कहीं तो ?"

कितना दृढ़ विचार और कैसी उमंग। यही नहीं, भरत-राम-मिलन कितना मर्मभेदी है। वहाँ पर भरत की महत्ता प्रकट होती है। रामचन्द्र के यह वचन कि—

"उठ भाई तुल सका न तुझसे, राम खड़ा है।
तेरा पलड़ा बड़ा भूमि पर आज पड़ा है॥
मैं बन जाकर हँसा, किन्तु घर आकर रोया।
खोकर रोये सभी, भरत मैं पाकर रोया॥"

प्रारम्भ से लेकर अन्त तक उनके चरित्र मे स्थिरता है। उनका त्यागमय जीवन हमारे लिए आदर्श है क्योंकि जिस माता ने उनके लिए राज्य-याचना की थी उसको तो वे ठुकरा ही चुके थे। वे तो राम की चरणपादुका लेकर अपने को कृतकृत्य समझते हैं और सारे कार्य उसी पादुका की पूजा करके करते हैं। राम नहीं किन्तु राम की पादुका तो है, कितना अटूट प्रेम एवं श्रद्धा है।

देश का कार्य, राज्य-संचालन एवं राज्य-व्यवस्था ठीक प्रकार से चलती है, किसी प्रकार की अव्यवस्था तो नहीं है, सारा समाज सुखी तो है। इन सबका ध्यान उन्हें सदैव रहता है. किन्तु अपनी चिन्ता उन्हें नहीं है। वह तो ऋषियों की तरह नन्दीग्राम में स्थित सारी व्यवस्था का संचालन कर रहे हैं। उन्हें भोग के लिए कुछ न चाहिए। आज वह तपस्वी है और त्यागी हैं, इसी-लिए सारा विश्व उनकी महत्ता को स्वीकार करता है। कितना निःस्वार्थी और भ्रातृ-प्रेमी। क्या कोई देश ऐसा व्यक्ति सम्मुख उपस्थित कर सकता है।

शत्रुघ्न—इनका चरित्र एक आदर्श चरित्र है। इनके विचारों में दृढ़ता है। यह सदैव सत्कार्य करने के लिए उद्यत रहते हैं। किसी अनाचार को सहन करना जानते ही नहीं। स्वभाव से ही वे वीर हैं। क्षत्रियत्व की भावना माता से ही प्राप्त है जो इन्हें प्रोत्साहित करती रहती है। लक्ष्मण और इनमें समानता होते हुए भी वैषम्य पर्याप्त मात्रा में मिलता है। जब वे ननिहाल से साकेत पहुँचते है तो लक्ष्मण पर आश्चर्य करते है कि तुम्हारे होते हुए यह उत्पात हुआ ?

"वे तुम्हारे भुज भुजंग विशाल,
क्या यहाँ कीलित हुए उस काल ?"

आज वह राजद्रोही बने हुए है। वह क्रान्ति चाहते है। आज वह राज्य-सत्ता हटाकर प्रजातन्त्र (डिमोक्रेसी) लाना चाहते है। उनका कथन कितना उचित प्रतीत होता है, मानो कवि स्वयं बोल रहा हो—

"राज्य पद ही क्यों न अब हट जाय,
लोभ मद का मूल ही कट जाय।
कर सके कोई न दर्प न दम्भ,
सब जगत में हो नया आरम्भ।
विगत हों नरपति रहें नर मात्र,
और जो जिस कार्य के हों पात्र।
वे रहें उस पर समान नियुक्त,
सब जियें ज्यों एक ही कुल भुक्त।"

❀ ❀ ❀

"पूर्ण हो दुर दृष्ट तेरी तुष्टि।
वीर ने मारी हृदय पर मुष्टि॥"

इससे इनके चरित्र का पूरा प्रतिबिम्ब हो जाता है।

उर्मिला—काव्य की नायिका है। वह अति सुन्दरी है। उसकी आभा प्रासाद में निखर उठी है। वह—

"अरुण पट पहने हुए आह्लाद में,
कौन यह बाला खड़ी प्रासाद में ?
प्रकट मूर्तिमती उषा तो नहीं ?
कान्ति की किरणें उजाला कर रहीं॥"

वही बाला लक्ष्मण के साथ हास-परिहास मे लीन है, किन्तु परिरम्भण के पश्चात् एक दूसरे से पृथक् हो जाते है। उसी उर्मिला का जीवनधन आज राम के साथ वन को जा रहा है। कहाँ वे आनन्द के दिन और कहाँ यह विषम वियोग। उसे अपने पति के साथ जाने को भी न मिला जबकि सीता अपने पति के साथ जा रही है। यदि वह उनके साथ जाने का हठ करती तो शायद लक्ष्मण भी न जा सकते और इस प्रकार अपने प्रिय पति के मार्ग में बाधक बनती। कितना त्याग है और कितनी ममता! उसे दुःख केवल यही है कि—

"रह सकी न साथ नाथ का भी,
ले सकी न हाय ! हाथ का भी।"

उसे इस बात का दुःख है कि "खला में क्या हो गया और रस में कौन विष बो गया।" इस प्रकार कभी वह रोती है और कभी शान्त हो जाती है, लेकिन जब दशरथमरण सुना तो उसने पूछा—

"माँ कहाँ गये वे पूज्य पिता,
कर के पुकार यों शोकरता।
उर्मिला सभी सुध बुध त्यागे,
जा गिरी कैकेयी के आगे॥"

दुःख में इस दुःख ने तो उसे अधिक अस्थिर बना दिया। उसकी दुःख एवं विरह की सारी भावनायें परिस्थितियों के अनुसार वृद्धि पाती रहती है। उसका विरह इतना व्यापक हो गया है कि जिसने उसके आत्मज्ञान तक को नष्ट कर दिया। जब उसे पूर्व पति-मिलन का स्मरण हो आता है तो उसकी हृदय-कली कुम्हला जाती है क्योंकि वह तो इतनी हीन-भागिनी है कि न तो वह वन ही पा सकी और न उसे भवन ही प्राप्त हो सका। उसे माता के वचन दुःखदायी प्रतीत होते हैं—

"साल रही सखि माँ की झाँकी वह चित्रकूट की मुझको।
बोलीं जब वे मुझसे मिला न वन ही न भवन ही तुझको॥"

वह नारी है। नारी-सुलभ भावना उसे व्याकुल बना रही है। उसे दुःख है कि उसके प्रियतम उसे उस अवस्था में न पा सकेंगे जिस अवस्था में छोड़ गये थे। उर्मिला का कथन—

"पाया था सो खोया हमने क्या खोकर क्या पाया,
रहे न हममें राम हमारे, मिली न हमको माया।

❀ ❀ ❀

"आगे जीवन की संध्या है देखें क्या हो आली,
तू कहती है चन्द्रोदय ही काली में उजियाली।
फिर प्रभात होगा क्या सचमुच ? तो कृतार्थ यह चेरी,
जीवन के पहले प्रभात में आँख खुली जब मेरी॥"

वह वीर क्षत्राणी भी है। वीरोचित गर्व एवं मान-मर्यादा का सदैव ध्यान रहता है। उसका कथन—

'धीरो, धन को आज ध्यान में भी मत लाओ,
जाते हो तो मान हेतु ही तुम सब जाओ।

सावधान ! वह अधम धान्य-सा धन मत छूना,
तुम्हें तुम्हारी मातृभूमि ही देगी दूना ॥'

कितना उत्साहवर्द्धक है । उसे अपने देश, जाति, कुल, कान सबका ध्यान है । देखिये उसकी वाणी की ओजस्विता—

"विन्ध्य-हिमालय-भाल, भला झुक जाय न धीरो,
चन्द्र-सूर्य कुल कीर्ति कला रुक जाय न वीरो ।
चढ़ कर उतर न जाय सुनो कुल मौक्तिक पानी,
गंगा यमुना सिन्धु और सरयू का पानी ॥"

स्त्री को अपने पति के एक-पत्नी-व्रत पर कितना गर्व होता है कि उसे स्त्रीजाति ही समझ सकती है । आज जब उसने लक्ष्मण से कहते सुना कि मैंने केवल उर्मिला को ही अपनी पत्नी बनाया है उस समय वह कैसी गौरवान्वित हो जाती है—

"उधर उर्मिला विधु-वदन लज्जा की लाली,
फूली संध्या प्राप्त कर रही थी दीवाली ।"

आज हम उसी उर्मिला के दर्शन प्राप्त कर रहे हैं । प्रारम्भ में वह नारी ही थी और अन्त में भी वह वही है । उसका कथन कितना सार्थक है—

"स्वामी स्वामी जन्म जन्म के स्वामी मेरे,
किन्तु कहाँ वे अहोरात्र वे साँझ सबेरे ।'

नारी क्या चाहती है और किन इच्छाओं की पूर्ति में प्रसन्न होती है, हमें उर्मिला के चरित्र से प्राप्त हो सकता है ।

वह श्लाघ्या है । अभी तक हमने सीता जी का त्याग एवं रुदन सुना था, अब हम उर्मिला के रुदन पर दृष्टिपात करते हैं । उर्मिला की परिस्थिति विचित्र है । उसकी तुलना न तो यशोधरा से की जा सकती है और न प्रिय-प्रवास की राधा से । राधा का त्याग सर्वोपरि था, किन्तु उर्मिला का त्याग इसलिये विशिष्ट कहा जा सकता है कि उसने सुख का रसास्वादन एवं अनुभव प्राप्त कर लिया है और उस सुख से एक लम्बी अवधि तक असहायावस्था में स्वेच्छापूर्वक वंचित रहना कितना बड़ा त्याग है । राधा ने उस भोग को भोगा ही नहीं था । अतः उसमें पड़ी भी नहीं और उसने परसेवा का दूसरा मार्ग अपना लिया । यशोधरा की मनोव्यथा सबसे भयंकर कही जा सकती है क्योंकि उसने भोगों को भोग लिया है और उसे यह भी ज्ञात है कि उसके स्वामी सदैव के लिए उससे पृथक् हो गए है लेकिन उसके जीवन के आधार के लिए राहुल सा पुत्र है जिसके द्वारा वह अपने दुःखों को भुला भी सकती

यह सच है तो फिर लौट चलो घर भैया।
अपराधिन मैं हूँ तात, तुम्हारी मैया॥
दुर्बलता का ही चिन्ह विशेष शपथ है।
पर अबला जन के लिए कौन सा पथ है?
यदि मैं उकसाई गई भरत से होऊँ।
तो पति समान ही स्वयं पुत्र भी खोऊँ॥"

माता सब कुछ सहन कर सकती है किन्तु पुत्र की मृत्युचर्चा उसके लिए असह्य होती है, फिर भी वह भरत की कालिमा को धोने के लिए और अपने पाप को नष्ट करने के लिए भरत की शपथ खाती है। वह जानती है कि प्रायश्चित्त द्वारा मनुष्य की आत्मा शुद्ध, निर्मल एवं पवित्र हो जाती है। अतः प्रायश्चित्त कर वह उज्ज्वल चरित्र वाली बन गई। उसका वात्सल्य अनुकरणीय है।

वह वीरांगना थी। रण-सज्जा के अवसर पर उसके ओजपूर्ण वचन उसकी वीरता को प्रकट करते हैं। वह कहती है कि—

"भरत जायगा प्रथम और यह मैं जाऊँगी,
ऐसा अवसर भला दूसरा कब पाऊँगी?
"मैं निज पति के संग गई थी असुर समर में,
जाऊँगी अब पुत्र संग भी अरि संगर में॥"

ये वीरोचित शब्द उसी के अनुकूल थे। राम के प्रति उसके भाव पवित्र हैं—

"ढोया जीवन भार दुःख ही ढोया मैंने,
पाकर तुम्हें परन्तु भरत को पाया मैंने।"

कैकेयी का चरित्र परिस्थितियों के आलोड़ित-विलोड़ित होने पर कैसा विकसित होता चलता है, भलीभाँति प्रकट हो गया।

तुलसीदास ने तो मन्थरा को दोषी ठहराया और कहा कि देवताओं ने उसकी मति भ्रष्ट कर दी। यदि यह सत्य था तो दशरथ की मृत्यु के पश्चात् उसका सुन्दर चरित्र मिलता। यह कमी गुप्त जी ने जिस मनोवैज्ञानिक ढंग से पूर्ण की है वह सदैव स्मरणीय रहेगी।

माण्डवी—उसका चरित्र बहुत ही उज्ज्वल है। उसका त्याग तो महान् है ही। उसे न सीता के समान पति का साथ ही प्राप्त हो सका और न उर्मिला की तरह वियोग ही। उसकी दशा तो विचित्र ही है। उसके सामने एक कठोर व्रत है। उस पर उसे सदैव चलना है। वह वीरांगना है और पति-परायणा भी। वह सबके दुःखों को समझने वाली है। वह कहती है—

"हाय नाथ धरती फट जाती,
हम तुम कहीं समा जाते।
तो हम दोनों किसी मूल में,
रह कर कितना सुख पाते ॥"

उसका यह कथन है कि—

"सुख को तो सभी लोग भोग लेते हैं।
किन्तु हलाहल भवसागर का शिवशंकर ही पीते हैं ।।"

उसे इसी दशा पर सन्तोष है, क्योंकि यह सब हम लोगों ने अपने आप ही स्वीकार किया है । यह सब होते हुए भी उसमें विनोद की झलक भासित हो जाती थी—

"कोई तापस कोई त्यागी कोई आज विरागी हैं।
घर सम्हालने वाले मेरे देवर ही बड़भागी हैं ॥"

वही माण्डवी भरत को धैर्य दिलाने वाली एवं पथप्रदर्शिका के रूप मे उपस्थित होती है । वह कहती है कि दैव हमारी परीक्षा ले रहा है । उसे अब भी सन्तोष नही ।

"हम क्या सब कुछ और नहीं दे सकते उसको ?
आदर से इस ठौर नहीं ले सकते उसको ?"

वह निर्भीक है । उसे भय की भी चिन्ता नही। वह अपने कर्त्तव्य पर आरूढ़ है । वह कहती है—

"हम सब होंगे जहाँ, हमारा स्वर्ग वहीं है।
दैव अभागा दैव हमारा कर क्या लेगा ॥"

इस प्रकार उसका चरित्र महान् है और आदरणीय भी ।

प्रकृति-चित्रण—गुप्त जी ने कविपरम्परा का निर्वाह करते हुए प्रकृति का चित्रण किया है । उनका प्रकृति के प्रति विशेष अनुराग नहीं प्रतीत होता है। इसलिए उन्हें सर्वत्र सफलता नही मिल सकी । साकेत में गुप्त जी ने प्रकृति को आलम्बन रूप मे चित्रण किया है। उसका मधुर दृश्य जो हमारे सम्मुख रखा गया है उत्साहवर्द्धक नहीं है । केवल वर्णन के लिए ही प्रतीत होता है । देखिये—

"आस पास लगीं वहाँ फुलवारियाँ,
हँस रही हैं खिलखिलाकर क्यारियाँ ।"

❀ ❀ ❀

"तुझ पर ऊँचे झाड़, तने पत्रमय छत्र पहाड़।
क्या अपूर्व है तेरी आड़, करते हैं बहु जीव विहार॥
ओ गौरव गिरि उच्च उदार।"

मानवता के आरोप में प्रकृति-चित्रण का स्वरूप देखिये—

"अरी सुरभि जा लौट जा अपने अंग सहेज।
तू फूलों में है पली यह काँटों की सेज॥"

संवेदनात्मक स्वरूप में प्रकृति का चित्रण देखिये। उर्मिला दुःखित है। उसके दुःख में वसन्त भी दुःखी होकर क्षीण हो रहा है—

"ओ हो! मरा वह वराक वसन्त कैसा?
ऊँचा गला रुंध गया अब अन्त जैसा॥
देखो बढ़ा ज्वर जरा जड़ता जगी है।
तो ऊर्ध्व साँस उसकी चलने लगी है॥"

षट्-ऋतु-वर्णन उद्दीपन की दृष्टि से किया गया है किन्तु वह शारीरिक ताप का अनुमान लगाने के लिए नहीं, बल्कि उसके ऊपर प्रतिक्रिया क्या हुई इसका वर्णन किया है। देखिये—

"जा मलयानिल लौट जा, यहाँ अवधि का शाप।
लगे न लू होकर कहीं, तू अपने को आप॥"

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रकृति-चित्रण में गुप्त जी ने विशेष रुचि नहीं दिखलाई। इसके दो कारण हो सकते हैं—एक तो साकेत में प्रकृति का स्थान साकेत तक ही सीमित था, दूसरे विरहकाव्य होने के कारण प्रकृति के हँसते हुए स्वरूप को चित्रित करना उचित भी नहीं था।

रस और भाव—इस काव्य में शृंगार तथा करुण प्रधान है। अन्य रस वीर, रौद्र अप्रधान। शृंगार रस का पूर्ण परिपाक हुआ है। प्रथम सर्ग में लक्ष्मण और उर्मिला के संयोग पक्ष के दर्शन होते हैं जहाँ वे हास-परिहास करते पाये जाते हैं—

"कर बढ़ा कर जो कमल-सा था खिला,
मुस्कुराई और बोली उर्मिला।
मत्त गज बन कर विवेक न छोड़ना,
कर कमल कह कर न मेरा तोड़ना॥"
"पकड़ कर सहसा प्रिया का कर वहीं,
चूम कर फिर फिर उसे बोले यही॥"

यहाँ पर उर्मिला की सरस उक्तियाँ उद्दीपन का कार्य कर रही हैं। हँसी अनुभाव है और हाथ का चूमना रति का स्थायीभाव है जो आगे पूर्णता को प्राप्त कर लेता है। देखिये—

"हाथ लक्ष्मण ने तुरन्त बढ़ा दिये,
और बोले · एक परिरम्भण प्रिये।
सिमिट-सी सहसा गई प्रिय की प्रिया,
एक तीक्ष्ण अपांग ही उसने दिया।
किन्तु घाते में उसे प्रिय ने किया,
आप ही फिर प्राप्य अपना ले लिया।"

यद्यपि यह प्रसंग अश्लीलता के वर्ज्य तट तक पहुँच गया है किन्तु कवि इन्हें नायक और नायिका के रूप में प्रतिष्ठित करना चाहता है। इसलिए उसने अपनी पूर्ण स्वतन्त्रता का परिचय देकर उनके प्रेमवर्णन में कोई कसर उठा न रक्खी। वे (लक्ष्मण-उर्मिला) युवक और युवती हैं। उन्होंने प्रगाढ़ परिरम्भण और तीक्ष्ण अपांगों से प्रेम का परिचय देकर अपना-अपना प्राप्य ले लिया।

संयोग के पश्चात् ही उर्मिला की वियोगावस्था आती है। उसके जीवन-धन राम के साथ वन जा रहे हैं। यह वृत्त उसे त्रिशूल की तरह मर्म-भेदी हुआ क्योंकि १४ साल की चिर-अवधि के पश्चात् प्रिय-मिलन की सम्भावना और उभड़ते हुए यौवन की उमंग की पूर्ण साध भस्मसात होने जा रही है। वह कुछ न कह सकी। वह "कह कर हाय! धड़ाम गिरी"—कैसी विषम परिस्थिति है। लक्ष्मण चुप रहकर आँख बन्द कर लेते हैं। सीता डर जाती है और व्यजन डुलाती हुई कहती है कि —

"आज भाग्य जो है मेरा,
वह भी हुआ न हा तेरा।"

इस प्रकार लक्ष्मण से उर्मिला का वियोग हो जाता है। वह दुःखी है। जब प्राणी के ऊपर अधिक दुःख पड़ता है तो उसमें बहुत कुछ परिवर्तन हो जाया करता है। वही दशा उर्मिला की है। उसका हृदय इतना कोमल हो गया है कि दूसरों के दुःख को देख नहीं सकती—

"सींचें ही बस मालिनें कलश लें कोई न कर्तरी,
शाखें फूल फलें यथेच्छ बढ़ के फैलें लतायें हरी।"

वह स्यात् अपने दुःख को अन्य दुःखियों के साथ रहकर भुला सके इसलिए वह उन प्रोषित-पतिकाओं को निमन्त्रण भिजवाती है, जो दुःखी हैं। यही

नहीं, वह अपनी समता उन पक्षियों मे भी करने लगती है जो पिंजड़े में बद्ध हैं।

"विहग उड़ना भी ये, हो बद्ध भूल गये अये,
यदि अब इन्हें छोड़ूँ तो और निर्दयता दये।
परिजन इन्हें भूले ये भी उन्हें सब हैं बहे,
बस अब हमीं साथी-संगी सभी इनके रहे॥"
"मेरे उर अंगार के बने बाल गोपाल।
अपनी मुनियों से मिले पले रहो तुम लाल॥"

वियोग की दशा में वे समस्त वस्तुएँ, जिनसे प्रियतम का सम्बन्ध रहा है, उद्दीपन रूप में प्यारे की स्मृति जगाकर उसकी विरहवेदना को तीव्र बनाती है—

"लेते गए क्यों न तुम्हें कपोत वे,
गाते सदा जो गुण थे तुम्हारे।
लाते तुम्हीं हा प्रिय पत्र पोत वे,
दुःखाब्धि में जो बनते सहारे॥"

यही नही, विरह में सभी सुखद वस्तुएं दुःखद बन जाती है, इसलिए वह सुरभि को लौटा देती है, क्योंकि—

"तू फूलों में है पली यह काँटों की सेज।"

कहीं-कहीं पर तो ताप का ऊहात्मक वर्णन भी किया है, किन्तु उसमें स्वाभाविकता नष्ट नहीं होने पायी है। यथा—

"ठहर अरी इस हृदय में लगी विरह की आग,
ताल-वृन्त से और भी धधक उठेगी आग।"

प्रत्येक विरहिणी अपने प्रियतम से मिलने की अभिलाषा रखती है। यही उर्मिला की भी इच्छा है। उसकी इस अभिलाषा में कितना भोलापन एवं आवेग है। देखिये—

"यही आता है इस मन में,
छोड़ धाम-धन जाकर मैं भी रहूँ उसी वन में।
प्रिय के व्रत में विघ्न न डालूँ रहूँ निकट भी दूर,
व्यथा रहे पर साथ साथ ही समाधान भरपूर॥
हर्ष डूबा हो रोदन में,
यही आता है इस मन में।

बीच बीच में उन्हें देख लूँ, मैं झुरमुट की ओट,
जब वे निकल जायें तब लौं, उसी धूल में लोट॥
रहें रत वे निज साधन में,
यही आता है इस मन में॥"

वह चाहती है कि मैं घर-बार छोड़कर उसी वन में रहूँ जहाँ पर उसका प्रियतम रहता है, किन्तु उनसे दूर जिससे उनके तप में विघ्न न पड़े। मैं उन्हें झुरमुट में देखती भी रहूँ और उनके उस मार्ग से निकल जाने पर उस धूल में खूब लोटूँ। इस प्रकार का मिलन कैसा होगा। 'प्रियप्रवास' में भी इसी भाव को व्यक्त किया है, जहाँ पर उपाध्याय जी ने आत्मत्याग की कितनी अलौकिक उद्भावना की है—

"विधिवश यदि तेरी धार में आ गिरूँ मैं,
मम तन व्रज की ही मेदिनी में मिलाना।
उस पर अनुकूला हो बड़ी मञ्जुता से,
कल कुसुम अनूठी श्यामता के उगाना॥"

—प्रियप्रवास

वह युवती है। उसके ऊपर यौवन का एवं कामदेव का प्रहार होता है। वह कभी यौवन को समझाती है कि तू मुझे दुःख न दे; कभी वह कामदेव से प्रार्थना करती है कि तू मुझ वियोगिनी को अपने पुष्पवाणों से न मार। "मुझे फूल मत मारो। मैं अबला बाला वियोगिनी कुछ तो दया विचारो।" यद्यपि यह भाव परम्परा से गुप्त जी को प्राप्त हुआ है—

"ए रे मनोज सँभारि कै मारु कि ईश नहीं यह कोमल बाल है।"

जब उर्मिला अति व्याकुल हो जाती है और उसे केवल रोना ही रोना शेष रह जाता है, तब उसकी दशा पागल की तरह सी हो जाती है। कभी वह उन्माद में कहने लगती है और कभी क्षणिक चैतन्यावस्था में आकर अपनी सखियों को समझाने लगती है कि लक्ष्मण आकर उससे कह रहे हैं कि—

"प्रियतमे, तपोभ्रष्ट मैं ? भला।
मत छुओ मुझे मैं लौट चला॥
तुम सुखी रहो हे विरागिनी।
बस विदा मुझे पुण्यभागिनी॥"
हट सुलक्षणे! रोक तू न यों,
पतित मैं, मुझे टोक तू न यों॥"

लेकिन वह उन्माद भी तो सदैव नहीं रहता जिससे कि वह अपनी दशा में भूली रहती। इस प्रकार वह अपना समय व्यतीत करती रहती है और अन्त में हम उसकी कामना की पूर्ति होते देखते हैं। वह आज:—

"पैरों पड़ती हुई उर्मिला हाथों पर थी।"

और ऐसा प्रतीत हो रहा था कि—

"लेकर मानों विश्व-विरह उस अन्तःपुर में।
समा रहे थे एक दूसरे के वे उर में॥"
"आँखों में ही रहीं अभी तक तुम भी मानों।
अन्तस्तल में आज अचल निज आसन जानों॥"

जो प्रेम केवल ऐन्द्रिक था आज उसने अन्तस्थल में अपना अधिकार स्थापित कर लिया। यह त्याग भावना का परिणाम है।

इस प्रकार शृंगार के संयोग पक्ष के दर्शन प्रथम, अष्टम और अन्तिम सर्गों में मिलते हैं और वियोग पक्ष के नवम सर्ग में। शारीरिक कृशता से लेकर उन्माद तक की सम्पूर्ण दशाओं का वर्णन मिलता है।

करुण रस के लिए कहना ही क्या—वह काव्य में प्रवाहित ही हो रहा है। कौशल्या के वचनों में कितना दैन्य है, उनकी करुण दशा देखिये—

"मेरा राम न वन जावे यहीं कहीं रहने पावे,
उनके पैर पड़ूँगी मैं कह कर यही अड़ूँगी मैं।
भरत राज्य की जड़ न हिले मुझे राम की भीख मिले।"

दशरथ के उद्गार—

"मेरे कर युग हैं टूट चुके,
कटि टूट चुकी सुख छूट चुके,
आंखों की पुतली निकल पड़ी।
यह यहीं कहीं है विकल पड़ी।"

भरत का वाक्य—"माँ कहां गये वे पूज्य पिता" कितना करुणोत्पादक है। राम-वन-गमन, दशरथ-मरण और लक्ष्मण-शक्ति के स्थल करुण रस के मुख्य प्रसंग हैं। वीर रस के उदाहरण साकेत-रण-सज्जा के अवसर पर एवं लंका-युद्ध में मिलते हैं—

"शब्द शब्द से, शस्त्र शस्त्र से, घाव घाव से,
स्पर्धा करने लगे परस्पर एक भाव से।
होकर मानो एक प्राण दोनों भट-भूषण,
दो देहों को मान रहे थे निज निज दूषण।"

हास्य रस, संचारीभाव के रूप में राम के वचनों से टपक रहा है—

"वह सीताफल जब फलै तुम्हारा चाहा,
मेरा विनोद तो सफल हँसी तुम आहा।"

अन्तिम सर्ग में वीर, रौद्र, भयानक और अद्भुत के सुन्दर उदाहरण मिलते हैं। उनमें से प्रत्येक का एक-एक नमूना देखिये—

अद्भुत—

"खींच कर श्वास आस-पास से प्रयास बिना सीधा,
उठ शूर हुआ तिरछा गगन में।
अग्निशिखा ऊँची भी नहीं है निराधार कहीं,
वैसा सार वेग कब पाया सान्ध्य घन में।
भूपर से ऊपर गया यों नरेन्दु मानों एक नया,
भद्र भौम जाता था लगन में।
प्रकट सजीव चित्र-सा था शून्य पट पर, दण्डहीन,
केतन दया के निकेतन में॥"

रौद्र—

"जटा-जाल से बाल विलम्बित छूट पड़े थे,
आनन पर सौ अरुण घटा में फूट पड़े थे।
माथे का सिंदूर सजग अंगार सदृश था,
प्रथमातप-सा पुण्य पात्र यद्यपि वह कृश था॥"

भयानक—

"नीचे स्यार पुकार रहे हैं ऊपर मँडराते हैं गिद्ध,
सोने की लंका मिट्टी में मिलती है लोहे से विद्ध।"

इस काव्य में, जैसा ऊपर कथन किया जा चुका है, शृंगार की जितनी भी विधायें—चाहे रीतिकालीन हों अथवा आधुनिक काल की—सबको प्रश्रय दिया गया है। नवम सर्ग तो इस हेतु है ही। इस कारण इसमें प्रबन्धत्व नष्ट हो गया है। ऐसा प्रतीत होने लगता है मानो विरह पर एक अनूठा ग्रन्थ लिखा जा रहा है। ऐसा करना न तो समीचीन ही है और न महाकाव्य के लिए उचित। यदि इस सर्ग की अन्तर्दशायें समस्त सर्गों में यथावसर वितरित की जाती और कथानक में कुछ परिवर्तन किया गया होता तो यह सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य होता। इसी सर्ग ने, जो कि साकेत का मुख्य अंग है, इसको वह स्थान प्रदान न होने दिया जो इसको प्राप्य होता। काव्य भावपूर्ण स्थलों से ओत-प्रोत हैं किन्तु कहीं-कहीं पर भावों के प्रवाह में अवरोध भी उत्पन्न हो गया है।

भाषा-शैली—साकेत की भाषा प्रौढ़ एवं शुद्ध है। इसमें संस्कृत के तत्सम शब्दों की प्रधानता है, फिर भी यह जन-साधारण के बोधगम्य बना रहा है। गुप्त जी का भाषा पर पूर्ण प्रभुत्व है, इसलिए वह जिस प्रकार चाहते हैं उसको उसी प्रकार प्रयोग कर लेते हैं और भाव के अनुकूल ही भाषा और शैली का प्रयोग करते हैं—

"भेद? दासी ने कहा सतर्क,
सबेरे दिखला देगा अर्क।
राजमाता होगी जब एक,
दूसरी देखेगी अभिषेक॥"

इस काव्य में अभिव्यञ्जना के लाक्षणिक-वैचित्र्य के दर्शन भी प्राप्त होते हैं। साथ ही खड़ीबोली को सुव्यवस्थित एवं परिमार्जित रूप में देखते हैं, यथा—

"सखि नील नभस्सर से उतरा यह हंस,
अहा तरता तरता।
अब तारक मौक्तिक शेष नहीं,
निकला जिनको चरता चरता॥
अपने हिम बिन्दु बचे तब भी,
चलता उनको धरता धरता,
गड़ जायं न कंटक भूतल के,
कर डाल रहा डरता डरता॥"

कहीं-कहीं पर अप्रचलित शब्दों का भी प्रयोग किया गया है जिसके कारण स्वाभाविकता नष्ट हो गई है—जैसे कल्प, त्वेष, आज्य आदि। कहीं पर प्रान्तीयता के शब्दों का भी प्रयोग हुआ है—अफर, धड़ाम, छींटना आदि।

गुप्त जी ने मुहावरों और लोकोक्तियों का भी प्रयोग किया है जिसके कारण भाषा में कहीं पर सजीवता उत्पन्न हो गई है और कहीं पर कुरूपता भी।

(अ) "करके मीन-मेख सब ओर"
(ब) "दिन बारह वर्षों में घूड़े के भी सुने गए हैं फिरते"
(स) "उड़ा ही दिया मन्थरा ने सुआ"
(द) "खाने पर सखि जिसके गुड़-गोबर सा लगे स्वयं ही जी से"

गुप्त जी ने अलंकारों का प्रयोग यत्र-तत्र सुन्दर रूप से किया है, पर केशव के समान भाषा तथा भावों को बोझ से दबने नहीं दिया है। इस

कारण भावुकता, स्वाभाविकता और माधुर्य पूर्ण रूप से प्राप्त होते हे।

मुख्य अलंकार अनुप्रास, रूपक, व्यतिरेक, श्लेष, मुद्रा आदि है। इनमें से दो-एक के नमूने देखिये—

व्यतिरेक एवं अनुप्रास—

"किन्तु सुर सरिता कहां सरयू कहाँ? (अतिशयोक्ति)
वह मरों को मात्र पार उतारती।
यह यहीं से जीवितों को तारती॥
कर्ण-कोमल-कल कथा सी कह रही।"

श्लेष से पुष्ट रूपक—

"उस रुदन्ती विरहिणी के रुदन-रस के लेप से,
और पाकर ताप उसके प्रिय विरह विक्षेप से।
वर्ण वर्ण सदैव जिनके हों विभूषण कर्ण के,
क्यों न बनते कवि जनों के ताम्र पत्र सुवर्ण के॥"

गुप्त जी की भाषा व्याकरण अनुमोदित है। त्रुटियो का अभाव है किन्तु कहीं-कहीं पर तुक के आग्रह के कारण अप्रचलित शब्दों का प्रयोग खटकता है। यथा—

तती, रती, लक्खी, मल्ली, लल्ली आदि। कहीं-कहीं पर भाषा में लचरपन भी मिलता है। जैसे—

(प्रथम) "सूर्य का यद्यपि नहीं आना हुआ,
किन्तु समझो रात का जाना हुआ।
क्योंकि उसके रंग पीले पड़ चले,
रम्य रत्नाभरण ढीले पड़ चले॥"

(द्वितीय) "हैं करों में भूरि भूरि भलाइयाँ,
लचक जातीं अन्यथा न कलाइयां॥"

प्रथम पद्य में—यद्यपि, किन्तु, क्योंकि, समझो आदि शब्द निरर्थक हैं। दूसरे पद में—"लचक जातीं न कलाइयाँ" बाजारू गीतों की तरह प्रतीत होता है।

साकेत में गुप्त जी ने विविध छन्दों का प्रयोग किया है किन्तु उनके प्रयोग में बड़ी निपुणता दिखलाई है। साथ ही भावों का पूर्ण ध्यान रक्खा है। रसानुकूल ही प्रायः उनकी छन्द-रचना हुई है। इस प्रकार शार्दूलविक्रीड़ित, शिखरिणी, मालिनी, वियोगिनी आदि संस्कृत-वृत्त एवं दोहा, सोरठा, घनाक्षरी, सवैया आदि हिन्दी-छन्दों का प्रयोग किया है। आपकी शैली में

विशेष गुण यह है कि दूसरों पर अपना प्रभाव डालने वाली एवं मनोमुग्धकारी है। इस विशेषता को लाने के लिए उन्होंने कथोपकथन की शैली को अपनाया है। इससे गति में सरसता एवं सजीवता उत्पन्न हो गई है। देखिये लक्ष्मण और उर्मिला का वार्तालाप—

उर्मिला—"उर्मिला बोली अजी तुम जग गये?
स्वप्न-निधि से नयन कब से लग गये?"
लक्ष्मण—"मोहनी ने मन्त्र पढ़ जब से छुआ,
जागरण रुचिकर तुम्हें जब से हुआ।"
उर्मिला—"जागरण है स्वप्न से अच्छा कहीं?"
लक्ष्मण—"प्रेम में कुछ भी बुरा होता नहीं?"
उर्मिला—"प्रेम की यह रुचि विचित्र सराहिये,
योग्यता क्या कुछ न होनी चाहिये।"
लक्ष्मण—धन्य है प्यारी तुम्हारी योग्यता,
मोहिनी सी मूर्त्ति मञ्जु मनोज्ञता॥"
धन्य जो इस योग्यता के पास हूँ।
किन्तु मैं भी तो तुम्हारा दास हूँ॥"
उर्मिला—"दास बनने का बहाना किस लिये,
क्या मुझे दासी कहाना इसलिये?"

सम्पूर्ण सम्वाद पढ़िये, इसमें कितनी सजीवता एव सरसता है तथा स्वाभाविकता में किसी प्रकार की कमी नहीं आने पायी है। इस प्रकार के कथोपकथनों से काव्य परिपूर्ण है।

(अ) वादों का प्रभाव—

गुप्त जी पर गान्धीवाद का पूर्ण प्रभाव परिलक्षित होता है। साकेत में इसके दर्शन स्थल-स्थल पर होते है। जब रामचन्द्र वन को जाते है उस अवसर पर साकेत नगर के निवासी विनत विद्रोह करते हैं और कहते है कि—

"जाओ, यदि जा सको रौंद हमको यहाँ।
यों कह पथ में लेट गये बहु जन वहाँ॥"

यही नहीं, प्रत्येक व्यक्ति को अपने हाथों कार्य करना चाहिये। इसका सुन्दर स्वरूप सीता जी द्वारा दिखलाया गया है। वे "अंचल-पट-कटि में खोंस कछोटा मारे।" पौधों को सींच रही थीं। उनका कोल-किरात-भिल्ल बालाओं को वर्धा आश्रम की भाँति अवशेष समय में कातने-बुनने का सदोपदेश देना एवं नारी को अपने स्वत्व को प्राप्त करने की इच्छा, स्वत्वों की भिक्षा कैसी? आदि प्रश्न गान्धीवाद के द्योतक है।

राष्ट्रप्रेम के कारण ही सारी प्रजा रण के लिए उद्यत होती है। गुप्त जी रामराज्य की कल्पना करते है यद्यपि उन्होंने शत्रुघ्न द्वारा साम्यवाद की घोषणा करवाई और राजद्रोह का झण्डा ऊँचा कराया। शत्रुघ्न के वचन कि—

"राज्य पद ही क्यों न अब हट जाय?
लोभ मद का मूल ही कट जाय॥

कर सके कोई न दर्पन दम्भ, सब जगत में हो नया आरम्भ।
विगत हैं नर पति, रहें नर मात्र, और जो जिस कार्य के हों पात्र।
वे रहें उस पर समान नियुक्त सब जियें ज्यों एक ही कुल मुक्त।"

यहाँ साम्यवाद की पूरी झलक दिखलाई पड़ती है किन्तु साम्यवाद के अभारतीय होने के कारण रामराज्य की कल्पना करते है। वे राष्ट्र के कल्याण के लिए एक राज्य का होना उचित मानते है। यथा—

"एक राज्य न हो बहुत से हों जहाँ,
राष्ट्र का बल बिखर जाता है वहाँ।"

राज्य में शान्ति रहे इसलिये युद्ध भी आवश्यक होता है, किन्तु उसी सीमा तक जब तक शान्ति स्थापित न हो जावे। शान्ति के स्थापित हो जाने पर युद्ध नहीं चाहिये। गान्धीवाद बुद्धिवाद को प्राथमिकता देता है और इसी हेतु कोई कार्य बिना सोचे न करने की आज्ञा देता है। सत्य पर आधारित होना एवं अपनी कमज़ोरी को स्वीकार कर लेना ही मानव की विजय है। कैकेयी की स्वीकारोक्ति इसकी द्योतक है। उसका कथन कि "रघुकुल में भी थी एक अभागिन रानी" की कठोर कहानी युग-युग तक चलती रहे। यही नहीं, जन्म-जन्मान्तर तक वह यह सुनती रहे कि उसे महास्वार्थ ने घेरा था, अतः उसे धिक्कार है।

इन शब्दों में गान्धीयुग की आत्मा का भास होता है।

(अ) बुद्धिवाद का प्रभाव—

(क) युग के बुद्धिवाद ने कैकेयी एवं मन्थरा की बुद्धि पर शासन करती हुई सरस्वतीदेवी को स्थानान्तरित किया।

(ख) मध्यकालीन रूढ़ियों को अपदस्थ किया गया और आर्य संस्कृति के पुनर्निर्माण की योजना बनाई। कौशल्या राम-वन-गमन पर रोती नहीं है, बल्कि कहती है "जाओ तनय वन को जाओ नित्य धर्मपन को।"

नारियों में अधिकार की भावना बलवती है। सीता साधिकार वन को जाती है क्योंकि सीता अर्द्धांग का अधिकार मानती है और सुमित्रा—

'अपना त्याग न देने वाली नारी है।''

(ग) आर्य संस्कृति के सांस्कृतिक निर्माण की परोक्ष प्रेरणा ने दक्षिण में भारतवर्ष का एक नवीन उपनिवेश बसाकर राम को आर्य संस्कृति के प्रचारार्थ भेज दिया।

(घ) पश्चिम से आने वाले व्यक्तिवाद और रोमांसवाद (स्वच्छन्दवाद) की लहर ने शौर्यवादी लक्ष्मण को सौन्दर्यवादी बनाया और पति-पत्नी-विनोद, देवर-भाभी-परिहास आदि मधुर सम्बन्धों की झाँकी उपस्थित की।

अष्टम अध्याय
प्रसुमनकाल के महाकाव्य
(१६२१-१६४०)

प्रसुमनकाल के महाकाव्य निम्न हैं:—
कामायनी, नूरजहाँ, सिद्धार्थ, वैदेही-वनवास और दैत्यवंश।

कामायनी

काव्य-सम्पत्ति— कामायनी इस युग की एक सुन्दर कृति है जिसका प्रणयन कल्पनाओं एवं चित्रमयी भाषा द्वारा हुआ। शास्त्रीय लक्षणों के अनुसार प्रायः सभी लक्षण इसमें घटित होते हैं। यह ग्रन्थ सत्रह सर्गों में विभाजित है। प्रत्येक सर्ग का नामकरण उनके वर्ण्य विषय पर हुआ है। प्रत्येक सर्ग में एक ही छन्द का प्रयोग हुआ है जो आद्योपान्त चलता है। इसकी कथा प्रख्यात है। इसका आधार है शतपथब्राह्मण, छान्दोग्य उपनिषद्, तथा ऋग्वेद। इसमें मनु धीरोद्धत नायक हैं किन्तु श्रद्धा ही उन्हें आनन्द का मार्ग बतलाती है। अतः श्रद्धा ही इसका नायकत्व करती है। कथानक की प्रेरक शक्ति श्रद्धा या कामायनी है, इसीलिए उसी के नाम पर इस महाकाव्य का नामकरण हुआ। इसमें प्रकृति का सजीव वर्णन है। शान्त रस प्रधान है, अन्य रस गौण। मनु शान्ति के लिए ही चिन्तित थे और अन्त में शान्ति के दर्शन होते हैं। शृंगार और करुण का अवसान निर्वेद में होता है।

नाट्य सन्धियों के निर्वाह का प्रयत्न हुआ है। मनु की चिन्ता और उनमें आशा का उदय होना प्रारम्भ है। श्रद्धा का प्राप्त होना, सहवास एवं सारस्वत प्रदेश में राज्य स्थापित करना प्रयत्न है। श्रद्धा का मनु की खोज, मिलन, आश्वासन प्राप्त्याशा है। उसके पश्चात् मनु की खोज एवं इच्छा, ज्ञान, क्रिया तीनों लोकों के दर्शन नियताप्ति है। इसका समन्वय, आनन्द-लीन एवं लोकसेवारत होना फलागम है।

कामायनी का महत् उद्देश्य है पीड़ित एवं समस्त विश्व को चिरन्तन, सत्य एवं शाश्वत आनन्द की खोज और प्राप्ति का स्थायी सन्देश देना और अभिनव मानव सृष्टि का विकास दिखलाना। इसी प्रयत्न का परिणाम कामायनी-प्रणयन है।

कथानक—प्रलय के पश्चात् मनु की नौका हिमालय के उच्च शिखर पर लगती है। चिन्ताशील मनु अतीत की बातों का स्मरण कर शिथिल हो जाते हैं। वे अहकारयुक्त निष्क्रिय चिन्तन के अतिरिक्त और कुछ नहीं कर पाते। ज्यों ही श्रद्धा से उनका सयोग होता है उनमें जीवन के प्रति आकर्षण उत्पन्न होता है और कर्म मे रत होते है। वे किलात और आकुलि की सहायता से पशु-यज्ञ करते हे जिसे देखकर श्रद्धा को अरुचि उत्पन्न होती है। वे अपने पालित पशु को श्रद्धा द्वारा प्रेम किया जाना भी नही देख सकते। यही नहीं, वे श्रद्धा द्वारा निर्मित सुन्दर स्थान एव भावी सन्तान के लिए वस्त्रो के निर्माण को भी नहीं देख सकते। वे यही चाहते है कि श्रद्धा का सारा प्रेम उन्ही तक सीमित रहे। इसीलिए ईर्ष्यावश श्रद्धा को छोड़कर चल देते हैं।

मनु सारस्वत प्रदेश पहुँचते है। वहाँ पर इड़ा की सहायता से व राज्य-व्यवस्था करते है और वहां के निवासियो को भौतिकवादी जीवन व्यतीत करने के उपाय बतलाते हैं। यहीं से संघर्ष का सूत्रपात होता है। मनु नियामक होते हुए भी स्वयं नियम पर चलना नहीं चाहते हैं। वे इड़ा को अपनी हृदयेश्वरी बनाना चाहते है। यहाँ पर उन्हें फिर विफलता प्राप्त होती है। प्रजा में असन्तोष की लहर व्याप्त हो जाती है और मनु से युद्ध होता है। मनु पराजित होकर घायल होते हें। उधर श्रद्धा स्वप्न में यह सब चरित्र देखती है और व्याकुल होकर अपने पुत्र के साथ मनु को खोजती हुई इड़ा के पास पहुँचती है। वहाँ मनु को घायल देख सेवा-सुश्रूषा करती है। मनु स्वस्थ होने पर उस वातावरण से मुक्त होने के लिए रात्रि में उस स्थान का परित्याग कर देते हे और सरस्वती के निकट की गुफा में रहने लगते है। श्रद्धा मनु को न पाकर अपने पुत्र को इड़ा को सौपती है और मनु की खोज में उसी स्थान पर पहुँच जाती है जहाँ पर मनु रह रहे थे। यहाँ पर श्रद्धा ने मनु को ईश्वररत पाया। मनु ने श्रद्धा को देखकर कहा कि "मुझे उन चरणों तक ले चलो।" श्रद्धा उन्हें मार्गप्रदर्शन करती हुई ऐसे स्थल तक ले जाती है जहाँ पर वे निराधार ठहरे जान पड़ते हैं। मनु इस रहस्य को जानना चाहते हैं। श्रद्धा उन्हें इच्छा, ज्ञान और क्रिया का रहस्य समझाती है।

इच्छा के लोक में माया अपने तन्तुओं से सबको परिवेष्टित किये हुए है जिसमें सुख और दुःख का चक्र अबाध गति से चलता रहता है। फिर वह मनु को श्याम देश का रहस्य बतलाती है। श्याम देश, कर्मलोक है, जो अन्धकार में लीन है। यहाँ क्षणभर भी विश्राम नहीं है। सारा समाज

मतवाला है। यहाँ पर शासक अपने आदेशों द्वारा भूखपीड़ितों पर अपना प्रभुत्व चलाते रहते हैं। इस आर्त्त एवं भीषण कर्म-रत जगत् को देखकर मनु उज्ज्वल प्रदेश के सम्बन्ध में श्रद्धा से प्रश्न करते हैं। श्रद्धा उनको बतलाती है कि यह ज्ञानक्षेत्र है जहाँ बुद्धिचक्र अबाध गति से चला करता है। यहाँ केवल मोक्ष मिलता है। आनन्द की प्राप्ति नहीं होती है। फिर श्रद्धा त्रिपुर की व्याख्या करके समझाती है कि यहाँ ज्ञान, इच्छा और कर्म सब पृथक्-पृथक् रहते हैं, फिर मन की इच्छा किस प्रकार पूर्ण हो सकती है। इसके पश्चात् श्रद्धा के मुख पर स्मितचिह्न प्रकट होते हैं और उसी समय समस्त विश्व में दिव्य अनाहत निनाद फैल जाता है जिसमें मनु और श्रद्धा लीन हो जाते हैं। इसके पश्चात् आनन्द भूमि के दर्शन होते हैं। वहाँ पर इड़ा भी कुमार के साथ पहुँचती है और देखती है कि मानव अपनी ही शक्ति से लहरें मारता हुआ आनन्दमय दिखलाई पड़ता है। उसे अपनी तुच्छता पर ग्लानि होती है कि उसे तनिक भी समझ नहीं। वह तो व्यर्थ में ही मनुष्य को भुलावे में डाले रहती है। अन्त में मनु हँसकर कैलाश की ओर संकेत करके कहता है कि यहाँ पर हम सब कुटुम्बी हैं, कोई पराया नहीं है। यहाँ पाप-ताप कुछ भी नहीं है। जीवन वसुन्धरा के समान सम है। यही समरसता, जिसमें ज्ञान, इच्छा और क्रिया समन्वित होते हैं, मानव के लिए कल्याणकारी होती है। समरसता ही इस काव्य का उद्देश्य है।

प्रसाद ने आमुख में स्वीकार किया है कि "यह आख्यान इतना प्राचीन है कि इतिहास में रूपक-क्रम का भी अद्भुत मिश्रण हो गया है। इसलिये मनु, श्रद्धा और इडा इत्यादि अपना ऐतिहासिक अस्तित्व रखते हुए सांकेतिक अर्थ की भी अभिव्यक्ति करें तो मुझे कोई आपत्ति नहीं।" मनु अर्थात् मन के दोनों पक्ष हृदय और मस्तिष्क का सम्बन्ध क्रमशः श्रद्धा और इड़ा से भी सरलता से लग जाता है। अतः हमें कामायनी के सांकेतिक रूप एवं रूपक पर विचार कर लेना उचित प्रतीत होता है।

सांकेतिक रूप—

मनु—अहं भावना से युक्त चेतना।
श्रद्धा और इड़ा—हृदय और बुद्धि की प्रतीक।
किलात-आकुलि—आसुरी प्रवृत्तियों के प्रतीक।
हिंसा-यज्ञ—पाप।
श्रद्धा का पशु—सहज जीव, आधुनिक अर्थ में अहिंसा का द्योतक।
वृषभ—धर्म का प्रतिनिधि।
सोमलता का सांकेतिक अर्थ—भोग।

सोमलता से आवृत्त वृषभ—भोगसंयुक्त धर्म जिसका उत्सर्ग कर मानव चिरानन्दलीन हो जाता है।

जल-प्लावन—माया।

मानस—मानसरोवर, समरसता।

कैलाश पर्वत—आनन्दमय कोष का प्रतीक।

रूपक का निर्वाह प्रायः ठीक उतरता है। जीव की दो शक्तियाँ हृदय और बुद्धि हैं। इनके द्वारा नाना प्रकार के कार्य होते रहते हैं। हृदयतत्त्व जब जीव के साथ संयोग करता है तब जीवनसत्य का पाठ पढ़ाकर कर्म की ओर अग्रसर करता है किन्तु कर्मक्षेत्र में मन आसुरी शक्तियों के संयोग से पतन की ओर जाने लगता है और मोहान्ध होकर श्रद्धाशक्ति को त्याग-कर बुद्धितत्त्व से सम्बन्ध स्थापित करता है। वहाँ पर वह पूरा भौतिक-वादी बन जाता है। फिर मन बुद्धि को अपने अधिकार में रखना चाहता है किन्तु बुद्धि इसे स्वीकार नहीं करती। सारी इन्द्रियाँ बिगड़ उठती हैं। इसका परिणाम भयंकर होता है और वह चेतनाशून्य हो जाता है। उसे बुद्धि-तत्त्व इड़ा से विश्वास उठ जाता है और पुनः श्रद्धा की ओर अग्रसर होता है। श्रद्धा उसे उच्च चक्रों पर चढ़ाती है। जब वह मनोमय कोश तक पहुँचता है तो उसे इच्छा, ज्ञान और क्रिया के क्षेत्र पृथक्-पृथक् दिखलाई पड़ते हैं। तत्त्वतः ये श्रद्धा के अंग हैं। विज्ञानमय कोश को पहुँचकर ये तीनों एकाकार होकर सारे नानात्व को एकत्व में लाने का प्रयत्न करते हैं। आनन्दमय कोश में पहुँचकर (स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण) शरीर की सारी अनेकता एकता में परिवर्तित हो जाती है। यही आनन्दमय कोश पिण्डाण्ड की चोटी कैलाश है जहाँ अखण्ड शान्ति रहती है, द्वैत का नाम नहीं। यहाँ मन समरसता की अवस्था में पहुँचकर पूर्णानन्द में लीन हो जाता है। यहीं पर कथा समाप्त हो जाती है, किन्तु इड़ा, कुमार और सारस्वतनिवासियों की कहानी अधूरी रह जाती है। यद्यपि इसका सहज सम्बन्ध मूल कथा से नहीं है फिर भी इसका सांकेतिक अर्थ स्पष्ट है। जब व्यक्ति भोगोन्मुख धर्म का समष्टि में उत्सर्ग कर देते हैं तो वे चिरानन्दलीन हो जाते हैं।

कथानक में कुछ विचित्रतायें भी हैं—

(अ) श्रद्धा का मनु के सम्मुख एकाएक उपस्थित होना एवं सहयोग देने के लिए निःसंकोच प्रस्ताव करना।

(ब) इस प्रस्ताव के लिए माता-पिता की कोई आवश्यकता नहीं समझी गई।

(स) मनु द्वारा श्रद्धा का आकस्मिक त्याग।

(द) सारस्वत प्रदेश में इड़ा का होना, अकस्मात् सारस्वत प्रदेश की समृद्धि (बहुजन सकुल और धन-धान्य पूर्ण होना) ।

ये विचित्रतायें रूपक-योजना के कारण ही प्रतीत होती है ।

चरित्र-चित्रण—कामायनी मे अधिक पात्र नही है । वे है मनु, श्रद्धा, इड़ा, मानव, असुर, पुरोहित, किलात और आकुलि । इनमें मनु, श्रद्धा और इड़ा प्रधान पात्र है और शेष गौण । पात्रों के चरित्र का विकास पूर्ण रूप से नहीं हुआ है । मनु का चरित्र भी अर्द्ध विकसित-सा है ।

मनु—तरुण तपस्वी-सा, दृढ अवयव वाला और शक्तिशाली है । किन्तु प्रलय के पश्चात् शान्ति पाने के लिए शोकाकुल है । वह अपना धैर्य नष्ट कर चुका है और एकाकीपन से भी व्याकुल है । श्रद्धा के सहयोग से उसे कुछ आश्वासन मिला ।

वह कर्मयोगी है किन्तु उसके कर्म की धारा दूसरी दिशा को प्रवाहित होती है । उसे हम वासना में रत एव मृगया मे मस्त देखते है । उसका पतन यहाँ तक हो जाता है कि अपने पालित पशु के प्यार को भी सहन नहीं कर सकता । वह माँसभक्षी भी है और साथ ही सुरा-सेवी भी । उसकी ये आसुरी प्रवृत्तियाँ यहाँ तक बढ़ जाती है कि श्रद्धा से भी कहता है कि–

"श्रद्धे ! पी लो इसे बुद्धि के बंधन को जो खोले"

वही तपस्वी मनु हिंसक वृत्ति वाला बन जाता है । वह ईर्ष्यालु भी है । वह श्रद्धा के प्यार को अपने मे ही केन्द्रित देखना चाहता है । अपनी भावी सन्तान के सुख के लिए श्रद्धा द्वारा एकत्र किये गए उपकरण भी उसे असह्य हो गए । इसे वह द्वैत भावना के अन्तर्गत मानता है । वह कहता है—

"यह द्वैत अरे यह द्विविधा तो है प्रेम बाँटने का प्रकार,
भिक्षुक मैं ? ना यह कभी नहीं मैं लौटा लूँगा निज विचार ।।"
भूले से कभी निहारोगी कर आकर्षणमय हास एक,
मायाविनि ! मैं न उसे लूँगा वरदान समझकर जानु टेक ।"

वह श्रद्धा पर एकच्छत्र अधिकार चाहता है । उसमें कोमल भावनाओं का अभाव है । उसे न तो उस गर्भवती श्रद्धा पर और न भावी सन्तान पर ही स्नेह है ।

वह अपनी धुन का पक्का है । जिस बात को करना चाहता है करता है, बाधाओं की किंचितमात्र भी चिन्ता नहीं करता । इसी के फलस्वरूप वह विलासी दिखलाई पड़ता है ।

मनु को हम प्रजापति के रूप में भी देखते हैं। वह ग्रस्त-व्यस्त राज्य को व्यवस्थित करने वाला, वर्ण-व्यवस्था स्थापित करने वाला, देश को समृद्धिशाली बनाने वाला एवं नियम-नियामक है किन्तु स्वयं नियमोपबद्ध रहना नहीं चाहता।

वह स्वेच्छाचारी है। उसे उचित-अनुचित का ध्यान नहीं है। इसी स्वेच्छाचारिता एवं निरंकुशता के कारण वह इड़ा से बलात्कार करना चाहता है। वह कहता है कि—

"मैं शासक मैं चिर स्वतन्त्र, तुम पर भी मेरा,
हो अधिकार असीम सफल हो जीवन मेरा।"

यह अनधिकारचेष्टा उसे पथभ्रष्ट करती है और वह प्रजा के कोप का भाजन बनता है।

वह त्यागी भी है। जब उसके हृदय में अपने कलुषित विचारों का भान होता है वह अपना मुँह छिपाने के लिए घर को त्याग देता है और अन्त में हम उसे आनन्दलीन पाते हैं। आज वही मनु शान्ति का दूत बना बैठा है जहाँ अपना-पराया कोई नहीं। सब एक है।

श्रद्धा—महाकाव्य की प्राण एवं स्फूर्तिप्रदायनी शक्ति है जो चिन्ताग्रस्त मनु को मंगलमय एवं कल्याणकारी पथ का पथिक बनाती है। उसमें नारी-सुलभ सभी गुण अनुराग, उदारता, धैर्य, क्षमा, वात्सल्य आदि विद्यमान है। उसका रूप मनोमोहक एवं व्यक्तित्व प्रभावशाली है। वह हताश मनु को उद्बोधित करती है कि—

"दुःख के डर से तुम अज्ञात जटिलताओं का कर अनुमान।
काम से झिझक रहे हो आज, भविष्यत् से बन कर अनजान॥"

वह साहसिन है और अपूर्व शक्ति-सम्पन्ना। मनु को प्रोत्साहित करती है और सस्नेह कहती है कि—

"अरे तुम इतने हुए अधीर।
हार बैठे जीवन का दाँव,
जीतते जिसको मर कर वीर।"

और उसे असहाय देखकर अपने को अर्पित कर देती है। इसमें काम-वासना की झलक नहीं है। उसका कथन—

"दया, माया, ममता लो आज,
मधुरिमा लो अगाध विश्वास।

हमारा हृदय रत्न निधि स्वच्छ,
तुम्हारे लिए खुला है पास ॥"

और अपने को समर्पित कर कहती है कि—

"इस अर्पण में कुछ और नहीं,
केवल उत्सर्ग छलकना है।
मैं दे दूँ और न फिर कुछ लूँ,
इतना ही सरल झलकना है ॥"

वह त्याग की मूर्ति है। उसे मनु की चिन्ता सताती है। जब मनु घायल हुआ वह उसकी सेवा के लिए तत्पर है। उसे मान-अपमान की चिन्ता नहीं। जब मनु फिर छोड़कर भाग जाता है तो उसे ढूँढकर उसका पथ-प्रदर्शन करती है। अन्त में मनु को कहना पड़ा कि—

"तुम देवि ! आह कितनी उदार।
यह मातृ-मूर्ति है निर्विकार ॥"

वह मृदुलता की प्रतिमूर्ति है। इसे तो उसके विपक्षी भी स्वीकार करते हैं। आकुलि उसे क्या समझता है उसी के शब्दों में सुनिये—

"आकुलि ने तब कहा, देखते, नहीं साथ में उसके।
एक मृदुलता की, ममता की छाया रहती हँस के ॥"

"अन्धकार को दूर भगाती वह,
आलोक किरन सी।
मेरी माया बिंध जाती है,
जिसके हलके धन सी ॥"

श्रद्धा प्रेम की प्रतिमा है। उसका प्रेम केवल मनु पर ही नहीं है, वरन् वह प्राणीमात्र से प्रेम करती है। जब मनु आखेट में मग्न हो जाता है तब वह उसे समझाती है और कहती है कि—

"औरों को हँसते देखो मनु, और सुख पावो।
अपने सुख को विस्तृत कर लो, सबको सुखी बनाओ ॥"

वह पूर्ण गृहणी है। वह गृह का संचालन स्वयं करती है। यहाँ तक कि तकली चलाती है, भावी सन्तान के लिए कुटी का निर्माण करती है और वस्त्र भी बुनती है। वह कहती है कि—

"झूले पर उसे झुलाऊँगी।
दुलरा करलूँगी वदन चूम ॥

मेरी छाती से लिपटा इस घाटी में।
लेगा सहज घूम ॥"

उसका मातृहृदय बोल उठता है—

"अपनी मीठी रसना से वह,
बोलेगा ऐसे मधुर बोल।
मेरी पीड़ा पर छिड़केगा जो कुसुम धूलि,
मकरन्द घोल ॥"

श्रद्धा निश्चय ही त्याग की मूर्ति है, क्योकि हम देखते है कि मनु उसे असहाय अवस्था में छोड़ देता है और दूसरी स्त्री को अपनाना चाहता है किन्तु वही श्रद्धा घायल मनु की सेवा करती है और अपने पुत्र कुमार को भी इड़ा को समर्पित कर देती है। मनु को भी अन्तिम लक्ष्य तक पहुँचाती है। आज मनु के हृदयोद्गार फूट निकलते है और वे कहते हैं—

"नारी तुम केवल श्रद्धा हो विश्वास रजत नग पातल में।
पीयूष स्रोत सी बहा करो जीवन के समतल हृदतल में ॥"

इस प्रकार उसका स्वरूप आदर्श भारतीय ललना से उठकर विश्व-हितैषिणी के रूप में देखा जाता है।

इड़ा—भौतिकवाद पर श्रद्धा रखने वाली, बुद्धिमती और तार्किक है। साथ ही सौन्दर्य से युक्त है। यह इड़ा का ही आकर्षण था जिसके कारण मनु फिर कर्म में रत हुआ। इड़ा जगत् की अपूर्णता पर क्षोभ एवं उसके रचयिता पर सन्देह एवं उपेक्षा के भाव रखती है। उसे अपनी बुद्धि का ही भरोसा है। उसे विज्ञान पर पूर्ण विश्वास है। वह कहती है—

"हाँ तुम ही हो अपने सहाय,
जो बुद्धि कहे उसको न मान कर।
फिर उसकी नर शरण जाय ॥
तुम जड़ता को चैतन्य करो,
विज्ञान सहज साधन उपाय।
यह अखिल लोक में रहे छाय ॥"

उसका स्वरूप बड़ा ही विचित्र है। उसे समझना सबका काम नहीं है क्योंकि वह—

"बिखरीं अलकें जो तर्क जाल,
वह विश्व मुकुट-सा उज्ज्वलतम,

शशिखण्ड सदृश था स्पष्ट भाल ,
दो पद्म पलाश चषक से दृग देते ,
अनुराग विराग ढाल ।।"

"गुञ्जरित मधुप से मुकुल सदृश, यह आनन जिसमें भरा राग ।
वक्षस्थल पर एकत्र धरे संसृति के सब विज्ञान-ज्ञान ।।"

इड़ा अपने धर्म की रक्षा करती है। जब मनु उसे अपनी हृदयेश्वरी बनाना चाहता है तो वह इसका घोर विरोध करती है किन्तु घायल होने पर उसकी देखभाल भी करती है। श्रद्धा के मिलन पर उसमें परिवर्तन हो जाता है और अन्त में हम उसे पूर्ण परिवर्तित स्वरूप में देखते हैं। उसका स्वरूप "गैरिक वसना सन्ध्या सी जिसके चुप थे सब कलरव" और श्रद्धा के चरणों में नत हुई देखी जाती है। वह श्रद्धा-पुत्र को स्वीकार कर मानवसृष्टि का विकास करती है।

प्रकृति-चित्रण—कामायनी का घटनाक्षेत्र गान्धार की पहाड़ियाँ, हिमालय के उच्च-शिखर, सरस्वती तट एवं सारस्वत प्रदेश से लेकर कैलाश पर्वत फैला हुआ है। यहाँ पर प्रकृति नाना स्वरूपों में दृष्टिगोचर होती है। प्रसाद ने प्रकृति को सजीव एवं स्पन्दनशील देखा है। अतः कामायनी मे वह अकेली नहीं चित्रित की गई है। वह पुरुष के साथ जानी-सी पहिचानी-सी प्रतीत होती है। दूसरे, कामायनी में प्रकृति स्वयं एक नायिका है जिसने मनु और श्रद्धा के जीवननिर्माण, उनके चरित्रविकास में योग दिया है। प्रसाद ने मानवी प्रकृति और मानवेतर प्रकृति में पूर्ण साम्य दिखलाया है और दोनों का उपमान और उपमेय का भी सम्बन्ध व्यक्त किया है। प्रथम सर्ग में मनु के समान ही प्रकृति दिखलाई पड़ती है—

'दूर दूर तक विस्तृत था हिम, स्तब्ध उसी के हृदय समान।
नीरवता सी शिला चरण से, टकराता फिरता पवमान ॥
उसी तपस्वी से लम्बे थे, देवदारु दो चार खड़े ;
हुए हिम-धवल जैसे पत्थर, बन कर ठिठुरे रहे खड़े ।"

प्रकृति का संश्लिष्ट-वर्णन —

'यात्री दल ने रुक देखा, मानस का दृश्य निराला ।
खग मृग को अति सुखदायक, छोटा सा जगत निराला ।।"
"मरकत की वेदी पर ज्यों, रक्खा हीरे का पानी ।
छोटा-सा मुकुर प्रकृति का, या सोई राका रानी ।।"

"खगकुल किलकार रहे थे, कलहंस कर रहे कलरव ;
किन्नरियाँ बनीं प्रतिध्वनि, लेती थीं तानें अभिनव ॥"

प्रकृति का भयंकर रूप— जिसमें जल-प्लावन का वर्णन है—

"उधर गरजतीं सिंधु लहरियाँ कुटिल काल के जालों सी ;
चली आ रहीं फेन उगलतीं, फन फैलाये व्यालों सी ॥"
"धँसती धरा, धधकती ज्वाला, ज्वाला-मुखियों के निश्वास ,
और संकुचित क्रमशः उसके, अवयव का होता था ह्रास ॥"

प्रकृति का मानवीकरण —प्रसाद ने प्रकृति में मानवीरूप के ही नहीं वरन् सुन्दर रूपक के आधार पर सुन्दर चित्र उपस्थित किया है—

"धीरे धीरे हिम-आच्छादन, हटने लगा धरातल से ।
जगीं वनस्पतियाँ अलसाईं, मुख धोतीं शीतल जल से ।
नेत्र निमीलन करती मानो प्रकृति, प्रबुद्ध लगी होने ।
जलधि लहरियों की अंगड़ाई, बार बार जाती सोने ॥"

प्रकृति का संवेदनात्मक स्वरूप—

"सन्ध्या नील सरोरुह से ,
जो श्याम पराग निखरते थे ;
शैल घाटियों के अंचल को ,
वे धीरे से भरते थे ।
तृण-गुल्मों से रोमांचित नग सुनते,
उस दुःख की गाथा ;
श्रद्धा की सूनी साँसों से मिलकर,
जो स्वर भरते थे ॥"

प्रकृति श्रद्धा को दुःखी देखकर प्रकृति के कार्यकलाप भी उसी प्रकार चल रहे हैं कि जिससे श्रद्धा के हृदय में वेदना तीव्र न हो उठे । इसी हेतु पद्मपराग भी चुपचाप अपना कार्य कर रहे थे । यही नहीं, दुःखी श्रद्धा के स्वर में स्वर मिलाकर वृक्षों की सनसनाहट सहानुभूति स्वरूप ही निकल रही थी ।

प्रकृति का उद्दीपन स्वरूप—राका-रजनी मधुर भीनी माधवी की गन्ध अपना प्रभाव तो छोड़ती ही है ।

"देवदारु निकुंज गह्वर सब सुधा में स्नात,
सब मनाते एक उत्सव जागरण की रात ।
आ रही थी मदिर भीनी माधवी की गंध,
पवन के घन घिरे पड़ते थे बने मधु अंध ॥"

प्रकृति में रहस्यात्मक भावनायें—प्रकृति का सुन्दर चित्रण तो है ही, उसके साथ रहस्यात्मक भावनाओं का उद्घाटन भी किया गया है—

"सिर नीचा कर सबकी सत्ता सब करते स्वीकार यहां,
सदा मौन हो प्रवचन करते जिसका वह अस्तित्व कहां।
हे विराट् हे विश्वदेव ! तुम कुछ हो ऐसा होता भान,
मन्द गंभीर धीर स्वर संयुत यही कर रहा सागर गान।।"

रस और भाव—प्रसाद काव्य को कवि की सकल्पात्मक अनुभूति मानते हैं, इसके द्वारा जिस आनन्द की प्राप्ति होती है वही रस है। इस प्रकार प्रसाद के काव्य मे रस-निरूपण के नाम पर अधिक नही मिलेगा, हां कही-कही पर एक-दो स्थल ढूंढे जा सकते हैं। मनु चिन्ताकुल हैं। श्रद्धा के दर्शन से उसमें परिवर्तन होता है और वे एक दूसरे के प्रति आकर्षित होते हैं। अनुभावों द्वारा उनके रति भाव प्रकट होते हैं। देखिये—

"गिर रहीं पलकें झुकी थी नासिका की नोक।
भ्रू-लता थी कान तक चढ़ती रही बेरोक।।
स्पर्श करने लगी लज्जा ललित कर्ण कपोल।
खिला पुलक कदम्ब सा था भरा गद् गद् बोल।।"

अन्त में वे लज्जा को हटाकर सम्भोग शृंगार मे लीन देखे जाते हैं।

"कुचल उठा आनन्द यही है बाधा, दूर हटाओ;
अपने ही अनुकूल सुखों को मिलने दो मिल जाओ।
और एक फिर व्याकुल चुम्बन रक्त खौलता जिससे,
शीतल प्राण धधक उठता है तृषा तृप्ति के मिस से।।"

वियोग-शृंगार—इस रस का परिपाक सुन्दर हुआ है। जब मनु कामायनी को त्याग देते है उस समय कामायनी की विरह-वेदना में कितनी स्वाभाविकता आ जाती है। वह अपने को भूल-सी जाती है और जड़-चेतन का ध्यान न करती हुई मन्दाकिनी से प्रश्न करती है कि—

"जीवन में सुख अधिक या कि दुःख,
मन्दाकिनि कुछ बोलोगी ?
नभ में नखत अधिक, सागर में, या
बुदबुद हैं गिन दोगी ?
प्रतिबिम्बित हैं तारा तुममें सिन्धु,
मिलन को जाती हो।
या दो प्रतिबिम्ब एक के,
इस रहस्य को खोलोगी।।"

यह दुःख केवल उसी का दुःख ही नहीं रह गया बल्कि मानवमात्र का दुःख हो गया है। वियोगावस्था में प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में इसी प्रकार के भाव उठा करते हैं। आज वही दशा कामायनी की है। उसे अपनी विगत सुखद स्मृतियाँ एक-एक करके सम्मुख आती हैं और नाना प्रकार के तर्क उपस्थित करती है—

"वे आलिंगन एक पाश थे, स्मित चपला थी आज कहाँ?
और मधुर विश्वास! अरे वह पागल मन का मोह रहा।
वंचित जीवन बना समर्पण यह अभिमान अकिंचन का,
कभी दे दिया था कुछ मैंने ऐसा अब अनुमान रहा॥"

किन्तु वह अपने मन को भी किसी प्रकार समझाती है और कहती है—

"विनिमय प्राणों का यह कितना भय संकुल व्यापार अरे!
देना हो जितना दे दे तू, लेना! कोई यह न करे!
परिवर्तन की तुच्छ प्रतीक्षा पूरी भी न हो सकती,
संध्या रवि देकर पाती है इधर उधर उडुगन बिखरे।"

कामायनी मनु की खोज में तल्लीन है। उसे इस बात की चिन्ता नहीं है कि रात्रि है या दिन। वह तो कभी हवा से बातें करती है और कभी अपने को दोषी ठहराती है कि उसी की भूलों के कारण मनु का उससे पृथकत्व हुआ। इसी विचारधारा में कह उठती है कि—

"अरे बता दो मुझे दया कर कहाँ प्रवासी है मेरा?
उसी बावले से मिलने को डाल रही हूँ मैं फेरा॥"

अब उसे अपनी भूलों की स्मृति होती है और उन्हें स्वीकार करती है। वह कहती है—

"रूठ गया था अपनेपन से अपना सकी न उसको मैं,
वह तो मेरा अपना ही था भला मनाती किसको मैं।
यही भूल अब शूल सदृश हो साल रही उर में मेरे,
कैसे पाऊँगी उनको मैं कोई आकर कह दे रे॥"

करुणा—मनु चिन्ताशील है। वह प्रलय के पूर्व की घटनाओं पर ध्यान देता है और चिन्ता प्रकट करता है। वह कहता है—

"अरे अमरता के चमकीले पुतलो! तेरे वे जयनाद,
काँप रहे हैं आज प्रतिध्वनि बन कर मानो दीन विषाद।"

इस पद में शोक स्थायीभाव है। करुण रस की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है।

वात्सल्य रस—यद्यपि इसकी अभिव्यक्ति कम हुई है किन्तु जो भी हुई है वह सुन्दर है। देखिये—

"माँ, फिर एक किलक दूरागत गूँज उठी कुटिया सूनी,
माँ उठ दौड़ी भरे हृदय में लेकर उत्कण्ठा दूनी;
लुटरी खुली अलक रज-धूसर बाहें आकर लिपट गईं,
निशा तापसी की जलने को धधक उठी बुझती धूनी।"

वीर रस—संघर्ष सर्ग में सारस्वत प्रदेश की प्रजा मनु पर आक्रमण कर देती है। उनके नेता किलात और आकुलि हैं। मनु वीरता से उसका प्रतिकार करता है। वीर रस का एक उदाहरण देखिये—

"छूट चल नाराच धनुष से तीक्ष्ण नुकीले,
टूट रहे नभ धूमकेतु अति नीले पीले।"

❀ ❀ ❀

"कायर तुम दोनों ने ही उत्पात मचाया,
अरे समझ कर जिनको अपना था अपनाया।
तो फिर आओ देखो कैसे होती है बलि,
रण यह यज्ञ पुरोहित ! ओ किलात ओ आकुलि।
और धराशायी थे असुर पुरोहित उस क्षण,
इड़ा अभी कहती जाती थी "बस रोको रण।"

भाषा-शैली—प्रसाद जी का भाषा को सुष्ठ बनाने का प्रयत्न प्रारम्भ से ही रहा है। कामायनी में पहुँचकर भाषा प्रौढ़ता को प्राप्त हुई। कामायनी की भाषा संस्कृत के तत्सम शब्दों से ओत-प्रोत है। यद्यपि कहीं-कहीं पर भाषा विनष्ट हो गई है किन्तु धारा-प्रवाह में किसी प्रकार की बाधा नहीं उत्पन्न हुई। भाषा पर प्रसाद जी का पूर्ण आधिपत्य है। वह उनके संकेत पर चलती दिखाई पड़ती है। देखिये—

"घिर रहे थे घुँघराले बाल,
उस अवलम्बित मुख के पास।
नील घन शावक से सुकुमार,
सुधा भरने को विधु के पास।"

उन्होंने भाषा में शब्दों के साथ खिलवाड़ नहीं किया है और न केशव की तरह से पाण्डित्यप्रदर्शन। उनका शब्दचयन महत्त्वपूर्ण एवं अद्वितीय है। उन्होंने अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना शक्ति का पूर्ण उपयोग किया है। आपकी भाषा भावानुकूल है।

"कंकण क्वणित, रणित नूपुर थे,
हिलते थे छाती पर हार।
मुखरित था कलरव गीतों में,
स्वर लय का होता अभिसार॥"

कामायनी में लाक्षणिक प्रयोग भी बड़ी सफलता से किये हैं—

"हे अभाव की चपल बालिके, री ललाट की खल लेख।
हरी भरी सी दौड़ धूप ओ जल माया की चल रेख॥"

आपकी भाषा में माधुर्य और प्रसाद गुण पूर्ण रूप से मिलता है। शैली-भाषा प्रत्येक व्यक्ति के साथ परिवर्तित होती है क्योंकि उसमें उसके व्यक्तित्व की स्पष्ट छाप रहती है और उसी के द्वारा कलाकार की पहिचान होती है। प्रसाद की शैली में विभिन्न विशेषतायें है। प्रत्येक का उद्धरण देखिये—

(अ) "उनकी शैली में अभिव्यंजनापद्धति पर शब्दचित्र बडी सफलतापूर्वक उपस्थित किये गये है —

"अरी आँधियो! ओ बिजली की दिवा-रात्रि तेरा नर्तन।
उसी वासना की उपासना, वह तेरा प्रत्यावर्तन॥'

बिजली द्वारा उपस्थित शब्दचित्र कितना उपयुक्त प्रयुक्त हुआ है जिसमें क्षणिक प्रकाश एवं अन्धकार उपस्थित होता रहता है और उसमें नृत्य की तरह से गति भी होती है।

(ब) प्रस्तुत के स्थान पर अप्रस्तुत का प्रतीक द्वारा प्रयोग—

"मुझे काँटे ही मिले धन्य, हो सफल तुम्हें ही कुसुमकुंज।"

काँटे और कुसुम दुःख और सुख के प्रतीक है।

(स) मानवीकरण—

"मृत्यु अरी चिर निद्रे! तेरा अंक हिमानी सा शीतल।"

(द) विशेषण-विपर्यय का प्रयोग—

"कायरता के अलस विषाद।"

अलस विषाद का विशेषण नहीं, बल्कि जीवन का विशेषण है।

(य) प्राय: कविगण अन्योक्तियों द्वारा अपने भाव व्यक्त करते थे। लाक्षणिक प्रयोगों का अभाव था, उसकी पूर्ति प्रसाद ने कामायनी में की है। एक लाक्षणिक प्रयोग देखिये—

"मधुमय वसंत जीवन बन के, वह अन्तरिक्ष की लहरों में,
कल आये थे तुम चुपके से, रजनी के पिछले पहरों में।

क्या तुम्हें देख कर आते यों मतवाली कोयल बोली थी,
उस नीरवता में अलसाई कलियों ने आँखें खोली थीं ॥"

प्रसाद मधुमय वसन्त का वर्णन कर रहे हैं किन्तु लाक्षणिक प्रयोग द्वारा यौवन के प्रारम्भ का वर्णन ही किया है।

(क) इसके अतिरिक्त आपने प्रायः प्रकृति-सौन्दर्य-भावना पर स्त्री-सौन्दर्य का आरोप किया है—

"पगली हाँ सम्हाल ले कैसे, छूट पड़ा तेरा अंचल,
देख, बिगड़ती है मणिराजी अरी उठा बेसुध चंचल।
फटा हुआ था नील वसन क्या ओ यौवन की मतवाली,
देख अकिंचन जगत लूटता तेरी छवि भोली भाली ॥"

आपकी शैली की यह भी विशेषता है कि काव्यभर में मुहावरे रत्नों की तरह से बिखरे पड़े हैं जिसके कारण भाषा में प्रवाह आ गया है—

"हार बैठे जीवन का दाँव जीतते जिसको मर कर जीव।"

❀ ❀ ❀

"कानों के कान खोल करके सुनती थी कोई ध्वनि गहरी।"

❀ ❀ ❀

"काम के सन्देश से ही भर रहे थे कान।"

इस प्रकार संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि आपकी शैली प्रवाहपूर्ण, प्रभावशालिनी और सम्वेदनशील है। चित्रोपमता उनकी शैली का एक विशेष गुण है, अलंकारों का भी प्रयोग हुआ है, विशेषकर अनुप्रास, उपमा, उत्प्रेक्षा, नवीन अंग्रेज़ी ढंग के अलंकार जिनका विवेचन ऊपर हो चुका है जैसे—मानवीकरण,विशेषण-विपर्यय आदि।

छन्दयोजना के अन्तर्गत प्राचीन एवं नवीन पद्धतियों का अनुकरण किया गया है। प्राचीन पद्धति के छन्दों में ताटंक, पादाकुल, रूपमाला, सार, रोला आदि हैं।

वासना सर्ग में उपमान छन्द की तरह २३ मात्राओं का छन्द प्रयुक्त हुआ है, किन्तु वह उपमान छन्द से भिन्न है क्योंकि उपमान में भी २३ मात्रायें होती हैं और अन्त में दो गुरु।

चिन्ता में वीर छन्द ३१ मात्राओं का, आशा, स्वप्न और निर्वेद सर्गों में ताटंक छन्द ३० मात्राओं वाला, ईर्ष्या, श्रद्धा में पद्धरि छन्द १३+१६=२६ मात्राओं वाला प्रयुक्त हुआ है किन्तु कुछ अन्तर है। इसे शृंगार भी कहते हैं। काम और लज्जा सर्ग में पादाकुलक १६+१६ मात्राओं वाला, कर्म

सर्ग में सार छन्द १६+१२ मात्रा अन्त में २ गुरु का प्रयोग हुआ है, संघर्ष में रोला छन्द ११+१३=२४ मात्राओं का छन्द प्रयुक्त हुआ है। इड़ा में गेय पदों का प्रयोग हुआ है।

कामायनी की भाषा व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध नहीं हो सकी है। कवि ने व्याकरण की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया है, इससे लिंगदोष अधिक है। देखिये—

(अ) "तुहिन कणों, फेनिल लहरों में मच जावेगी फिर अन्धेर।"
मच जावेगा होना चाहिये।

(ब) 'आँख बन्द कर लिया क्षोभ से"
आँख बन्द कर ली होना चाहिये।

(स) "स्वांस लिया"
स्वांस ली होना चाहिये।

कामायनी का अन्तर्द्वन्द्व—कामायनी में नारी-पुरुष, भौतिकवाद और देव-दानव, अधिकारी-अधिकृत शासक और शासित का अन्तर्द्वन्द्व देखा जाता है। ये विद्रोही भावनाएं पराकाष्ठा को पहुँच चुकी हैं। प्रसाद जी ने इन समस्याओं पर कुछ विवेचन किया है। आदिकाल से ही नारी-पुरुष सम्बन्ध एक समस्या बना हुआ है। मनु की स्वतन्त्र प्रकृति किसी सीमा में आबद्ध नहीं रहना चाहती। उसमें तेज है और कर्मठता। यही तेज और कर्मठता उसके अन्तर्द्वन्द्व का कारण है। इसी के कारण वह श्रद्धा पर एकाधिकार पाना चाहता था। उसे यह सह्य नहीं कि श्रद्धा का मन उसकी ओर से यत्किंचित् भी हटकर अपने पुत्र अथवा मृग-शावक की ओर चला जावे। इस अन्तर्द्वन्द्व में वह समन्वय स्थापित न कर सका। इसीलिए उसे भागना पड़ा। यही स्थिति इडा के सम्बन्ध में भी है। वहाँ भी इड़ा की अनिच्छा और अपने बलवान् आकर्षण में वह समन्वय स्थापित न कर सका। यह अनीति और लोभ का अन्तर्द्वन्द्व था; जिसमें वह फिर पराजित होता है और विप्लव का कारण बनता है।

शासक और शासित का द्वन्द्व भी चलता है। जब शासक स्वेच्छाचारी हो जाता है तब प्रजा उसके आचार-विचार को सहन नहीं करती और दण्ड देने पर कटिबद्ध हो जाती है। इसका परिणाम होता है द्वन्द्व। शासन में अव्यवस्था अथवा स्वेच्छाचारिता प्रकृति के संक्षोभ का कारण है। विप्लव की यह भावना आधुनिक क्रान्ति युग की देन है क्योंकि प्रजा द्वारा विप्लव मुगल काल से पीछे नहीं ले जाया जा सकता।

कामायनी मे दो क्षेत्र स्पष्ट है। एक तो मानव भावनाओं का क्षेत्र जो मनु को श्रद्धा के साहचर्य से प्राप्त होता है। दूसरा भौतिकता का क्षेत्र, जो इड़ा के संयोग से प्राप्त होता है। एकान्त मानव भावनाओं का क्षेत्र मानव की कर्मठता को तृप्त नहीं होने देता और एकान्त भौतिक कर्मठता का क्षेत्र उसकी भावनाओं की प्यास बुझने नहीं देता। अतएव दोनों स्थलो पर मनु का विद्रोह अथवा मानव का विद्रोह दिखलाई पड़ता है। कामायनी का यही मूल उद्देश्य है और इसीलिए भौतिक जगत् और मानव जगत् की समन्वय की प्रवृत्ति को मनु की अन्तिम घटना के द्वारा कामायनीकार कहना चाहता है।

कामायनी की पृष्ठभूमि देव-सृष्टि का ध्वंस है और कामायनी की रचनात्मक सृष्टि मानव-सृष्टि का विकास है। देव-सृष्टि के ध्वंस पर मानव-सृष्टि का प्रासाद खड़ा किया गया है। किलात और आकुलि असुर-पुरोहित है। इन पुरोहितों का काम केवल पशु-यज्ञों की बलि की प्रेरणा देना है। हमें इस विचार में तारतम्यता नहीं दिखलाई देती है। देवों का विश्वासमय चित्र प्रसाद की अपनी कल्पना है और उसके द्वारा जो देवचरित पतित हुआ है वह ध्वंस के लिए उपयुक्त है परन्तु सम्भवतः प्रसाद के ये देवता मरणधर्मा प्राणी-विशेष है।

इन प्राणी-विशेपों का विलास भौतिकवाद की ओर संकेत करता है। हमें आश्चर्य है कि मनुष्य की उत्पत्ति से पहिले ही यह कौन से प्राणी थे जिनका जीवन ऐसा भौतिक हो गया था जो इतने विलासी थे। उन्हें देव न कहकर पुराणवर्णित मनुष्य ही कहा गया होता तो इस कल्पना में अधिक स्वाभाविकता उत्पन्न हो जाती।

आसुर-संस्कृति का प्रतिनिधित्व करने वाले किलात-आकुलि कौन थे? यह कहाँ से आये? पशुयज्ञो के अतिरिक्त उनकी संस्कृति की अन्य विशेषतायें क्या थीं? इसका कुछ परिचय कामायनी से नहीं मिलता। सम्भव है कि प्रसाद का कुछ मंतव्य रहा हो जिसका परिणाम प्रजाविद्रोह में किलात-आकुलि के हाथ से होता हुआ दिखाई पड़ा है। फिर भी आश्चर्य यह रह जाता है कि देवसृष्टि के ध्वंस के पश्चात् इस असुरसृष्टि का क्या हुआ?

मानव संस्कृति की प्रथम व्यवस्था करने वाला मनु व्यवस्था तो करता है परन्तु वह व्यवस्था क्या है इसका दर्शन कामायनी में नहीं मिलता है और यदि कुछ मिलता भी है तो अत्यन्त अस्पष्ट। इस दृष्टि में कामायनी में शैथिल्य प्रत्येक स्थल पर है।

मनोविकारों के विकास का क्रम एवं मानवीय इतिहास का क्रमिक विकास

कामायनी में मानवजीवन का क्रमिक विकास निहित है। मानव जब चिन्ताग्रस्त होता है उस समय उसमें नाना प्रकार के संकल्प-विकल्प उठते हैं। इसी के मध्य में उसमें आशा का संचार होने लगता है और मनुष्य श्रद्धा द्वारा अपना मार्ग प्रशस्त करता है किन्तु मायाजाल एवं काम-वासना में फँसकर वह अपना ध्येय भूल जाता है। उसे लज्जा प्रतीत होती है तथा विश्व की यथार्थता का भान होने लगता है। वह शान्ति पाने के लिए प्रयत्नशील होता है और अन्त में उसे आनन्द प्राप्त होता है। कामायनी में इन्हीं मनोविकारों का सुन्दर विश्लेषण हुआ है। मनु इन मनोविकारों का ही शिकार हुआ था। वह प्रलय के पश्चात् अपनी दशा पर चिन्तित है, धीरे-धीरे उसमें आशा का प्रादुर्भाव होता है फिर उसमें काम-वासना एवं ईर्ष्या का संचार होने लगता है और बुद्धि के प्रभाव से संघर्ष उत्पन्न होता है और अन्त में उसे आनन्द प्राप्त होता है। यही पद-क्रम आज मनु की सन्तान मानव भी कर रहा है। मानसिक विकास के क्रम में कामायनीकार ने मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि पर ध्यान नहीं दिया।

मानसिक चेतना के विकास में सांख्य दर्शन का मत है कि अव्यक्त प्रकृति से महत् तत्त्व का उदय होता है। महत्तत्त्व का ही दूसरा नाम बुद्धि है। महत्तत्व से अहंकार का उदय होता है और अहंकार से पञ्च तन्मात्राओं, मन सहित इन्द्रियों का उदय होता है।

आज का मनोवैज्ञानिक भी इससे सहमत है। बालक में सबसे पहिले शुद्ध चेतना (मियर कान्शसनेस) उत्पन्न होती है। यह शुद्ध चेतना ही महत्तत्त्व का गुण बुद्धि है। यह शुद्ध चेतना प्रत्यक्ष (परसेप्शन) के सहारे शरीराभिमानी अहं का बोध उत्पन्न करती है। यही महत्तत्व का विकार अहंकार है। शुद्ध चेतना और शरीराभिमान के सहारे मानवीय चेतना अपना विस्तार प्रारम्भ कर देती है। बालकों में चिन्ता उत्पन्न नहीं होती, उनमें कुतूहल, जिज्ञासा, भय आदि स्वयंभू मनोवृत्तियाँ, जो उक्त दोनों (बाडी, सेल्फ ऐण्ड कान्शेसनेस) के सहारे उत्पन्न होती हैं, काम करती रहती है।

कैशोर काल में इन्हीं स्वयंभू मनोवृत्तियों (इन्सटिंक्ट) के सहारे अहं का बोध होता है। इस अहंबोध के साथ ही लिंग-चेतना (सेक्स-इन्सटिंक्ट) का जन्म होता है।

इस प्रकार हम देखते है कि काम-वासना का उदय चिन्ता अथवा आशा से नहीं होता, वरन् अहबोध से होता है। उस समय उत्पन्न होने वाला राग अपने लिए सहचर चुनने की ओर चेतना को प्रवृत्त करने लगता है, तब श्रद्धा, प्रेम, प्रणय, सौहार्द्र अथवा भक्ति चाहे जो कुछ कहिये चेतना के सम्मुख आते है। कामायनीकार ने मानसिक विकास की इस मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि पर ध्यान नही दिया।

वादों का प्रभाव—

(अ) गान्धीवाद का प्रभाव—कामायनी मे अहिंसा और ग्रामोद्योग का प्रतिपादन किया गया है। श्रद्धा के वचन अहिंसा के द्योतक है—

"ये प्राणी जो बचे हुए हैं इस अचला जगती के,
उनके कुछ अधिकार नहीं क्या वे सब ही हैं फीके ?"

❀ ❀ ❀

"मनु क्या यही तुम्हारी होगी उज्ज्वल मानवता,
जिसमें सब कुछ ले लेना हो हंत ! बची क्या शवता।"

❀ ❀ ❀

"औरों को हँसते देखो मनु हँसो और सुख पाओ,
अपने सुख को विस्तृत कर लो, सबको सुखी बनाओ।"

(ब) श्रद्धा की तकली, जो गान्धीवाद की आर्थिक योजना की प्रतीक है, ग्रामोद्योग की प्रथम सोपान है—

"हाथों में तकली रही घूम"
"यह क्यों बुनने का श्रम सखेद ?"

से ज्ञात होता है कि वह वस्त्र भी बुनती है। इस प्रकार हम कह सकते है कि प्रसाद अहिंसा के प्रचारक एवं ग्रामोद्योग के लिए तकली द्वारा सूत कातने और कपडा बुनने के प्रबल समर्थक थे।

(स) साम्राज्यवादी व्यवस्था पर लोकतन्त्र की विजय, गान्धीवाद की राजनीतिक योजना का मुख्य ध्येय है और सारस्वत प्रदेश में बलिदान की भावना भारतीयों के बलिदान की भावना स्पष्ट रूप से निहित है।

(द) गान्धीवाद मशीनो का विरोधी है। कामायनी में भी मशीनों का विरोध किया गया है क्योकि इसके द्वारा मानव की नैसर्गिक शक्ति का ह्रास होता है और वे शोषित बना दिये जाते है। प्रसाद विज्ञानप्रधान प्रगति नहीं चाहते थे, बल्कि विज्ञानी-प्रगतिवादी थे। इसकी पुष्टि प्रज्ञा के उत्तर से होती है—

"प्रकृति शक्ति तुमने यन्त्रों से सब छीनी,
शोषण कर जीवनी बना दी जर्जर झीनी।"

विज्ञान का प्रभाव—

(य) वैज्ञानिक युग में होने के कारण उनके इस साहित्य मे अप्रत्यक्ष रूप से विज्ञान का समावेश हो ही गया है जैसे अणु का प्रयोग, जिसका अभी दस सालों के भीतर ही प्रचार हुआ है। अणु में जीवनशक्ति होती है और जब जीवनशक्ति नष्ट हो जाती है तब प्रलय हो जाता है। अणु से जीवनशक्ति कैसे नष्ट हो सकती है अथवा नहीं यह वैज्ञानिकों का कार्य है। कवि तो केवल यही कह सकता है—

"धू-धू करता नाच रहा था अनस्तित्व का ताण्डव नृत्य,
आकर्षण विहीन विद्युत्कण बने भारवाही थे भृत्य॥"

लेकिन यही विद्युत्कण हमें शक्तिशाली भी बनाते हैं।

"शक्ति के विद्युत्कण जो व्यस्त विकल बिखरे हैं निरुपाय,
समन्वय उसका करे समस्त विजयिनी मानवता हो जाय।"

❀ ❀ ❀

"अणुओं को है विश्राम कहाँ यह कृतिमय वेग भरा कितना,
अविराम नाचता कम्पन है उल्लास सजीव हुआ कितना।"

यह वैज्ञानिक तथ्य प्रसाद अपने काव्य में रख सके है। योग्यतम जीवित रहें (सरवाइवेल आफ दि फिटेस्ट) का भी समर्थन कामायनी मे मिलता है—

"स्पर्धा में जो उत्तम ठहरें वे रह जावें,
संसृति का कल्याण करें शुभ मार्ग बतावें।"

समन्वयवाद—

(फ) कामायनी में समन्वय की भावना स्थल-स्थल पर दृष्टिगोचर होती है। प्रसाद जी ने इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया का समन्वय कराके समरसता का प्रचार किया। दूसरे, इड़ा और श्रद्धाकुमार का परिणय कराके श्रद्धा (भावना) और ज्ञान के समन्वय का संकेत कराया। तीसरे, प्रजापति और प्रजा में जब संघर्ष होता है तब भोगसंयुक्त धर्म का उत्सर्ग करने पर मानव चिरानन्दलीन हो जाता है। प्रसाद ने सोमलता से आवृत वृषभ, जो भोगयुक्त धर्म का प्रतिनिधित्व करता है, उसका परित्याग कराके समन्वय स्थापित कराया। चौथे, नारीचरित्र में भारतीय भावना की प्रतीक श्रद्धा और वैज्ञानिक विकास की प्रतीक इड़ा दोनों का समन्वय कराया। इस प्रकार समन्वय की भावना तुलसीदास के पश्चात् प्रसाद के काव्य कामायनी में ही देखी जाती है।

नूरजहाँ

काव्य-सम्पत्ति—नूरजहाँ अपने ढंग का अनोखा महाकाव्य है जो गुरुभक्त-सिंह 'भक्त' द्वारा रचित हिन्दी-साहित्य को प्राप्त हुआ है। यह काव्य १८ सर्गो में प्राप्त हुआ है। इसमें मुगल-साम्राज्ञी नूरजहाँ का चरित्र प्रस्तुत किया गया है। इसकी कथा प्रख्यात है जिसका आधार इतिहास (मुगल शासनकाल) है। इसमे महाकाव्य के समस्त अवयवो का उचित समीकरण हुआ है क्योंकि न तो इसमें घटनाओं का अभाव है और न वर्णनों की कमी। इस काव्य का नायक सलीम (जहाँगीर) है जो धीरललित प्रकृति का है और नायिका नूरजहाँ है जिसमें नारी-सुलभ सभी विशेषतायें पूर्ण रूप से अक्षुण्ण हैं। शृंगार रस का तो प्रवाह पूर्ण काव्य में प्रवाहित है, उसके साथ ही करुण, हास्य, रौद्र, वीर, भयानक और वात्सल्य रस का भी यथावसर अंकन किया गया है। नाट्य सन्धियों का पूर्ण निर्वाह हुआ है और कथोपकथन सजीव एवं मार्मिक है। कथोपकथनों में गयास और उसकी बेगम, मेहर और सर्वसुन्दरी, मेहर और जमीला, सलीम और मेहर के कथोपकथन प्रमुख हैं। नाना प्रकार के छन्दों का भी विधान है। इसमें प्रकृति का मनोमुग्धकारी वर्णन हुआ है। यह सामाजिक एवं राजनैतिक विषयो से परिपूर्ण है। साथ ही आध्यात्मिक बातों का अच्छा विश्लेषण, स्त्रियों के घात-प्रतिघात तथा मनोभावों का संघर्ष, मुस्लिम-संस्कृति का चित्रण एवं कठमुल्लाओं के विचारों का पूर्ण उल्लेख हुआ है। अतः यह महाकाव्य कहलाने का पूर्ण अधिकारी है। किन्तु इस काव्य मे दो बातें त्रिशंकु की तरह पड़ी हुई हैं जिनके कारण इसे भारतीय साहित्य-जगत् में उच्च स्थान नहीं दिया जा सकता—

(क) क्योंकि अविवाहिता मेहर का सलीम द्वारा आलिंगन एवं चुम्बन जो भारतीय परम्परा के लिए न तो मान्य ही है और न उपयोगी ही।

(ख) क्योंकि लेखक पतिघातक सलीम से पुनः सम्पर्क स्थापित कराकर मेहर को स्त्री-पद से च्युत करके उसकी कठपुतली बना देता है जिससे नारी-जगत् कलंकित होता है।

कथानक—यह काव्य इतिहासप्रसिद्ध साम्राज्ञी नूरजहाँ पर लिखा गया है। कथानक इस प्रकार है—

गयास ईरान देश का अभिजात्य सर्दार था। वह अपनी निर्धनता से व्याकुल होकर सपत्नीक ईरान से 'अलविदा' करता है और काफिले के साथ भारतवर्ष के लिये चल पड़ता है। मार्ग में बेगम-कन्या प्रसव करती है जिसे

दम्पति यों ही छोड़ देना उचित समझते हैं और कन्धार को चल पड़ते हैं। दैवयोग से वह कन्या एक सर्दार को प्राप्त होती है और संयोगवश इन्हीं लोगों को पुनः प्राप्त हो जाती है। आगरा पहुँचने पर गयास को एक पद मिल जाता है और वहीं पर इस बालिका का लालन-पालन होता है। इधर अकबर महान् का पुत्र सलीम किशोर होता है और अनारकली युवती नर्तकी के नृत्य-प्रदर्शन पर मुग्ध होता है। वह उसे पकड़कर चुम्बन करता है और अकबर के उपस्थित होने पर एक-दूसरे से पृथक् होते हैं। अकबर अनार को कारावास का दण्ड देता है और कारावास में अकबर स्वयं अनारकली को अपनाना चाहता है किन्तु इसके विपरीत अनारकली को पाने पर उसे देश-निकाला का दण्ड घोषित करता है। इधर सलीम अनारकली को वन में पाकर सुदूरपूर्व जाने के लिए प्रस्तुत होता है किन्तु यह प्रस्ताव अनारकली को स्वीकृत न हुआ। अतः उसने विष-पान करके अपने प्रिय की गोद में ही प्राणोत्सर्ग कर दिये। सलीम उसी शव को लेकर लाहौर में उसकी समाधि निर्माण कराता है। इधर मेहर अपने यौवन के विकास पर है। संयोगवश एक दिवस पुष्प-चयन करते हुये उसका हाथ रक्तरंजित हो गया। सलीम की दृष्टि उस पर पड़ी और उसने अपने कपोत उसे देकर कपड़ा बाँध दिया और स्वयं पुष्पचयन करने के लिए चला गया। उनमें से एक कबूतर फड़फड़ाकर उड़ गया। सलीम ने अपनी वापसी पर कबूतर के उड़ जाने का कारण पूछा। मेहर ने दूसरा कबूतर भी उड़ाकर बताया कि इस प्रकार पहला कबूतर उड़ गया था। इस भोलेपन पर सलीम लट्टू हो जाता है और उसका चुम्बन ले लेता है। इसी समय किसी के आने की आहट से दोनों पृथक् पृथक् हो जाते हैं।

जमीला, जो एक अमीर की पुत्री थी, सलीम को अपना पति बनाना चाहती है और अकबर द्वारा मेहर से सलीम को पृथक् रखना चाहती है। जब वह अकबर को सलीम-मेहर के प्रेम की सूचना देती है तो अकबर मेहर को शेर अफगन से सम्बन्धित कराके बंगाल भेज देता है। वहाँ पर शेर अफगन निर्दयता से निरीह प्रजा पर अत्याचार करता है, यहाँ तक कि नाहर और उसके पुत्र को धर्मपरिवर्तन के लिए भी बाध्य करता है और निषेधात्मक उत्तर प्राप्त होने पर उसे मृत्युदण्ड देता है। इधर अकबर की मृत्यु हो जाती है और सलीम सिंहासनारूढ़ होता है, किन्तु वह मेहर रहित होने के कारण सुख का अनुभव नहीं करता। वह तो शेर अफगन को समाप्त करके मेहर को हस्तगत करना चाहता है, इसलिए नाहर को उसके वध के लिए रुपया देता है परन्तु नाहर अपनी पत्नी के कारण अधर्म करने से रुक जाता है और रुपया लौटाकर अन्य देश में प्रस्थान करता है।

जमीला सलीम से प्रणययाचना करती है। सलीम उससे ऊबकर उसके असार प्रेम की निःसारता प्रकट करता है और कुतुबुद्दीन के साथ उसका गठ-बन्धन कराके शेर अफगन के स्थान पर नियुक्त करके बंगाल भेज देता है। कुतुबुद्दीन शासनभार लेकर अफगन को मार डालता है और मेहर को आगरे पहुँचा देता है।

चतुर्थ वर्षोपरान्त नूरजहाँ (मेहर) केवल अपने सिर पर ताज रखना स्वीकार करती है और जहाँगीर उसके उपलक्ष में दो प्याले मधु की याचना पर सन्तोष कर लेता है। यही नूरजहाँ काव्य का कथानक है।

कथानक मे कुछ स्थल ऐतिहासिक तथा कुछ काल्पनिक है।

ऐतिहासिक तथ्य—गयास का ईरान छोड़कर आगरे में आना, मेहर का मार्ग में ही उत्पन्न होना, आगरे में ही उसका लालन-पालन होना एवं सलीम के कपोत उड्डयन से उसके प्रेमपाश में आबद्ध होना, शेर अफगन के साथ मेहर का गठबन्धन एवं बंगालगमन होना, अकबर-मरण, शेर अफगन की मृत्यु के पश्चात् जहाँगीर के साथ पुनर्मिलन आदि ऐतिहासिक तथ्य है। इन्ही तथ्यों को काव्य का स्वरूप देने के लिए एवं कथा को प्रगति देने और सरस बनाने के लिए काल्पनिक स्थलों का सम्मिश्रण किया गया है जिससे कथा मे सामञ्जस्य स्थापित हो जाय।

काल्पनिक-स्थल निम्नलिखित है—

(क) अनारकली का प्रेम, कारावास तथा वन में विचरण,

(ख) जमीला का अस्तित्व एवं उसकी कल्पना,

(ग) मेहर के घर पर सलीम का जाना, मेहर का प्रस्थान,

(घ) शेर अफगन का नाहर एवं उसके पुत्र का वध और सर्वसुन्दरी का अभिशाप,

(च) नाहर की कथा,

(छ) जमीला का कुतुबुद्दीन से ब्याह तथा उसकी मृत्यु।

उपर्युक्त प्रसंग काव्य के सौन्दर्य मे चार चाँद लगाते है और उसमें गति प्रदान करते है। इस प्रकार हम देखते है कि गुरुभक्तसिंह जी ने सुन्दर और मार्मिक स्थलो को भली प्रकार समझा है, यथा—अनारकली की मनोव्यथा, कपोत-प्रसंग, मेहर की विदायी, लोरी एवं ग्राम्य जीवन का सरस वर्णन आदि।

चरित्र-चित्रण—इस काव्य में पात्रों की कमी नहीं है। हमें सब प्रकार के पात्रों के दर्शन मिलते है। कुछ पात्र तो ऐतिहासिक महत्त्व रखते है और

कुछ पात्र यद्यपि काल्पनिक हैं तथापि उनका अस्तित्व काव्य-जगत् के लिए उचित एवं श्रेयस्कर है। पुरुष एवं स्त्री पात्रों की नामावली इस प्रकार है—

पुरुष-पात्र—जहाँगीर, गयास, अकबर, शेर अफगन, कुतुबुद्दीन, नाहरसिंह, विमलराय तथा काफिले का सर्दार।

स्त्री-पात्र—नूरजहाँ (मेहर), गयास की पत्नी, अनारकली, जमीला, नाहर-सिंह की पत्नी तथा सर्वसुन्दरी।

पुरुष-पात्रों में अच्छे चरित्र का अभाव है। वे प्राय: स्त्रियों के अनुगामी प्रतीत होते हैं। वे सब अकर्मण्य एवं पदलोलुप हैं। अनायास प्रेम प्राप्त करना उनका ध्येय है। शेर अफगन इसका अपवाद कहा जा सकता है। अन्य किसी पात्र में वीरता के लक्षण भी नहीं दिखलाई पड़ते।

स्त्री-पात्रों में कुछ उच्च कोटि की कहीं जा सकती हैं।

जहाँगीर—यह प्रस्तुत काव्य का नायक है जो कि धीरललित कहा जा सकता है। धीरललित नायक कला का प्रेमी, मृदुलस्वभावी तथा साधारणतया उत्तम गुणों से युक्त होता है। जहाँगीर मृदुल प्रकृति का व्यक्ति है। वह संगीत एवं नृत्य प्रेमी भी है, क्योंकि वह अनारकली के सौन्दर्य एवम् उसके नृत्यकलाप्रदर्शन को लखकर प्रेमपाश में आबद्ध हो जाता है। यही नहीं, वह अपने प्रेम को स्थायित्व प्रदान करने के लिए राज्यवैभव को तिलांजलि देना चाहता है—

"बिना तुम्हारे जग के वैभव छूने की भी वस्तु नहीं।"

यही कारण था कि वह दूसरी अप्रतिम सुन्दरी मेहर का असीम प्यार भी शेर अफगन की मृत्यु के पश्चात् प्राप्त कर सका।

वह प्रेमी है किन्तु उसका प्रेम तस्करवृत्ति वाला है। वह प्रकट रूप में सम्मुख आने का साहस नहीं करता। उसका प्रेम अकर्मण्य पुरुष का प्रेम ही कहा जा सकता है क्योंकि मेहर को प्राप्त करने में आद्योपान्त अकर्मण्य होकर ही प्रयास चलता रहा। यदि वह चाहता तो मेहर का सम्बन्ध शेर अफगन से नहीं हो पाता। अन्त में वह—

"राज्य करो तुम मूर्ति तुम्हारी रहूँ देखता मैं प्रतियाम,
अपने हाथों से नित्य केवल, मुझे पिला देना दो जाम।"

पर ही सन्तुष्ट रहा। वह प्रेम को समझता है और जमीला के कपटपूर्ण प्रेम की निस्सारता को प्रकट कर देता है। यहाँ पर उसका चरित्र उच्च दिखलाई पड़ता है क्योंकि जमीला ने अपने भ्रूकमान से उसके ऊपर पंच शर छोड़े किन्तु वे शर निफल रहे।

"अच्छा तो मैं विद्रोही हूँ राजद्रोह को हूँ तैयार।"

इस परिवर्तन के साथ ही उसके साथियों में से कोई भी उसका साथ देने को उद्यत नहीं हुआ। तब वह—

"सन्न रह गया लख परिवर्तन लगा कोसने अपना भाग।"

और अपनी दयनीय स्थिति पर शोक करने लगा कि—

"इन्हीं खुशामदी मित्रों ही ने मेरा करवाया है नाश।
अब आँखें खुल गईं विश्व में नहीं किसी का है विश्वास॥"

अब उसे अपने कर्त्तव्य का ध्यान आया। उसको अपनी भूलों का ऐसा आघात पहुँचा कि—

"दौड़ा दौड़ा अन्दर जा तुरत मेहर के पग पर गिर।
मूर्ख हृदय की भूलों की यह क्षमा माँगता था फिर फिर॥"

वह वीर था। उसमें एक गुण और भी था कि वह एक-पत्नी-व्रत-धारी था। परस्त्री पर दृष्टिपात करना उसकी दृष्टि में पातक था। जब कुतुबुद्दीन मेहर को जहाँगीर के पास भेजने का प्रस्ताव करता है उस समय वह क्रोधित होकर वीरतापूर्ण शब्दों में कथन करता है कि—

"जहाँगीर है नहीं आज वरना मैं उसे सिखा देता,
पर नारी पर बुरी नज़र रखने का मज़ा चखा देता।"
"नहीं सही वह तू आया है बेइज्जत करने तो आ,
नहीं हिलाना फिर ज़बान खा खञ्जर हरदम को सो जा।"

इतना कहकर कुतुबुद्दीन को मार गिराया और स्वयं उसके रक्षकगणों के द्वारा लड़ता-लड़ता जूझ गया।

विमलराय—उसका चरित्र उत्तम है। वह अत्याचार को सहन करना हेय समझता है। वह दीनदुःखियों के कष्टों को अपना समझता है और उसके निवारण के लिए अपने प्राणों की बाजी लगा देता है।

वह धर्मात्मा है। धर्म उसके लिए जीवन है। जब शेर अफगन उसे इस्लाम धर्म स्वीकार करने के लिए बाध्य करता है तो वह कहता है—

"यह सर मेरा है हाज़िर मुझको मरने का क्या डर।
तू मारेगा क्या मुझको मैं अमर अनन्त अजय हूँ,
तू काटेगा क्या मुझको मैं जल हूँ अनल मलय हूँ॥"

वह अपनी इस धारणा पर स्थिर रहता है और हँसते हँसते मृत्युगामी होता है।

पुरुषपात्रों में कुतुबुद्दीन, नाहरसिंह, शेर अफगन के सिपाही, और गयास आदि का चरित्र गौण है जो काव्य की पूर्ति में सहायक होते हैं।

नूरजहाँ—वह महाकाव्य की नायिका है जो सर्वगुणसम्पन्न है। उसका बाह्य सौन्दर्य असाधारण उपकरणों द्वारा निर्मित है।

"यह नव मयंक है उगा हुआ चारों दिशि छिटके तारे हैं।"

यह स्वरूप उसके प्रादुर्भाव के अवसर का था। वही बढ़कर भव्य रूप धारण कर लेता है—

"यह किरण जाल सी उज्ज्वल है मानस की विमल मराली है।
अंग अंग में चपला खेल रही है फिर भी भोली भाली है॥"

वह भोलीभाली एवं अप्रतिम सुन्दरी है। उसके सौन्दर्य पर ही सलीम शलभ की भाँति लट्टू है। उसका भोलापन उसी दिन सलीम को प्रभावित कर सका जिस दिन मेहर उसके रक्षित कपोतों में से एक को अपने वश में न रख सकी। प्रश्नोत्तर पर कि "वह इस प्रकार उड़ गया" इस उसके भोलेपन ने सलीम को दीवाना बना दिया।

वह सलीम से सलीम की भाँति प्रेम करती है और अपने आन्तरिक प्रेम का प्रदर्शन भी कर चुकी है तथा चुम्बन द्वारा दृढ़ता भी बना चुकी है। किन्तु यह अविवाहिता के लिए कहाँ तक मान्य है?

वह धर्मभीरु है। जब उसका गठबन्धन उसकी इच्छा के विरुद्ध शेर अफगन से हो जाता है तो उसी दिन से वह सलीम के प्रेम को भुलाने का प्रयास करती है और किसी प्रकार का शैथिल्य अपने मार्ग में नहीं आने देती। जब सलीम अर्द्धरात्रि को अपना प्रेम प्रदर्शन करने के लिए उसके गृह पर पहुँचता है तथा शेर अफगन को मारकर उसे अपनाने का प्रस्ताव करता है तो वह अपनी दृढ़ता का परिचय देती है और उसे तस्कर की भाँति घर में प्रवेश करने के लिए फटकारती है। सलीम उसकी इस फटकार से हतप्रभ हो जाता है और कहने लगता है—

"नारी रहस्य को कौन समझ सकता है।"

वह उत्तर देती है कि बालपने की उच्छृंखलताओं का समय व्यतीत हो गया है—

"बालकपन से पूछो जाकर उच्छृंखलता सारी।
सुमन विकास मधुर अलि गुंजन सुक्ताओं की क्यारी॥"

यहाँ पर उसकी धर्मपरायणता, पतिप्रेम एवं निर्मल चरित्र के दर्शन होते हैं क्योंकि वह सलीम को परनारी की ओर दृष्टिपात करने का दोषारोपण करती है और कहती है कि—

"है कौन मेरे जीते जो उन पर हाथ लगावे ?
कभी न होगा लाखों ही का सर चाहे गिर जावे।"

जब वह आगरा से बंगाल के लिए प्रस्थान करती है तो उसका ममत्व बोल उठता है। उसका कथन कितना मर्मस्पर्शी है—

"ओ स्वप्नों के संसार विदा ओ बालापन के प्यार विदा।
ओ शोभा के आगार विदा मनमोहन के मनुहार विदा॥"

वह सहृदया एवं दूसरे के दुःखों को समझने वाली है। जब उसे सर्व-सुन्दरी के पति के प्राणदण्ड की आज्ञा की सूचना प्राप्त होती है तो शेर अफगन से उसे क्षमा करने की याचना करती है। यद्यपि इस याचना में वह असफल रहती है तथापि वह उसके दुःख से दुःखित है।

वह स्वाभिमानी एवम् अपने स्वत्वों की रक्षा के लिए पति से सम्बन्ध-विच्छेद करने के लिए भी आज नारी के समान उद्यत रहती है जो असंगत ही है।

वह वैवाहिक सम्बन्ध को पराधीनता की शृंखला समझती है। जब वह शेर अफगन के अत्याचार से पीड़ित होती है तो उसके हृदय के भाव उग्र रूप धारण कर लेते हैं और कहने लगती है—

"पराधीनता की बेड़ी को अपने हाथों में काटूँगी,
सरिता नहीं सरोवर बन में अपना हँस चुगाऊँगी।
कर विवाह विच्छेद अलग हो मैं स्वतन्त्र हो जाऊँगी॥"

वह वात्सल्य प्रेम से ओत-प्रोत है। वह अपनी पुत्री से विशेष प्रेम करती है और उसी के लिए जीती-जागती है। उसका कथन है—

"ये तेरी भोली बातें ही रखतीं मुझे जिलाये"

वह धैर्य्यवान है। दुःख में भी सुख का अनुभव करती है। जब उसका पति सूबेदारी से पृथक् कर दिया जाता है तो भी उसे दुःख नहीं होता, बल्कि संतोष की लहर उसके हृदयपटल पर अंकित हो जाती है किन्तु शेर अफगन की मृत्यु पर चार साल तक सलीम से बात नहीं करती है। इतना करने पर भी वह अपने पातिव्रत धर्म की रक्षा न कर सकी और अपने पति-रक्त से रंजित सलीम के हाथ की कठपुतली बन गई। इस प्रकार उसका चरित्र आदर्शच्युत हो गया है।

जमीला—एक साधारण महिला है। वजीर की बेटी होकर भी इसका चरित्र गठित नहीं है। यद्यपि इसका व्यक्तित्व काल्पनिक है किन्तु इतना बढ़ गया है कि उसको ऐतिहासिक व्यक्ति के समकक्ष दिखलाना पड़ा। वह मेहर

के साथ राहु-केतु की तरह इस प्रकार लग गई कि उससे छुटकारा पाना कठिन हो गया।

वह कलुषितहृदया है। वह मेहर और सलीम के प्रेम को सहन नहीं कर सकी। इसी हेतु अकबर द्वारा शेर अफगन से उसका गठबन्धन करवाकर बंगाल भिजवा देती है और इस प्रकार दोनों प्रेमियों को पृथक् कर देती है और अपने पथ को अकंटकाकीर्ण बनाती है। सलीम उसकी धूर्तता से परिचित है और उसके प्रेम-प्रपंच को निस्सार सिद्ध करके उसका गठबन्धन कुतुबुद्दीन से करके उसे बंगाल भेज देता है। इस प्रकार साम्राज्ञी बनने की कल्पना सदैव के लिए तिरोहित हो जाती है और अधपके बालों वाले व्यक्ति के साथ स्याह-सफेद करने का सुअवसर प्राप्त कर लेती है, क्योंकि—

"उनकी आँखों में बस कर के गुल्छर्रे खूब उड़ाऊँगी,
अपना उल्लू सीधा करने को बुलबुल उन्हें बनाऊँगी।
दासी बन कर सेवा करने कैदी बन कर घर में रहने,
है कौन बावली जो जायेगी युवक संग सब दुःख सहने।"
इससे मेरा अनुभव मानो युवती बूढ़े से व्याह करो,
फिर कौन पूछने वाला है चाहे सफेद या स्याह करो।"

इन अन्तिम पंक्तियों में उसकी मनोभावनाओं का स्पष्ट रूप प्रतिध्वनित होता है। वह कुलटा, दुष्चरित्रा एवं स्त्री जाति की कलंक कही जा सकती है। उसमें घृणित से घृणित कार्य करने की क्षमता है। उसका चरित्र निकृष्ट है। वह विभिन्न जातियों के गुणों से युक्त है। कभी वह दरजीगीरी, कभी तमोलिन के गुणों से विभूषित की गई है।

अनारकली—यह एक हिन्दू नर्तकी है जो अपूर्व सुन्दरी एवं निश्छला है। उसके सौन्दर्य पर सलीम मुग्ध हो जाता है और वह स्वयं सलीम पर अपना हृदय निछावर कर देती है। वह प्रेम का मूल्य समझती है और पात्र और अपात्र का ध्यान भी रखती है। जब अकबर उसे प्रलोभन देता है तब भी वह उसके प्रेमप्रस्ताव को ठुकरा देती है—

"यदि राज भोग हो करना तो मेरे उर में आओ,
तुम राज करो रानी बन जीवन को सफल बनाओ।"

वह इसका उत्तर किस निर्भीकता से देती है—

"बस दूर दूर हो अकबर इस ओर न पैर बढ़ाना।
निज कर से छू छू कर के अपवित्र न मुझे बनाना।

तू ईर्ष्या क्यों करता है, है सारी दुनियाँ तेरी।
मत छीनो रहने दो तुम छोटी सी दुनियाँ मेरी।
यदि प्राणदण्ड हो देना तो हाजिर है सर मेरा॥"

इस उत्तर में कितना सत्य है। जहाँ पर जमीला सर काटने के नाम पर काँपने लगती है वहीं वह सर कटाने के लिए तत्पर है—यह है सत्य प्रेम की कसौटी।

जब अकबर की एक न चली तो वह अनारकली को देशनिष्कासन का दण्ड देता है। उसे इसकी भी चिन्ता नहीं, क्योंकि वह तो प्रेम के रंग में रंगी हुई है और अपने जीवनधन सलीम को देखकर अन्तिम साँस लेना चाहती है। वह अपने लिए नहीं बल्कि सलीम को कष्ट न हो उसके लिए व्याकुल है। जब सलीम के दर्शन उसे हो जाते है तो सलीम की उपस्थिति में वह विषपान करके सलीम की गोदी मे पड़कर चिर-निद्रा में मग्न हो जाती है।

"नहीं वासना है विलास की प्रणय मिला दर्शन पाया,
क्षमा माँग कर अन्त समय में प्रिय का आलिंगन पाया।"

उसकी समस्त आकांक्षायें परिपूर्ण हो गई। वह अपने नाम को सार्थक करने वाली स्त्री-रत्न एवम् अनार की कली ही थी।

सर्वसुन्दरी—इसका चरित्र भव्य और गठित है। वह मेहर को अन्धकार के गर्त में गिरने से बचाती है और कहती है—

"पर पथभ्रष्ट कभी मत होना दिवस चार ही जीना है,
बन किरीट मणि रहे भाल पर तू अनमोल नगीना है।"

इस प्रकार मेहर का मार्ग प्रशस्त करने में सहायक होती है। वह पति-परायणा है। जब उसके पति की मृत्यु हो जाती है तो वह विकट रूप धारण कर लेती है और शेर अफगन को सम्बोधित करके कहती है—

"वह तेरी तलवार कहाँ है सेना कहां कहां वह राज"

❀ ❀ ❀

"मै जैसी हूँ प्रिय विछोह में तड़प तड़प कर उन्मादिन,
इन आँखों से तुम दोनों भी शीघ्र वही देखोगे दिन।"

वह विचारवान एवं मृत्यु के रहस्य को समझने वाली है। उसे ईश्वर की सत्ता में पूर्ण विश्वास है। जब मेहर के पति की मृत्यु हो जाती है तो उसे सान्त्वना देती है और मृत्यु के रहस्य को समझाती है और कहती है—

"केवल थोड़े दिन जीना है जीवन स्वच्छ बिताना तुम,
मत गरीब को कभी सताना सदा भला कर जाना तुम।"

इस प्रकार उसके हृदयगत विमल भावों का प्रत्यक्षीकरण हो जाता है और उसकी अमिट छाप हमारे हृदयपटल पर अंकित हो जाती है।

प्रकृति-चित्रण—इस काव्य की कथा की प्रसृति फारस प्रदेश से लेकर बंगाल प्रान्त तक है जिसमें पर्वत, सरितायें, वन, मरुस्थल, शस्यश्यामला भूमि आदि प्रचुर मात्रा में विद्यमान है। कवि ने अपनी प्रतिभा एवं सूक्ष्म निरीक्षण द्वारा प्रकृति का विशद वर्णन इस काव्य में प्रस्तुत किया है और फारस के प्रकृति-वर्णन से ही काव्य का प्रारम्भ किया है। इसमे प्रकृति के सम्वेदनात्मक एवं चित्रात्मक वर्णन भरे पड़े हैं। नीचे का एक पद देखिये—

"प्रेम पत्र जो भेज चुके थे पवनदूत से माधौ पास,
राह किसी की देख रहे थे खड़े खड़े ही बने उदास,
थे साकार निराशा मानो मूर्तिमान थी हुई व्यथा
गिरि अलबुर्ज रजत पट पर थी अंकित मानो विरह कथा
जगा रहे थे अलख दिगम्बर धारी जो ऐसे तरुवर,
वे भी फूले नहीं समाते आज भेंट निज कुसुमाकर।"

कवि ने कलात्मक ढंग से कथावस्तु का निर्देशन कर दिया है। तरुवर अपने प्रेमपत्र को पवनवाहक द्वारा वसन्त के पास भेज चुके थे। वे उत्सुक एवं उदास होकर इसी की प्रतीक्षा कर रहे थे। विरहवेदना ने साकार रूप धारण कर लिया था और जो वृक्ष पत्रहीन तपस्यारत थे उन्होंने भी आज वसन्त को पाकर अपने में नवीन पत्र धारण कर लिये। अतः वे फूले नहीं समाते है।

इन पंक्तियों में कथा का पूर्ण भास प्रकट हो गया है। गयास की पुत्री मेहर ने जो प्रेमपत्र जहाँगीर के पास भेजा उसकी प्रतीक्षा मे वह व्याकुल है। अन्त मे प्रेमपत्र साकार हुआ और अपना कुसुमाकर पाकर फूली नही समायी।

भक्त जी ने मानव और प्रकृति की चेष्टाओं का ऐसा बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव प्रदर्शित किया है कि वे स्वतः एक के दुःख में दुःखी प्रतीत होने लगते हैं। अनारकली दुःखी है। अतः उसके साथ प्रत्येक पदार्थ, चाहे वह जड हो अथवा चेतन, स्तब्ध एवं शुद्ध दिखलाई पड़ता है। ऐसा सम्वेदनात्मक चित्र एक सरिता का देखिये।

सम्वेदनात्मक स्वरूप—

"दुखिया अनार ने विकट विपिन में खो खो कर,
मग शोध लिया।

इक छोटी सरिता ने आकर,
इतने में ही गतिरोध किया।
था पाट नहीं उसका भारी बस,
इक छलांग मृग शावक की।
चीतल - दल - चंचल है चरता,
जिसके अंचल की दूब हरी।"

अनार अपना ही प्रतिस्वरूप गिरिबाला में देखती है और उसे अपने ही समान कृषकाय पाती है। उत्प्रेक्षा द्वारा अर्थ मे गम्भीरता आ जाती है।

चित्रात्मक स्वरूप—'भक्त' जी चित्रात्मक वर्णन करने में बड़े सिद्धहस्त है। एक सघन वन का वर्णन देखिये—

"आगे जंगल था घना बड़ा तरु ही तरु थे हरियाली थी,
छिलते थे छिलके हिलने में तिल भर भी भूमि न खाली थी,
नीचे से पौदे नये निकल तरुवर वयस को बगली दे,
वारिद सा उठते जाते थे नभ पर हरीतिमा सागर से,
बादल सा दल फैलाते थे उड़ जाने को नभ मण्डल में,
लतिकायें प्रेम पाश से जकड़े रहतीं अपने अंचल में॥"

मानवता के आरोप में—'भक्त' जी ने प्रकृति का आलम्बनचित्रण मानवता के आरोप में कैसा सुन्दर चित्रित किया है। देखिये–एक नदी ने ग्रीष्म की ज्वाला से व्याकुल होकर अपने जल को सेवार और मोथों से छिपा लिया है। निदाघ इतना भयंकर रूप धारण किये है कि उसकी नब्ज़ ही छूटी जा रही है। कहाँ वह इतनी शक्तिशालिनी थी कि पत्थरों को चकनाचूर कर देती थी, कहाँ आज उसको अपने जीवन के ही लाले पड़े है। जो नदी अपने तटों से प्रेमालाप करती थी उसी का प्रतियोगी सूर्य उसी को हरण किए तट से दूर कर रहा है। कितनी भावुक कल्पना और कितनी मानवता के आरोप में साकारता व्यक्त की है।

"जल छिपता फिरता सेवार में मोथों के साये में।
बुदबुद के अंगूर छिपे हैं फेनजाल फाये में॥
श्वास धरा रुक रुक चलती है नब्ज़ नहीं है मिलती।
पत्थर तोड़ पीस देती थी, घास नहीं अब हिलती॥
ज्यों ही जीभ प्यास से निकली डाले तूने छाले।
लहरों में बुदबुद छाये हैं जीवन के हैं लाले॥
फूले झाऊ का दहका है अंचल में अंगारा।
आहें भर है रहा आग में जलता हुआ करारा॥

जो सरिता के भरे अंक में शीतल करता छाती।
तटनी जिसके मुख पर उठ उठ चुम्बन छाप लगाती॥
आज सूर्य उसका रकीब बन कर रथ पर बैठाये।
सरिता हरण किये जाता है तट को दूर हटाये॥"

प्रकृति का उद्दीपन स्वरूप—गुरुभक्तसिंह ने प्रकृति को उद्दीपन के रूप मे भी चित्रित किया है। प्रकृति के मिलन का दृश्य देखिये—

"कहीं मोर पंखी का पौदा कहीं लवंग लता है।
खोले केश कहीं पर बिरहिन समबुल कामरता है॥
मौलसिरी की कहीं कतारें पारिजात की अवली।
परियों सी उड़ती फिरती है तितली पुष्पासव पी।
बौराये रसाल रम्भा संग नारिकेल में रत हैं।
विविध ताल ऊँचे सुशाल रोके सिर पर नभ छत हैं॥
कहीं अनारी कलियों ने कैसी है आग लगाई।
जो पय कहाँ ? कहाँ पय ? की चातक ने टेर उठाई॥"

समस्त काव्य प्रकृति-चित्रण से भरा पड़ा है। कहीं पर पहाड़, रेगिस्तान, कहीं पर गाँव, मैदान, कहीं पर झील, कहीं पर वन, उपवन वाटिकाओं का मनोरम एवं रोचक वर्णन किया है। कवि ने अंग्रेजी कवि वर्ड्सवर्थ-सा प्रकृति के साथ मानवजीवन का सामञ्जस्य चित्रण किया है। प्रियप्रवास में उपाध्याय जी ने प्रकृति का सफल चित्रण किया है। उसमें प्रकृति-वर्णन द्वारा ही सर्गों का प्रारम्भ हुआ है। उसी की अनुकृति पर नूरजहाँ में भी प्राय. प्रत्येक सर्ग का प्रारम्भ प्रकृतिवर्णन से ही हुआ है जिसमें उन्हें सफलता भी प्राप्त हुई है। आपने प्रकृति को वर-वधू बनाकर प्रासांगिक और सुन्दर कल्पना की है।

रस और भाव—नूरजहाँ महाकाव्य में मुगलकालीन संस्कृति एवं विलासी जीवन की कथा व्यक्त की गई है। यद्यपि गुरुभक्तसिंह का प्रयास यही रहा है कि काव्य मे विलासिता का चिह्न न रहे और शुद्ध प्रेम का मार्ग प्रशस्त हो जाये किन्तु ऐसा करने में वे सफल न हो सके।

शृंगार—नूरजहाँ प्रेमप्रधान काव्य है। इसमें शृंगार रस, जो रसराज कहलाता है, उसके दर्शन स्थल-स्थल पर मिलते है। सलीम अनारकली के नृत्य एवं उसके हाव-भाव पर रीझ जाता है और उसके प्रेम में मतवाला बन जाता है—

"होकर विनीत यौवन के नव कुसुम भार से भोरी,
है क्षीण लंक लचकाती कर चितवन से चित चोरी।

बन बीचि विलास-सरित की वह रस ही रस बरसाती,
आँखों को नचा नचा कर झखकेतु ध्वजा फहराती।
लख कला प्रदर्शन उसका उसका सौन्दर्य निराला,
सुध खो सलीम तन मन की हो गया प्रेम मतवाला॥"

यह सम्भोग शृंगार के अन्तर्गत आवेगा। इसके पश्चात् उन दोनों का मिलन कठिन हो जाता है।

मेहर सुन्दरी है। उसका भोलापन सलीम को आकर्षित करता है और वह उसका प्रेमी बन जाता है—

"भोलापन यह देख चकित हो मुख छवि अथक निहारी,
उसको रहा निरखता इकटक तन की दशा बिसारी।
फिर इक ठण्ढी साँस खींच कर दौड़ अधर चुम्बन ले,
ऊहर उठा लिया हाथों से लगा लिया सीने से॥"

❀ ❀ ❀

"देख न कोई पुनः खींच कर चुम्बन की वर्षा कर।
बार बार आलिंगन करके गया हर्ष में वह भर।।"

इस दृश्य में ऐन्द्रिय वासना युक्त कामोद्रेक है। इसमे शारीरिकता का ही प्राधान्य है। अतः शृंगार के अन्तर्गत नही आ सकता।

अब विप्रलम्भ शृंगार के अन्तर्गत आने वाले एक दो पद देखिये। मेहर आज अपने प्रियतम के साथ से तथा बालपन के साथियों के संग से विलग हो रही है। उस समय का कथन करुणात्मक वियोग के ही अन्तर्गत होगा—

"ओ स्वप्नों के संसार विदा ओ बालकपन के प्यार विदा,
ओ शोभा के आगार विदा मनमोहक के मनुहार विदा।
ओ भ्रान्ति विदा ओ शान्ति विदा ओ अपनी भोली भूल विदा,
ओ मेरी मुरझाई आशाओं की समाधि के फूल विदा।"

इन पंक्तियों मे कितनी वेदना, कितना ममत्व, कितना करुण रस भरा हुआ है—कोई भुक्तभोगी ही समझ सकता है। किन्तु इन सुखद स्मृतियों को व्यक्त करने का समय यह न था। वह आज पत्नी के रूप में है। यह विरह-वेदना उसे पतन की ओर उन्मुख करती है।

वात्सल्य—गुरुभक्तसिंह जी ने वात्सल्य का भी सुन्दर चित्रण किया है जिसमें मातृहृदय के दर्शन होते हैं। देखिये—

"वह बात बात में अड़ना हठ करके इठला जाना,
फिर लोट लोट पृथ्वी पर रोना गाना चिल्लाना।"

बच्चों का रुदन ही उनका अस्त्र है। जिस वस्तु की याचना करते हैं उसे रोकर, मचलकर, पृथ्वी पर लोट-पोट होकर अवश्य ही प्राप्त कर लेते हैं। नटखट तो इतने होते हैं कि वे एक स्थान पर बैठ ही नहीं सकते। जहाँ अवकाश पाते, चाहे पानी हो या धूल, उसमें खेलना प्रारम्भ कर देते हैं। मेहर की माता ने अभी स्वच्छ कपड़े पहिनाये हैं लेकिन बाल-सुलभ-चंचलता ने अवसर पाते ही उन्हें भिगो डाला। बालकों को उष्ण वायु की भी चिन्ता नहीं होती है और न उन्हें बवंडर की।

> "वह दौड़ बीच में जाती जो उठता कहीं बवंडर,
> माता घबड़ाई फिरती वह लोटी जाती हँस कर।
> वर्षा में घन लख लख कर वह नाच नाच कर गाती,
> फिर तड़प तड़ित की सुन कर अंचल में छिप छिप जाती॥"

बालकों में चंचलता एवं भोलापन होता है। वे प्रत्येक कार्य निष्कपटता से करते हैं। मेहर बल के छोटे बच्चों को पकड़ने के लिए पानी में घुस जाती है और उन्हें न पाकर स्वयं छोटे बच्चों में फिर खेलने लगती है। जब बालक मचल जाते हैं और किसी प्रकार रोना नहीं बन्द करते उस समय सकल माताएँ अपने बच्चों को लोरी सुना-सुना कर और थपकी देकर सुला दिया करती हैं। लैला को उसके पिता ने पटक दिया है। वह रो रही है। उसको शान्त करने के लिए सर्वसुन्दरी ने कितनी सुन्दर लोरी कही है। उसमें कितनी मधुर कल्पनाओं का सम्मिश्रण है—

> "निंदिया आजा निंदिया आजा लैला तुझे बुलाती है,
> इन्तजार से जाग रही आँखें नहीं लगाती है।
> मिट्टी के पकवान बना कर लैला तुझे खिलावेगी,
> और धूल का महल बनाकर उसमें तुझे सुलावेगी॥"

यही नहीं, इसमें ध्रुव प्रदेश एवं मरुस्थल में रहने वाली माताओं का भी सुन्दर चित्र व्यंजित किया है। इसके साथ ही रहस्यमय भावना के भी दर्शन होते हैं किन्तु यह कहते हुए शंका उत्पन्न हो रही है कि क्या सर्वसुन्दरी को ध्रुव प्रदेश का ज्ञान था जिसके द्वारा ध्रुववासियों का विवरण दे रही है।

रौद्र—अकबर अनार से प्रणययाचना करता है किन्तु अनार को यह सह्य नहीं है। उसके इस व्यवहार पर उसे क्रोध उत्पन्न होता है। अकबर आलम्बन है, अनार का क्रोध स्थायीभाव है और थर-थर काँपना अनुभाव है।

> "कर झपट अनारकली ने पीछे हट डाँट बताई,
> हो क्रोधित थर थर काँपी गुस्से से आँख दिखाई॥"

भयानक—भयानक में अनिष्ट होने की प्रबल सम्भावना रहती है। जब मेहर बर्दवान जाने लगती है तो उसके समक्ष एक योगिनी उपस्थित होती है जिसे देखकर मेहर के हृदय में अनिष्ट की भावना उत्पन्न होती है—

"इतने में ही एक योगिनी राह रोककर खड़ी हुई,
आँखें लाल भाल पर अलकें बिखरीं छिटकी पड़ी हुईं।
उस सिन्दूर विहीन माँग में रज थी केवल परी हुई,
भूषण रहित देह की थीं इच्छायें सारी भरी हुईं॥"

वीर रस—जब कुतुबुद्दीन शेर अफगन से मिलना चाहता है तो उसकी पत्नी मेहर रोकती हैं। इसमें कुतुबुद्दीन आलम्बन है, तलवार उद्दीपन, गर्व आदि संचारीभाव है।

"मैं हूँ वीर मुझे मरने का नहीं ज़रा भी लगता भय,
जब तक है तलवार हाथ में तू किस भय में भूली है।
नहीं कुतुब की कुछ मजाल वह कौन खेत की मूली है,
बात नहीं घबड़ाओ मत, डरो न मुझको जाने दो।
और नहीं कोई भी चिन्ता अपने दिल पर आने दो॥
मेहर रोकती रही बहुत कुछ कह बातों का करके परिहास।
चल ही दिया शेर मुस्काता मेहर रह गई खड़ी उदास॥"

हास्य देखिये—

"बोला एक सही है मुझ पर थी हुजूर की बड़ी निगाह,
क्या बतलाऊँ अभी हाल ही में मेरा है हुआ विवाह।
मरूँ छोड़ कर किस पर अब मैं नई नवेली दुलहिन को,
वह जी नहीं कभी सकती है मेरे बिना एक क्षण को॥"

अद्भुत का एक चित्र देखिये—

"कौन? कौन? क्या तू सलीम है? क्या सलीम सहजादा।
पर घर जाकर तस्कर बन कर ऐसा नीच इरादा॥"

विस्मय इसका स्थायीभाव है। मेहर को आश्चर्य होता है कि यह सलीम हो सकता है? संचारीभाव वितर्क, आवेग आदि स्तम्भ, रोमाँच, स्वरभंग, विस्फारित नेत्र इसके अनुभाव हैं। इस प्रकार हम देखते है कि मानवहृदय के विविध भावों की व्यंजना आपने इस काव्य में की है और साथ ही मनोवैज्ञानिक विश्लेषण भी किया है। प्रेम, क्रोध, शोक, उत्साह, आश्चर्य, घृणा आदि सभी मानव भावों की सुन्दर व्यंजना में अभूतपूर्व सफलता मिली है।

कालिदास की तरह मेघदूत के स्थान पर भक्त जी ने पवनदूत बनाकर भेजा है किन्तु यह सन्देश केवल सन्देश ही रहेगा क्योंकि मेहर सलीम को ऐसा उत्तर दे चुकी है जिसके पश्चात् यह प्रेमसन्देश केवल परम्परानिर्वाह ही माना जावेगा।

> "फूल खिलाना फिर वसन्त की मदिरा पिला पिला कर,
> जगा जगा कर पूर्व-प्रणय वह सोता हिला हिला कर।
> मेरी याद दिलाना उसको फिर करुणा उपजा कर,
> मेरी दुःख कहानी उसको विधिवत सुना सुना कर॥"

मदिरा पिलाकर भले ही उसे मतवाला बना दे, मदिरा में हृदयस्पर्श करने की क्षमता कहाँ होती है?

कलापक्ष (भाषा और शैली)—नूरजहाँ की भाषा सरल एवं प्रवाहपूर्ण है। इसमें असाधारण मिठास है। भावों के अनुसार ही इसका स्वरूप मधुर एवं परुष हो जाता है। जहाँ मधुर भावों की व्यंजना करानी होती है वहाँ पर भाषा भी मधुर हो जाती है—

> "नूपुर को बजा बजा कर बहु बार भाव भंगी कर,
> लहरों सी उठती गिरती रच करके रस का सरवर।
> वह डमरू कभी बजाती वह देह मड़ोर मचाती,
> वह कभी कपोती बनती वह कभी शिखी हो जाती।
> लख कला प्रदर्शन उसका, उसका सौन्दर्य निराला,
> सुध खो सलीम तन मन की हो गया प्रेम मतवाला॥"

इस पद में शृंगार रस की व्यंजना कराई गई है, इसलिये मधुर वर्णों का प्रयोग किया है। जहाँ पर परुशा वैत्य का प्रयोग हुआ है वहाँ पर भाषा भी परुष एवं कठोर हो गई है।

> "फिर कड़क सुनी बिजली सी आवाज़ कान में आई,
> क्या सूझ नहीं पड़ता है आँखों में चरबी छाई।
> उस लड़के के फन्दे में इतनी हो गई दिवानी,
> क्या शर्म हया सब छूटी गिर गया आँख का पानी?"

इस पद में रौद्र रस की व्यंजना कराई गई है, इसलिये इसमें ओज के पूर्ण दर्शन होते है। यही नही, जहाँ पर ध्वन्यात्मक प्रयोग हुआ है वहाँ पर उससे इनकी भाषा में छटा एवं मनोहरता का समावेश हो गया है और भाषा का स्वरूप निखर उठा है—

> "है तपस्विनी वह कृषकाया फेरा करती मणिमाला है।
> शिव बना बना कर सलिल चढ़ाती रहती वह गिरिबाला है॥"

कवि ने वर्णन नहीं किया बल्कि संकेतमात्र से ही स्पष्ट कर दिया कि ग्रीष्म के दिन हैं, पानी सूखता जाता है तथा नदी घटती ही जाती है।

नूरजहाँ की भाषा में मुहावरों का प्रयोग बड़ी चतुरता एवं सावधानी से किया गया है किन्तु अधिक प्रयोग होने के कारण महाकाव्य की गम्भीरता नष्ट हो गई है और शैथिल्य आ गया है। मुहावरों के कुछ प्रयोग देखिये—

"अच्छी याद मुझे भी आई रोज काफिले जाते थे।
है चिराग के तले अँधेरा जो यह याद न आते थे।।"
"जाकर हममें से कितने ही, जिनका यहाँ बुरा था हाल।
भारत से थोड़े ही दिन में लौटे होकर मालामाल।।"

भक्त जी की शब्दयोजना में यह बात बहुत ही खटकती है कि संस्कृत के तत्सम शब्दों के साथ फारसी शब्दों का प्रयोग अधिकता से किया। यथा—"गिजाल का शावक" आदि।

कहीं कहीं पर सुन्दर शब्दमैत्री के दर्शन भी होते हैं—

"तुम कम्पा यह ले जाओ मुझ पर न लगेगा लासा।"

इसमें अलंकारों का प्रयोग भी यथानुसार हुआ है। उनमें अनुप्रास, श्लेष, उपमा, उत्प्रेक्षा आदि प्रमुख हैं। यथा—

अनुप्रास—"चरते चीतल भी चौंक उठे आँखें फैला इसको देखा।
फिर चमक चौकड़ी चपल भरी उड़ गये बाण की ही रेखा।।"

श्लेष— "एक कबूतर देख हाथ में पूछा कहाँ अपर है?
उसने कहा अपर कैसा? वह उड़ गया सपर है।"

उपमा—"मन मन्दिर सुरुचि बना है, है प्रतिमा अभी न थाती।
यौवन है उठा घटा सा नाचा है नहीं कलापी।।"

उत्प्रेक्षा—"है तपस्विनी वह कृशकाया फेरा करती मणिमाला है।
शिव बना बना कर सलिल चढ़ाती रहती वह गिरिबाला है।।"

शैली—इसमें चार प्रकार के छन्दों का प्रयोग किया गया है। प्रथम समान सवैया छन्द जिसके प्रत्येक चरण में ३२ मात्रायें होती हैं, यथा—

"दुखिया अनार ने विकट विपिन में खो खो कर मग शोध लिया,
इक छोटी सरिता ने आकर इतने ही में गतिरोध किया।"

द्वितीय इन्होंने पद्धरि छन्द का प्रयोग किया है जिसके प्रत्येक चरण में १६ मात्रायें होती हैं—

"धूप से भूतल है ताया नहीं चिड़िया की भी छाया।
चमकते कण हैं चमचम बढ़े जाते हैं सब बेदम।।"

तृतीय चन्द्रायण छन्द का प्रयोग हुआ है जिसके प्रत्येक चरण में इक्कीस मात्रायें होती है:—

"था निशीथ कालिन्दी कलकल शान्त था,
था मरुत हो शान्त कहीं पर सो रहा।"

चतुर्थ छन्द सार है जिसके प्रत्येक चरण में २८ मात्रायें होती है—

"जब शैशव शिशिर सिधारा यौवन बसन्त तब फूला।
कुछ नई साध अंचल में छिप छिप के झूली झूला॥"

दोष—नूरजहाँ में व्याकरण की अशुद्धियाँ भी अधिक हैं। यथा—

"कठिन रोग लाखों रोगी" के स्थान पर लाखों रोगियों होना चाहिये।

"पार्वतीय प्रदेश" के स्थान पर पर्वतीय प्रदेश होना चाहिये। लिंग वचन की कतिपय अशुद्धियाँ देखिये—

"गा गा कर चन्दूल व्योम पर चढ़ कर सो जाता है।
डुबकी लेकर नील उदधि में स्वर्गीया हो जाता है॥"

स्वर्गीया के स्थान पर स्वर्गीय होना चाहिये।

लिंगदोष देखिये—

मेहर जहाँगीर से प्रेम करती है। आज वह उसे दुतकार रही है। उसी को सलीम कहता है—

"कल जो प्यार मुझे करता था आज वही दुतकारे।"

"जो" सर्वनाम मेहर के लिये प्रयुक्त हुआ है। अतः क्रिया "प्यार करती थी" होनी चाहिये।

योगिनी कह रही है—

"मैं जैसे हूँ प्रिय विछोह में तड़फ तड़फ कर उन्मादिन।"

जैसे के स्थान पर जैसी होना चाहिये।

ग्राम्य दोष—

"कन्जाती उस दबी आग को दे दे फूँक जिला देना"

कन्जाती—आग का कन्जयाना देहाती शब्द है। इस प्रकार कई दोष इस काव्य में मिलते है।

वादों का प्रभाव—

(क) नूरजहाँ ऐतिहासिक महाकाव्य होने के कारण इसमें आधुनिक परिस्थितियों का विवेचन होना दुष्कर था किन्तु कहीं कहीं पर इस काव्य में भी आधुनिकता की स्पष्ट छाप दिखलाई पड़ती है। स्त्रियों की स्वतन्त्रता की माँग, आत्मा का अमरत्व एवं सशक्त होना आदि स्वामी दयानन्द जी की देन

है। विवाह-विच्छेद कर पृथक् हो जाना आधुनिक पाश्चात्य विचारधारा की प्रतीक एवं मुस्लिम विचारधारा की प्रतिछाया कही जा सकती है किन्तु सर्व-सुन्दरी की विचारधारा भारतीय परम्परा को लिये हुए है, जहाँ पर पतिप्रेम ही सर्वोपरि है और उसकी सेवा निष्काम भक्ति से करना मुख्य माना जाता है।

(ख) गान्धीवाद का भी इसमें पर्याप्त प्रभाव है। हिन्दू-मुस्लिम की एकता तथा राजा के लिए सद्भाव रखना, भूखों को भोजन देना एवं दुःखियों को ढाढ़स बँधाना आदि उसके कर्म है। राजा राजकोष का रक्षक है। वह प्रजा के हित में ही उसको व्यय कर सकता है।

अन्त में हमें इस महाकाव्य के सम्बन्ध में यही कहना पड़ता है कि इस काव्य में क्षुद्र विषय सुख-सम्पादन की कुचेष्टा की गई है क्योंकि इस काव्य में उच्च भावना के दर्शन कहीं पर भी नही मिलते है; क्या गयास, क्या सलीम सभी इन्द्रियलोलुप है। जब कभी उन्हें अवसर प्राप्त होता है वे काम-वासना की तृप्ति के लिए उद्यत हो जाते है और नग्न प्रदर्शन करना प्रारम्भ कर देते है। प्रथम सर्ग में जब गयास अपनी बेगम से अन्तिम बार दो प्याले शराब की याचना करता है तो वह प्रफुल्लित हो जाती है और उससे लिपट जाती है। फिर "अधर हिले कहने कुछ ज्योंही चुम्बन की लग गई मुहर।"

सलीम और अनारकली का भी इसी प्रकार का प्रदर्शन देखते है—

"प्रणाम कर वह कृतज्ञता से झुका निगाहें शरम से भर कर,
हटाये पीछे को पैर ज्योंही, कुमार ने अंक में लिया भर।
झुका के सर को निकाल घूंघट दृगों को उसने लजा के मीचा,
कपोल को चूम चूम करके कुँवर ने रमणी को पास खींचा।"

यही नहीं, सलीम अविवाहिता मेहर का चुम्बन करता है, यथा—

"फिर इक ठंढी साँस खींच कर दौड़ अधर चुम्बन ले,
ऊपर उठा लिया हाथों पर लगा लिया सीने से।
उसने कहा हटो सम्हलो तो देखो कोई आया,
छोड़ उसे वह लगा देखने इधर उधर घबड़ाया।
देख न कोई, पुनः खींच कर चुम्बन की वर्षा कर,
बार बार आलिंगन करके गया हर्ष में वह भर।"

इस प्रकार इस काव्य का महत् उद्देश्य क्या हो सकता है अथवा यह काव्य कैसा है इसको तो मै पाठकों के निर्णय पर ही छोड़ता हूँ। इसके विषय में मुझे अधिक नहीं कहना है।

सिद्धार्थ

काव्य-सम्पत्ति—सिद्धार्थ अनूप शर्मा द्वारा प्रणीत महाकाव्य है। यह अठारह सर्गो में विभाजित है। इसकी कथा ऐतिहासिक है, जिसका आधार है—बुद्धचरित्र (अश्वघोष एवं मैथ्यू आरनाल्ड)। इसमें नायक है सिद्धार्थ जो धीरोदात्त गुणों से युक्त है और इन्हीं का चरित्र वर्णन होने के कारण इस ग्रन्थ का नाम सिद्धार्थ रखा गया है। काव्य की नायिका यशोधरा (गोपा) है जो सर्वगुणसम्पन्ना है। शृंगार रस प्रधान है और वीर, शान्त रस उसके काव्योत्कर्ष में सहायक होकर आए हैं।

प्रकृतिवर्णन भी सुन्दर चित्रित किया गया है, किन्तु परम्परानिर्वाह के लिये ही हुआ है। नाट्य सधियों के निर्वाह का प्रयत्न किया गया है। इस काव्य का महत् उद्देश्य है—अहिंसा और समता का प्रचार। और उसी का प्रतिपादन इस काव्य में किया गया है। इस प्रकार यह शास्त्रीय लक्षणों के अनुसार महाकाव्य कहलाने का अधिकारी है।

कथानक—हिमालय की तराई में कपिलवस्तु नाम की एक नगरी थी। उसमें वीर, पराक्रमी राजा राज्य करते थे। राजा शुद्धोधन के कोई सन्तान न थी। एक दिन उन्होंने एक स्वप्न देखा जिसमें बुद्ध के उत्पन्न होने की घोषणा की गई थी। इस घोषणा का पुष्टीकरण गणित-विशेषज्ञों (ज्योतिषियों) द्वारा भी किया गया। तदनन्तर महामाया (राजमाता) गर्भवती हुई और उसकी समस्त कामनाओं की पूर्ति की गई। कालान्तर में बुद्ध जी उत्पन्न हुये और उनका लालन-पालन हुआ।

बुद्ध का बाल्यकाल बड़े आनन्द से व्यतीत हुआ। यज्ञोपवीत हुआ और विद्यारम्भ एवं शस्त्रविद्या का भी शिक्षण सम्पादित हुआ। जब वे इन कलाओं में पारंगत हुए तो एक दिन मृगया के लिए प्रस्थान किया। मार्ग में हंसों को उड़ते हुए देखा। देवदत्त ने उन हंसों में से एक को बेध दिया। उसके गिरने पर इन्होंने उसे उठा लिया और उसका उद्धार किया। वह उस दिन मृगया करने न गये बल्कि लौट आये। मार्ग में उन्होंने एक दीन कृषक को देखा। उसकी दशा को देखकर वे अत्यन्त दुःखी हुए। उसी समय देवताओं ने उनका अभिवादन किया तथा उनकी प्रशंसा की।

राजा को जब कुमार का भाव विदित हुआ तो उनके हृदय में चिन्ता उत्पन्न हुई और अपने वृद्ध मंत्री की मन्त्रणा से वसन्तोत्सव की योजना बनाई। योजना सफल हुई। यशोधरा के सौन्दर्य ने कुमार को अपनी ओर खींच लिया। जब कुमार उसके सौन्दर्य पर आसक्त हो गए तब उन्होंने अपने

पूर्वजन्म की बात (गोप और गोपा) का वर्णन करके, पूर्वप्रेम की पुष्टि की।

यशोधरा के पिता सुप्रबुद्ध के प्रण के अनुसार शस्त्रपरीक्षा में सिद्धार्थ ही विजयी हुए और उसके फलस्वरूप यशोधरा के साथ विवाह सम्पन्न हुआ। मिलन के अवसर पर उन्होंने अपने पूर्वजन्म (सिंह और सिंहनी) की कथा का वर्णन किया कि किस प्रकार वे उस जन्म में एक दूसरे पर अनुरक्त थे और किस प्रकार उन्होंने समस्त सिंहों पर विजय प्राप्त करके उसे प्राप्त किया था। कुछ समय दोनों नव-दम्पति सानन्द वन-वाटिका आदि स्थलों में विचरण एवं विहार करते रहे। उसके पश्चात् उनके मन में भ्रमण करने की इच्छा उत्पन्न हुई, अतः उसकी पूर्ति का आयोजन हुआ। जब वे भ्रमणार्थ बाहर जा रहे थे, उन्हें मार्ग में समस्त पदार्थ सुन्दर ही दिखलाई दिये। कोई भी अप्रिय वस्तु राजाज्ञा के कारण सम्मुख न दिखलाई पड़ी। बुद्ध ने अपने सारथी को आदेश किया कि वह रथ को ग्राम के मध्य में ले चले। वहाँ पर पहुँचने पर एक जरठ को देखा जिसने इनके मानसपटल पर अपनी जरठता का प्रभाव डाला। वे चिन्तित हो उठे और प्रासाद को लौट आये। गोपा ने इसका कारण जानना चाहा तो बुद्ध ने बतलाया कि संसार की असारता ही उसे चिन्तित किये हुये है और कोई अन्य विशेष कारण नहीं।

रात्रि में राजा शुद्धोधन को सात स्वप्न दिखलाई पड़े। स्वप्न बड़े रहस्यमय थे। उनका रहस्य अपरिचित साधु द्वारा व्यक्त किया गया। उसी दिन से राजा सतर्क हो गये। कालोपरान्त कुमार राजाज्ञा प्राप्त होने पर वणिक-वेश में छन्दक के साथ ग्राम्य दशा देखने को गये। मार्ग में एक वृद्ध तथा एक मृतक को देखा। छन्दक द्वारा जरा-मरण पर प्रकाश डाला गया। कुमार अति दुःखित हुआ। छन्दक ने कुमार के निश्चय को राजा से कहा। राजा ने कुमार पर कड़ा पहरा बिठा दिया। अब कुमार बन्दी की तरह रहने लगे। एक रात्रि को यशोदा ने स्वप्न देखा। कुमार ने उसके स्वप्नो पर उसे सान्त्वना प्रदान की और उसे शान्ति से सोने को कहा। जब यशोधरा सो गई तो कुमार ने घर से निकलकर छन्दक के साथ महाभिनिष्क्रमण किया। मार्ग में छन्दक को किरीट आदि देकर राजा को सन्देश देने के लिये लौटा दिया। प्रातःकाल जब यशोधरा को ज्ञात हुआ कि उसका पति उसे छोड़कर चला गया तो वह करुण क्रन्दन करने लगी जिसे सुनकर राजा-प्रजा सब लोग दुःखी हुए।

कुमार ने भिक्षुरूप धारण कर लिया और दक्षिण विहार में सेन ग्राम के निकट तपश्चर्या प्रारम्भ की और ऐसी घोर तपस्या की कि वे संज्ञा-

शून्य हो गये। एक गडरिये के द्वारा दूध पिलाने से उन्हें जीवन प्राप्त हुआ और सुजाता ने उन्हें खीर खिलाकर पुष्ट किया। तत्पश्चात् वे बोधि-वृक्ष की ओर गये जहाँ पर कामदेव पर विजय प्राप्त की, और यहीं पर महा-सम्बोध हुआ। इसके पश्चात् वे धर्मप्रचार में लग गये। एक दिन एक विधवा के पुत्र को जीवित किया तथा राजा बिम्बसार के नगर में जाकर पशु-बलि बन्द कराई और उसे उपदेश देकर अपने धर्म में दीक्षित कर लिया। इसके पश्चात् यशोधरा को भी जब उनके गाँव के लोगों के द्वारा समाचार प्राप्त हुआ तो उनके पिता ने दूत भेजकर उन्हें बुलाया। बुद्ध जी अपने ग्राम को आये और सबको दीक्षित कर अपने मत का अनुयायी बनाया। इसके पश्चात् वे १५ वर्ष तक देश में पर्य्यटन एवं अपने सिद्धान्तों का प्रचार करते रहे। अन्त में कुशीग्राम में जाकर अन्तिम उपदेश दिया और निर्वाण को प्राप्त हो गये। यही इस काव्य का कथानक है। कथानक पर विचार करने के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि इसमें कथासूत्र कहीं पर नष्ट नहीं हुआ तथा श्रृंखलाबद्ध कथानक के दर्शन होते है। इस विचार से यह कथानक महाकाव्य के लिये उपयुक्त है।

चरित्र-चित्रण—यह महाकव्य चरित्रप्रधान काव्य है। इसमें मुख्य पात्र सिद्धार्थ और गोपा ही है। यद्यपि अन्य पात्र दवदत्त, छन्दक, शुद्धोधन, बिम्ब-सार तथा सुजाता आदि आते है, किन्तु ये सब पात्र कोई विशेष महत्त्व नहीं रखते। सिद्धार्थ का चरित्र अवतार मान करके ही चित्रित किया गया है। पूर्वजन्म में ये सिह थे, फिर गोप बने, अब इस स्वरूप में फिर उत्पन्न हुए। इसमें कौनसी बात मान्य समझी जावे? यदि कर्मवाद ही मान लिया जावे तब भी वे मानव के रूप मे हमारे समक्ष उपस्थित हो सकते है, ईश्वर के अव-तार नहीं। अस्तु! इस पर अधिक विवेचन की आवश्यकता नहीं।

सिद्धार्थ—जन्म से ही सौम्य प्रकृति के एवं बुद्धिमान थे। विद्यारम्भ से ही अपनी विद्वत्ता का परिचय समस्त लिपियाँ लिखकर गुरु को दिया—

"खस, पिशाच, हिमालय अंग की मग, खरोष्ट, तुरुष्क कलिंग की।
मलय मालव, उत्कल, बंग की कुँवर ने लिपियाँ लिख दीं सभी॥"

यही नहीं, वे अच्छे धनुर्धर एवं लक्ष्यभेदी भी थे। इसका परिचय विहंग के पद-मध्य-भेदन से दिया जिससे कि वह पक्षी बिना वध ही बाण पर बैठा ऊपर गया। यह केवल लक्ष्यपरीक्षा ही नहीं थी, किन्तु उनके उदार हृदय एवं अहिसा वृत्ति की परिचायिका भी थी, क्योंकि उन्होंने सकरुण हो पक्षी का वध करना स्वीकार नही किया।

वे पशु-पक्षियों पर दयालु थे। जब देवदत्त ने हंस को अपने बाण से विद्ध कर उसे धराशायी कर दिया तब इन्होंने ही उसकी परिचर्या की और उसे स्वस्थ करके जीवनदान दिया। यह इनकी सहृदयता एवं उदारता का उत्कृष्ट चिह्न था। वे वीर भी थे। इन्होंने अपनी वीरता से ही गोपा का वरण किया था।

वे प्रेमी भी थे और अपने प्रेम का परिचय गोपा को दे चुके थे। वे राजकुमार अवश्य थे किन्तु उनके हृदय में कल्याण करने की भावना सदैव वेग रूप में प्रवाहित रहती थी।

वे किसी को रोगी, दुःखी नहीं देख सकते थे। यही कारण था कि इनके निवारणार्थ ही इन्हें गृह का परित्याग करना पड़ा।

ये दृढ़व्रती थे। इनका संकल्प विकल्प में परिणत नहीं होता था। यही कारण था कि कामदेव की सारी शक्ति क्षीण हो गई और इनको पथ से विचलित न कर सका। यही नहीं, इन्होंने प्रकृति के प्रकोप को भी दृढ़ता से सहन किया। वे—

> "परन्तु सिद्धार्थ अकम्प ही रहे डिगे न डोले दृढ़ ही बने रहे।
> महा अहिंसामय सत्य धर्म का सुपाठ सारे जग को पढ़ा दिया॥"

अन्त में हम देखते हैं कि उनके दृढ़ संकल्प के कारण ही भारत में गतानुगतियों का निराकरण हो सका—

> "फैला धर्म प्रभात था अवनि पीयूष संचार सा,
> रोगी, वृद्ध, अशक्त भी मुदित थे पा स्वास्थ्य की संपदा।
> भूपों ने रण से निवृत्त असि की क्रोधाग्नि से मुक्त हो,
> सारी संसृति सत्य चिन्तन परा निर्वाण भावा बनी॥"

स्त्रियों को समाज मे उच्च स्थान नहीं प्राप्त था। पशुबलि तो पराकाष्ठा को पहुँच गई थी किन्तु सत्य और अहिंसा द्वारा ही ये समता का प्रचार कर सके और आपस के विद्वेष को शान्त कर सके।

यशोधरा—इसके दर्शन हमें वसन्तोत्सव के अवसर पर मिलते है, जहाँ पर हमें नारीसुलभ क्रीड़ा के दर्शन नहीं प्राप्त होते। वह तो एक वीरांगना के रूप में प्रस्तुत की गई। उसके वचन एवं उसका हाव-भाव विचित्र-से ही प्रतीत होते हैं। वह कहती है--

> "पहुँच के वह पास कुमार के,
> विपुल - विभ्रम - युक्त खड़ी हुई।
> दृग मिलाकर, चंचल भौंह से,
> 'कुछ मिले मुझको' कहती हुई॥"

उसके दर्शन हमें स्वयम्वर के अवसर पर मिलते है। वहाँ पर भी उसके सौम्य एवं सुरुचि के दर्शन नही मिलते। देखिये—

"चली यदा सस्मित मनोरमा,
रदावली अग्रिम-वर्तिनी खुली;
हुई सभा धौत प्रभात-अंशु मे,
खिली सभी के मुख में सरोजिनी॥"

"रदावली अग्रिम-वर्तिनी खुली" से उसके हृदय की गहराई देखी जा सकती है जो उसकी गम्भीरता की कमी की ओर संकेत करती है।

वह कामिनी है। उसकी दिनचर्या से भी उसकी मादकता की स्पष्ट छाप दिखाई पड़ती है: यदि दैवयोग से सिद्धार्थ यामिनी में जाग पड़ते हैं तो भी वह उन्हें राग-रंग रच के रिझाती है।

"उनमत्त स्वीय रव पै बन कोकिला सी,
वीणा मृदंग पर मञ्जुल गान गाती।
झंकार रंग गृह में कर घुंघरू की,
जंघा नितम्ब कुछ बाहु हिला हिला के।
वे हाव-भाव-युत नेत्र नचा नचा के,
है नाचती सुभग साज मिला मिला के॥"

वियोग के अवसर पर भी वह सिद्धार्थ के लिये कहती है कि आप नाना सुखों को भोगने वाले कैसे चल दिये—

"अब पदाति कहाँ तज के चले,
सदन, सेज, सुरा, सखि, सुन्दरी॥"

उसे केवल नाना प्रकार के भोग-विलास की ही स्मृति रहती है और यह उसके लिए स्वाभाविक भी था। उसका करुण क्रन्दन उसकी आन्तरिक वृत्तियों का ही द्योतक है। वह भ्रमर से कहती है—

"भ्रमर तू मम आनन से कभी,
उलझता अति था लख कंज सा।
कर बढ़ा कर आकर शीघ्र ही,
दयित वारित थे करते तुझे।
अभय होकर आ मम पार्श्व में,
अब सुदूर गए वह वीर हैं।
पर न तू टस से मस हो रहा,
भ्रमर क्या तुझसे जग रुष्ट है?"

वह पुत्रवती है। उसका यह करुण क्रन्दन हास्यास्पद ही प्रतीत होगा क्योंकि न तो वह पुत्र के समक्ष अनर्गल विलाप ही कर सकती है और न संयोग की बातें ही कर सकती है। अन्त मे अवश्य ही हमें उसके उच्च विचारों का प्रदर्शन उसके सन्देश द्वारा मिलता है। उसे अब किसी प्रकार की कामना नहीं है, केवल वह अपने पति के चरण-कमल-स्पर्श और उनके भव्य रूप को ही देखना चाहती है। उसकी अन्तिम-आन्तरिक-अभिलाषा यह है कि—

> "कहीं नृपालोचित गेह त्याग से,
> हुआ बड़ा हो यदि लाभ आपको।
> मुझे न कोई सुख और चाहिये,
> मदीय अर्द्धांगिनि अर्द्धभाग दो।"

अब यशोधरा का वह स्वरूप, जो प्रथम देखा गया था, उसमें आमूल परिवर्तन हो गया है। अब तो वह विशुद्ध सन्यासिनी बन गई है।

> "हो सम्बुद्ध यशोधरा बन गई सन्यास की पुत्तली,
> शुद्ध, ब्रह्मस्वरूपिणी सुगति की सर्वांगिनी हो गई।"

यशोधरा का विरह एवं उसका विलाप कुछ सीमा तक उचित माना जा सकता है। उसके पश्चात् उसका विरहनिवेदन केवल परम्परानिर्वाह ही कहा जायेगा। यद्यपि वह युवती है और गर्भवती भी, अतः उसकी प्रिय की विरह-व्यथा में व्याकुलता उचित ही है किन्तु इसके साथ ही उसका विरह संयमित होना चाहिये। दूसरे, उसका विरह-निवेदन हंसदूत द्वारा अथवा भ्रमर द्वारा भेजना उचित नहीं कहा जा सकता क्योंकि इसकी स्थिति और राधा की स्थिति में पर्याप्त अन्तर है। राधा के लिये जो वस्तु उचित हो सकती थी वह यशोधरा के लिये मान्य नहीं हो सकती, क्योंकि वह शीघ्र ही पुत्रवती बन जाती है जिसके कारण उसके विरह का प्रवाह दूसरी ओर प्रवाहित होने लगता है और उसका स्थान पुत्रप्रेम ले लेता है।

प्रकृति-चित्रण—आधुनिक काल का प्रकृति-चित्रण आलम्बन स्वरूप में होता है। इस काव्य में भी प्रकृति का चित्रण आलम्बन रूप में ही अधिक हुआ है। भाद्र मास की राका-रजनी का स्वरूप कितना भव्य है—

> "समग्र फैली अति शुभ्र चन्द्रिका,
> खिली मुदा कैरव-तारिकावली।
> बना नभोमण्डल है तड़ाग सा,
> निशेष है शोभित राजहंस सा।"

प्रकृति का मानवीय पृष्ठाधार स्वरूप—जब प्रकृति मानवीय व्यापारों की पृष्ठाधार बनती है तो दो प्रकार से उसे व्यक्त किया जाता है। उसे कहीं पर अनुकूल और कहीं पर प्रतिकूल रूप में प्रकट किया जाता है। जब रानी दोहद-इच्छा-पूर्ति के लिये वन को जाती है तो सारा वन आह्लादपूर्ण हो जाता है, क्योंकि ईश्वरावतार होने जा रहा है। अतः प्रकृति भी सानुकूल बन जाती है—

"आनन्द युक्त विकसीं कलियाँ बनों में,
आये अकाल फल सुन्दर पादपों में।
शाखा झुकीं सकल सत्वर फालसा की,
छोटी गुफा बन गई अति रम्य भू पै।"

प्रकृति का सम्वेदनात्मक स्वरूप—जब सिद्धार्थ गृह त्याग करके चले जाते हैं उस समय की प्रकृति भी विलाप करती हुई दृष्टिगोचर होती है। यथा—

"गगन की वह सुन्दर लालिमा,
निधन की भयदा रसना बनी।
सरित की लहरें असु लेहिनी,
लहरने खलु व्यालिनी सी लगीं।"

प्रकृति का भयंकर स्वरूप—प्रकृति किस प्रकार से मानव को अपना उग्र रूप प्रकट करके उसे सशंकित बनाती है—

"कादम्बिनी कड़कती गुरु गर्जना से,
कम्पायमान भय पीड़ित मेदिनी थी।
होके महान प्रबला तड़िता अदम्या,
कान्तार पै अशनि घोर गिरा रही थी।"

प्रकृति का सौम्य स्वरूप—जब प्रकृति की उग्रता समाप्त हो जाती है तो उसके पश्चात् उसके सौम्य एवं मधुर रूप के भी दर्शन होते हैं—

"रेखा जो धुंधली दिगंत पर थी सो रक्त होने लगी।
दोषा थी तमसावृता गगन में सो भी अदृश्या हुई।
डूबा निष्प्रभ शुक्र व्योम तल में भू पै प्रभा छा गई।
क्या ही पुण्य प्रभात विश्वतल में फैला महज्ज्योति से!"

प्रकृति का उद्दीपन स्वरूप—इस काव्य में कहीं कहीं पर प्रकृति के उद्दीपन स्वरूप के भी दर्शन प्राप्त होते हैं। यथा—

"लखो नदी सागर ओर जा रही, बकावली तोयद में समा रही।
चली नवोढ़ा प्रिय के समीप में क्षणप्रभा मार्ग उसे दिखा रही।"

प्रकृति का सहचरी स्वरूप— जब मानव अति दुःखित होता है तो वह दुःख के कारण अपने को भूल जाता है और नाना प्रकार के प्रलाप करता है। यशोधरा अपने प्रियतम के विरह में दुःखी है। उसे चेतना नही है। अतः वह प्रकृति से अपना दुःख निवेदन करती है। कभी वह भ्रमर से बात करती है और कभी नदी से अपनी तुलना करती है एवं कभी हंसों को निर्देशन करती है। हंस नैषध में दूत का कार्य कर चुके है। अतः वह भी हंस को अपना वृत्तवाहक बनाती है। यथा—

"उद्यानों में नवल अबला झूलती हों जहाँ पै,
होंगे ऐसे स्थल पर नहीं प्राण प्यारे हमारे।
होंगे बाबा वह न जिनके संग में चेलियाँ हों,
एकाकी ही भ्रमण करते "एक" को खोजते जो।"

यही नही, प्रकृति की उपमा और उत्प्रेक्षाओं द्वारा उनके शरीर का परिचय भी दिया है। यथा—

"जैसी होती शरद् ऋतु की उज्ज्वला मेघ माला,
प्यारे का भी विमल तन है स्वच्छता युक्त वैसा।
दोनों कन्धे वृषभ-सम हैं, वक्ष है वज्र सा ही,
राजाओं का वदन रहता युक्त वर्चस्वता से।"

आपका प्रकृति-वर्णन प्रियप्रवास के अनुसार ही हुआ है। कहीं कहीं पर प्रकृति-चित्रण मे इस पर प्रियप्रवास की स्पष्ट छाप दिखलाई देती है—

"शाखा समूह हिम-दीधिति-धौत-सा है,
है पत्र-पुष्प सब शोभित कौमुदी में।
लोनी लता ललित-पेशल वल्लरी की,
आराम में अकथनीय प्रभात सी है॥"

प्रियप्रवास का चित्र देखिये और उससे तुलना कीजिये—

"ये स्नात से सकल पादप चन्द्रिका से,
प्रत्येक पल्लव प्रभामय दीखता था।
सारी लता सकल बेलि समस्त शाखा,
डूबी विचित्र तर निर्मल ज्योति में थी।"

रस और भाव—इस काव्य में शृंगार, करुण, वात्सल्य और शान्त रस का सन्निवेश है। मुख्यतः शृंगार रस के दोनों पक्षों का पूर्णतया निर्वाह हुआ है। वसन्तोत्सव के अवसर पर यशोधरा ने अपने हाव-भाव से ही सिद्धार्थ को अपनी ओर आकर्षित कर लिया है।

"अधर पै स्थित ईशत हास का,
दृग जुड़े दृग से शकनाथ के।
त्वरित से निज हार कुमार ने,
उस सुधानिधि को पहना दिया ॥"

इस प्रकार दोनों के हृदय में प्रणय का सचार हुआ और इसकी पुष्टि राग सर्ग में हो गई—

"वीणा विलोक बजती प्रिय तरजनी से,
भ्रू भंग देख प्रिय बंकिम लोचनों का।
क्या स्वेद का वदन से वह पोंछना था,
हो ही गया तरल चित्त यशोधरा का।"

❀ ❀ ❀

"आ ही गया अधर पै मन श्वास होके,
हो ही गये सरस लोचन कामिनी के।
उत्तुंग देख मकरध्वज - वैजयन्ती,
छाई उदात्त रति की विजयाभिलाषा।"

वही यशोधरा जब अपने प्राणेश को शयनागार में नहीं पाती है तो उसके मन पर वज्राघात होता है। वह कातर होकर रुदन करने लगती है। यह कातरोक्ति उसके वियोग को व्यक्त करती है। यथा—

"अहह, नाथ, हहा! मम प्राण हे!
हृदय के धन, जीवन-सार हे!
विरह-वारिधि में तज के मुझे,
कब, कहाँ, किस ओर चले गये ?"

यशोधरा के वियोग की विभिन्न दशाये दिखाई गई है—

(क) कभी वह उनकी त्यक्त की हुई वस्तुओं को भेंटती है।

(ख) कभी वह अपने पुत्र में छवि को निरख करके ही सन्तोष-लाभ करती है।

(ग) कभी कभी बादलों को देखकर उनके समान आँखों का स्मरण हो आता है और उसकी स्मृति तीव्र हो उठती है। यथा—

"तज कर निकले थे वे जिसे यामिनी में,
उस कटि-पट को थी भेंटती खिन्न गोपा।
जब अति दुःख पाती, सोचती ऊब जाती,
दृग भर कर प्यारे पुत्र को देखती थी।"

सरोज की अर्द्ध-प्रफुल्लित कली को देखकर वे उसके पास गईं, क्योंकि–

"राकेश का लोचन-साम्य देख के
महादुःखी पास गई यशोधरा,
स-दुःख सम्बोधित यों किया उसे
कहीं कथाएँ हृदयानुभूति की।"

वे उसे भी अपनी दशा में रखना उचित समझती है। वह कहती है कि–

"अये, प्रिये, हे कलिके, अनूपमे,
पराग-गर्भ, अनुराग - रंजिते।
प्रफुल्ल-प्राये, अलि - संग-चेष्टिते,
न पूर्ण उत्फुल्ल बने कदापि तू।"

वात्सल्य—इस काव्य में वात्सल्य रस का भी आस्वादन करने को मिलता है। बालकों की जितनी बाल-चेष्टाएँ होंगी वे सब इसी के अन्तर्गत आयेंगी। देखिये सिद्धार्थ का घुटनों चलना, किलकारी भरना उद्दीपन है जो स्थायीभाव स्नेह को पुष्ट करते है। यथा—

"अजिर में घुटनों चलते हुए,
सुमुख में कुछ वे जब डालते।
चकित - खंजन - लोचन अंबिका,
त्वरित अंगुलि डाल निकालती।"

रौद्र—इसका भी एक चित्र देखिये—

"उठे जरा-श्वेत स्व-गुँफ ऐंठते,
स-रोष उर्वीपति दाँत पीसते।
समस्त सामन्त-समेत गेह से,
तुरन्त ही कम्पित-ओष्ठ हो चले।"

शान्त रस—संसार की असारता आलम्बन तथा तीर्थ, पुण्याश्रम उद्दीपन होते हैं। यथा—

"धनिक, निर्धन, ब्राह्मण, शूद्र, या
नृपति, भिक्षु, सुखी अथवा दुःखी।
मर गये, मरते, मर जायेंगे,
मरण तो सबका अनिवार्य है।"

सब रसों का एक प्रसंग देखिये जिसमें उषा की लालिमा को देखकर समस्त सखियों ने नाना प्रकार की कल्पनाओं द्वारा सब रसों का प्रकटीकरण किया है। यथा—

"बोली लता प्रथम एक सरोरुहाक्षी,
होता प्रतीत मुझको विधु-आनन, यों,
आये दिवापति नहीं अब भी इसी से,
रक्तानना बन रही उदया दिशा है।
बोली स-दर्प अपरा प्रतिभास होता
संग्राम-क्षेत्र यह रक्त सुरासुरों का,
जो चन्द्र हेतु अति क्रोधित हो लड़े हैं,
की मारकाट यक्ष भाग गये कहीं को।
बोली तृतीय वनिता अति धीरता से,
प्राची हुई दुःखित है जननी निशा की,
जाती विलोक पति-धाम स्वकन्यका को,
सो अस्र के सदृश अश्रु बहा रही है।
चौथी सखी तब लगी कहने, मुझे तो
होता प्रतीत नभ की उस देहली पै,
होके नृसिंह हरि ने अपने करों से
चीरा हिरण्य-वपु-वक्ष सरोष मानों।
भारी विचार कर भामिनि पाँचवीं भी
बोली, शशांक वदने, लखिए उषा को,
कैसी अनूप बहु-रंग-विरंग वाली
होती अहो ! प्रकट है बहुरूपिणी-सी।
बोली छठी छविवती युवती छबीली,
प्राची रही हँस, महा यह पुंश्चली है,
पीछे कहीं प्रथम प्रेमिक को छिपाया,
स्नेही द्वितीय कर खींच बुला रही है।
तो सातवीं यह लगी कहने कि भू पै,
प्राची खड़ी वमन है करती लहू का,
हा ! कोक का, कमल का, विधुरा सती का
पी रक्त जो विकल घोर अजीर्ण से थी।
यों ही किया कथन कामिनि आठवीं ने,
प्राची पिशाचिनि महा-भय-दायिनि है,
हो दीर्घ-व्याहृत-मुखी सुरसा-समाना,
संसार को निगलने यह आ रही है।

आता मदीय मन में सुन वाक्य ऐसे
चन्द्रानने, कुछ कहा मुझसे न जाता,
कुक्षिस्थ बाल-प्रति जो भवदीय इच्छा
सो मूर्तिमान अनुराग बनी खड़ी है।"

इस प्रकार इन पदों मे क्रमशः शृंगार, वीर, करुण, रौद्र, अद्भुत, हास्य वीभत्स, भयानक एवं वात्सल्य रसों का प्रदर्शन हुआ है।

भाषा और शैली—इस काव्य की भाषा संस्कृत के तत्सम शब्दों से परिपूर्ण है। यद्यपि यह समासबहुला नहीं है, किन्तु ऐसे अप्रचलित शब्दो का समुदाय काव्य में प्रथित कर दिया गया है जिससे काव्य का प्रवाह अवरुद्ध हो गया।

यथा—

"प्लवंग से पातित वृक्ष के तले,
विहंग से खादित गुल्म से गिरे।
पड़े हुए जो मिलते यदा कदा,
इन्हीं फलों पै रहते कुमार थे।"

प्लवंग शब्द अप्रचलित शब्द है। इसी प्रकार किसी न किसी पक्ति में एक-दो अप्रचलित तत्सम शब्द मिल ही जाते है। यह सब होते हुए भी भाषा सशक्त एवं ओजपूर्ण है तथा भावों को व्यक्त करने की क्षमता रखती है। अलंकारों का प्रयोग भी हुआ है—विशेषकर अनुप्रास, सन्देहालंकार, उपमा तथा उत्प्रेक्षा आदि का।

अनुप्रास— "सदन सेज सुरा सखि सुन्दरी"
सन्देहालंकार—"कमल थे मृग थे कि सुनेत्र थे।
विहंग थे शिव थे कि उरोज थे॥
मुकुर था विधु था कि मुखाब्ज था।
तड़ित थी रति थी कि यशोधरा॥"

मानवीकरण का भी प्रयोग हुआ है। यथा—

"तमिस्रे, हे निद्रे कमल दल यों बन्द कर दो,
कि गोपा के दोनों नयन पुट भी आवृत रहे।
अहो ज्योत्स्ने वामा अधर अब सम्पुष्ट कर दो,
सुनाई दें हा हा वचन उसके जो न मुझको॥"

कहीं कहीं पर ध्वन्यर्थ-व्यञ्जक शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। यथा—

(क) "क्वरणन कंकण का कमनीय था।"

(ख) "फड़फड़ा कर पंख विहंग भी,
उड़ उड़ा कर भू पर बैठते।"

(ग) "रणन नूपुर यों करने लगे,
हम बड़े पद वन्दन से हुए।"

आपने शब्दचित्र भी उपस्थित किये है। हंसों का एक चित्र देखिये—

"उदग्र-ग्रीवा रजनीश - रश्मि - सी,
सधैर्य - उत्तोलित पुच्छ - पक्ष थी।
सटे हुए थे पद - युग्म पेट से,
सहंस, हँसी उड़ती सहास्य थी।"

शैली—इस काव्य की रचना प्रियप्रवास की शैली पर हुई है। यह काव्य भी संस्कृतवृत्तों में लिखा गया है। आपकी शैली की विशेषता यह है कि उर्दू के शब्दों का नितान्त अभाव है। आपने द्रुतविलम्बित, शार्दूलविक्रीड़ित, वसन्ततिलका, भुजंगप्रयात, शिखरिणी आदि छन्दों का प्रयोग किया है किन्तु कविता अतुकान्त ही हुई है। समासों का प्रयोग भी हुआ है किन्तु वे अधिक लम्बे नहीं होने पाये है। आपकी शैली में प्रोक्ति (मुहावरों) का भी प्रयोग हुआ है। यथा—

(क) "गगन व्याज हुआ महि मूल का,
गुरु रहा गुड़ शिष्य सिता बना।"

(ख) "शयन शून्य विलोक हुई दुःखी,
शुक उड़े उसके कर से तभी।"

आपकी शैली स्तुत्य होते हुए भी अप्रयुक्त शब्दों के प्रयोग से एवं साधारण शब्दों पर भी संस्कृत का रंग चढ़ाने से भाषा का सौन्दर्य बहुत कुछ नष्ट हो गया है। कहीं कहीं पर तो अशक्त भाषा का प्रयोग किया गया है। यथा—

"युग नयन नुकीले हो गए हाय! ढीले।
अति सुखद रसीले श्यामल जो कभी थे॥"

नेत्रों के ढीले होने से क्या तात्पर्य है? यह कल्पना यशोधरा के लिए किस प्रकार उचित कही जा सकती है? नेत्र दूसरे के लिए भले ही अपना प्रभाव नष्ट कर चुके हों, उसके लिए तो वे वैसे ही हैं।

अन्य प्रभाव—आधुनिक काल का प्रभाव इस काव्य पर परिलक्षित नहीं होता। इसकी भाषा और शैली एवं प्रकृति-चित्रण पर प्रियप्रवास का प्रभाव पड़ा है। निम्न उदाहरण पर्याप्त होंगे—

"अलि कढ़े सरसीरुह कोष से,
भ्रमित थे मन की अनुभूति में।

परम म्रान्त नितान्त मलीन से,
कुमुद सम्पुट भी न म्रीव थे॥"

(ख) 'व्यथावर्णन' पृष्ठ दो सौ मे भी साम्य है।

(ग) "दिवस बीत गए रजनी कटी,
विपुल पक्ष गये बहुमास भी,
तब कहीं हत चित्त यशोधरा,
तनुज राहुल पाकर के हुई॥"

(२) स्त्रियों के सौन्दर्यवर्णन मे भी कोई विशेषता नही है। रीतिकालीन परम्परा अपनाई गई है। यथा—

"कलश - से उठते कुछ युग्म पै,
लसित हीरक - हार अनूप थे।
कटि समागत यौवन काल में,
बन रही अधिकाधिक क्षीण थी॥"

(३) इस बौद्धिक युग में गतानुगतियों पर विश्वास एव उनका वर्णन हास्यप्रद ही प्रतीत होता है। भले ही कुछ श्रद्धालु व्यक्ति इस बात पर विश्वास कर ले कि भगवान् के उत्पन्न होने की घोषणा समस्त दिशाओं से हुई अथवा सिद्धार्थ और यशोधरा सिंह और सिंहनी थे किन्तु साधारण व्यक्ति इस पर विश्वास नही कर सकते—विशेषकर अन्तर्देशीय।

(४) साम्य भाव एवं अहिंसा ये तो बुद्ध जी की शिक्षायें ही थी। आधुनिकता का इस पर आरोप नहीं किया जा सकता।

वैदेही-बनवास

काव्य-सम्पत्ति—वैदेही-बनवास हरिऔध का कारुण्यप्रधान महाकाव्य है। महाकाव्यों के लक्षणों के अनुसार यह ग्रन्थ १८ सर्गो मे विभाजित है। इसकी कथा प्रख्यात है। इसका आधार है उत्तररामचरित एवं रामायण। कथानक में गतिशीलता है किन्तु लम्बे प्रकृति-चित्रणों और विचार-सूत्रों के कारण उसमें बाधा अवश्य उत्पन्न हो गई है। सूक्ष्मतर घटनाओं की कमी और जीवन की अनेकरूपता का अभाव भी परिलक्षित है। नायक मर्यादापुरुषोत्तम रामचन्द्र हैं जो धीरोदात्त गुणों से युक्त हैं। भिन्न-भिन्न रसों का समावेश भी है किन्तु कारुण्य की ही प्रधानता है। कथानक में एकरूपता है क्योंकि ~~इसमें~~ केवल वैदेही-बनवास की ही घटना का समावेश है, इसलिये सम्बन्ध-निर्वाह में कोई बाधा नहीं उपस्थित होती। अतः यह महाकाव्य के धरातल को स्पर्श कर लेती है। यदि इस काव्य में कुछ परिवर्तन एवं परिवर्द्धन किया गया होता तो यह एक उत्तम महाकाव्य कहला सकता था।

कथानक—प्रफुल्लचित्त राम और सीता उद्यान में मनोरम दृश्य देख रहे थे। उसी समय लंकादहन के भीषण दृश्य की स्मृति ने सीता को खिन्न बना दिया। सीता जी को व्याकुल देख राम ने सान्त्वना प्रदान की और घर लौटे। जब रामचन्द्र अपने भवन में थे उस समय गुप्तचर द्वारा एक दोषारोपण सुना। दुर्मुख की बात पर मन्त्रणा ली गई। प्रत्येक ने स्वीकृति दी कि दमननीति से कार्य करना चाहिए किन्तु राम इस नीति मे विश्वास नही करते थे। वे तो सामनीति को ही उत्तम समझते थे। अतः उन्होंने लोकाराधन का मन्त्र स्वीकार किया और बड़े से बड़ा त्याग करने के लिए तत्पर हुए।

वशिष्ठ जी से भी परामर्श हुआ। उन्होंने सीता जी को वाल्मीकि-आश्रम में परम्परा-निर्वाह के लिए भेजने की सम्मति दी। राम ने सीता जी को समस्त परिस्थिति का परिचय एवं अपवादशमन के हेतु वाल्मीकि-आश्रम में निवास करने का प्रस्ताव रखा। सीता जी ने लोकाराधना अथवा प्रभु-आराधना निमित्त सब कुछ त्यागने का निश्चय किया। वन जाने से पूर्व सीता जी ने अपनी सास से अपनी मनोव्यथा प्रकट की और राम को किसी प्रकार का कष्ट न होने देने का आश्वासन प्राप्त किया। दूसरे दिन लक्ष्मण के साथ वाल्मीकि-आश्रम के लिए प्रस्थान किया और वहाँ पहुँचकर अपना समय व्यतीत करने लगीं। कालोपरान्त रिपुसूदन वहाँ पर पहुँचे और अपने मथुरागमन का संदेश सुनाया और विदा लेकर प्रस्थान किया। उसी दिन सीता जी ने युगल-पुत्र उत्पन्न किये। बालकों का नामकरण-संस्कार हुआ। सीता जी बालकों का लालन-पालन करतीं और महिलाओं को दाम्पत्य-दिव्यता की सार्थकता समझातीं और विज्ञानवती आदि की समस्त शंकाओं को निर्मूल करती रहतीं। मथुरा में शान्ति स्थापित करने के पश्चात् जब शत्रुघ्न घर को लौटे उस समय मार्ग में आश्रम पर पहुँचकर मथुरा की दशा बतलाई और सीता जी को वाल्मीकि जी के साथ साकेत पहुँचने की सूचना भी दी।

एक दिन राम शम्बूक को खोजते हुए पंचवटी पहुँचे। वहाँ जनदेवी की व्याकुलता को शान्त करते हुए यह भी कहा कि सीता अश्वमेध यज्ञ में अवश्य पधारेंगी। यज्ञ के अवसर पर सीता जी वाल्मीकि के साथ पुत्रों सहित साकेत पहुँची, किन्तु जैसे ही रामचन्द्र का चरणस्पर्श किया कि उनका प्राणान्त हो गया। इस प्रकार इसका कथानक समाप्त होता है।

कथानक में गतिशीलता होते हुए भी सूक्ष्मतर घटनाओं की कमी अवश्य खटकती है। काव्य में लवणासुर-वध, अश्वमेध के प्रसंग में लवकुश-संग्राम, सीता के वात्सल्य के लिए स्थान होते हुए भी उनका चित्रण नहीं किया गया।

वैदेही-वनवास के कथानक में पर्याप्त सुधार हुआ है। रामायण और रघुवंश में तो सीता जी को गंगातट पर त्यक्त करने के समय बतलाया जाता है कि राम ने उनका परित्याग किया है। वे इस सम्वाद को सुनकर मूर्छित हो जाती है किन्तु सम्हलकर आत्मसंयम के साथ रामचन्द्र जी को जो सन्देश भेजे वे अपूर्व हैं। उत्तररामचरित में सीता के निश्चय की अवगति वन में पहुँचने पर ही हुई। यद्यपि ये दोनों प्रसंग मनोवैज्ञानिक नहीं हैं तथापि हरिऔध जी ने तो इस दिशा में क्रान्ति ही उपस्थित कर दी। उन्होंने राम द्वारा सारी परिस्थिति का परिज्ञान सीता जी को करा दिया। सीता जी ने उसे शिरोधार्य किया और लोकाराधन के लिए अपने सुखों की बलि दे दी। हरिऔध के इस मनोवैज्ञानिक परिवर्तन ने राम और सीता के चरित्र को महान् बना दिया, एवं क्रमागत लाञ्छन का परिमार्जन किया है।

लोकाराधन ही इस काव्य का सन्देश है। इसको स्वीकार करने के लिए आत्मगत सुखों की तिलांजलि देनी पड़ती है। यह कंटकाकीर्ण मार्ग है एवं असिधारा है। इसी मार्ग का अनुसरण करती हुई सीता जी ने प्राणों को उत्सर्ग कर दिया।

चरित्र-चित्रण—इस काव्य में बहुत थोड़े चरित्र हैं जिनका पूर्ण विकास नहीं हुआ है। पात्रों में रामचन्द्र एवं वैदेही जी का चरित्र प्रमुख है। लक्ष्मण, शत्रुघ्न आदि गौण।

रामचन्द्र—रामचन्द्र जी का चरित्र आदर्श नृपति के रूप में प्रस्तुत किया गया है। वे आदर्शवादी होने के कारण दुर्मुख द्वारा सुनी हुई बात को अनसुनी नहीं कर सके और भाइयों के विरोध करने पर भी सामनीति को अपनाने के लिए दृढ़संकल्प हुये, क्योंकि उनकी धारणा है कि—

> **"राज्य पद कर्तव्यों का पथ, गहन है है अशान्ति आलय,**
> **क्रान्ति उसमें है दिखलाती, भरा होता है उसमें भय।"**

इसी हेतु उनको दमन या दण्डनीति कभी प्यारी नहीं रही। उन्होंने गुरु वशिष्ठ से कहा कि "दमन वांछित नहीं।" यथा—

> **"दमन नीति वांछित नहीं,**
> **सामनीति अवलम्बनीय है अब मुझे।**
> **त्याग करूँ तब बड़े से बड़ा क्यों न मैं,**
> **अंगीकृत है लोकाराधन जब मुझे।"**

इसी कारण वे अपनी हृदयेश्वरी सीता जी का भी परित्याग कर सके। वशिष्ठ जी भी उनकी इस नीति पर सहमत हुये।

रामचन्द्र जी प्रजा को सब प्रकार सुखी एवं सम्पन्न देखना चाहते थे। उनका यही दृष्टिकोण रहा कि—"सरस-शान्ति की धारा घर-घर में बहे।"

राम सहृदय एवं अपनी पत्नी सीता के प्रति अगाध प्रेम रखते हुए भी धर्म की सूक्ष्म गति को समझने वाले थे, किन्तु वही राम जब लवणासुर को उत्पात मचाते हुए देखते है तो रिपुसूदन को उसके वध के लिए भी आज्ञा प्रदान करते है। वे अन्यायी को ही दण्ड देना उचित समझते है, निरपराधियों का रक्तपात करना नही चाहते।

राम एक-पत्नी-व्रत-धारी है। वे सीता के मनोरंजन के लिए नाना प्रकार के उपाय करते है। वे सीता के त्याग में अति दुःखी है किन्तु कर्त्तव्यपालन के लिए ही उन्हें वह मार्ग स्वीकार करना पड़ा।

सीता—सीता जी पतिपरायणा एवं पतीव्रता रमणी है। उन्हें रामचन्द्र की आज्ञा पालन करने में किसी प्रकार का संकोच नही। वे संसार के कल्याण के लिए सब कुछ त्याग देने के पक्ष में है और यही कारण था कि उन्होंने रामचन्द्र के लोकाराधन को सहर्ष स्वीकार किया और बनवासिनी बनी। उनका दृढ़संकल्प यही है कि—

> **"सदा करेगा हित सर्वभूत का न लोक आराधन को तजेगा,**
> **प्रणय मूर्ति के लिए मुग्ध हो आर्त चित्त आरती सजेगा।"**

सीता जी प्रारम्भ से ही सहृदया थीं। बनवास के पूर्व भी, जब वे राज-भवन में से भ्रमण के लिए उपवन तथा नदीतट की ओर जाती थीं, उस समय अपने साथ विपुल सामग्री ले लेती थी और दीनों-दुर्बलों को दान दे दिया करती थीं। यह क्रम बनवास के समय में भी अजस्र गति से प्रवाहित रहा। वे अशुभ पालित पशु-पक्षियों तथा कीटों तक का प्रतिदिन भला करती रहीं थीं।

सीता जी में दाम्पत्य प्रेम उत्कृष्ट रूप में विद्यमान है। वे विवाह को एक आध्यात्मिक आधार मानती हैं तथा भौतिकवाद का विरोध करती है, क्योंकि उनकी धारणा है कि लोक-कल्याण इसके द्वारा नहीं हो सकता।

वे लंका के विनाश का एकमात्र कारण भौतिक सभ्यता ही मानती है। उनका आचरण एवं दिनचर्या उच्च कोटि की थी। उसका प्रभाव आश्रम-वासियों पर बहुत अच्छा पड़ा। यहाँ तक कि ऐसी ब्रह्मचारिणियाँ, जिनके हृदय में वासना और भौतिकता का ही साम्राज्य था, अति प्रभावित हुई। सती सीता जी के लोकोत्तर आदर्श ने उनकी बुरी प्रवृत्तियों को परिशोधित तथा परिमार्जित कर दिया।

सीता सरल-हृदया जननी भी है। वे अपने पुत्रों के लालन-पालन के साथ ही धार्मिक और राजनीतिक शिक्षा भी देती है।

राधा और उर्मिला का तुलनात्मक विचार—

हमारे समक्ष दो विरहिणी नारियाँ और हैं। वे हैं राधा और उर्मिला। राधा और वैदेही का विरह एक सा कहा जा सकता है यद्यपि राधा को वह अवसर न प्राप्त हो सका था जो वैदेही जी को अथवा उर्मिला को प्राप्त था। उर्मिला को प्रियमिलन की अवधि ज्ञात थी किन्तु वैदेही और राधा के प्रियमिलन की अवधि अनिश्चित थी। उन्हें अपने प्रियतम का स्मरण एवं उनका सुखद मिलन उनकी विरहाग्नि को तीव्र बना देता है किन्तु इस दशा मे भी सीता और राधा अपने कर्त्तव्यपथ एवं ज्ञान को नहीं भूलती। वे अपने को लोकसेवा में लगा देती हैं। इसके प्रतिकूल उर्मिला का हृदय उत्ताल तरंगों में डूब सा जाता है और वह अपना ज्ञान नष्ट सा कर देती है।

सीता वाल्मीकि-आश्रम में है। वहाँ के सभी आश्रमवासी परोपकार में रत हैं। इस वातावरण का प्रभाव सीता जी पर भी पड़ना स्वाभाविक था, किन्तु राधा की दशा भिन्न है। वह तो अपना हृदय परिवर्तन करने से ही लोक-सेवा कर सकती थी। उसने अपने को परिवर्तित कर लिया और पर-सेवा में रत हो गई। उर्मिला राजभवन में निवास करती है। उसे भवन से बाहर जाने की अनुमति नहीं। वह न तो प्रजाजन से मिल सकती है। और न बाहर भ्रमण के लिए ही जा सकती है, अतः उसे अपने व्यक्तित्व के विकास करने का अवसर न प्राप्त हो सका। ऐसी दशा में उसका व्यथित और चिन्तित होना स्वाभाविक ही है। सीता जी के हृदय के लाल लव-कुश हे जो अपनी तोतली बोली में माँ के दुःख को हरण कर सकते है किन्तु उर्मिला और राधा को यह सौभाग्य नहीं प्राप्त हुआ है। अतः सीता का विरह उतना गम्भीर न हो सका जितना उर्मिला और राधा का है।

प्रकृति-चित्रण—उपाध्याय जी ने वैदेही-बनवास का प्रकृति-चित्रण किया है जो प्रियप्रवास के प्रकृति-चित्रण के समान ही है। प्रायः प्रत्येक सर्ग प्रकृति के मनोहारी वर्णन से प्रारम्भ होता है।

प्रकृति का मानवीय पृष्ठाधार स्वरूप—प्रकृति का सम्बन्ध मानवजीवन की घटनाओं से होता है। अतः वह मानवजगत् की घटना का पृष्ठाधार भी बनती है। वैदेही-बनवास में जब शत्रुघ्न लवणासुर का वध करके शान्ति स्थापित कर मथुरा से आश्रम होते हुए साकेत जा रहे है उस समय सीता जी को शुभ संवाद देने के लिए उन्होंने आश्रम में प्रवेश किया। प्रकृति भी शान्त वातावरण का शुभ सम्वाद दे रही है। यथा—

"दिनकर किरणें अब न आग थीं बरसातीं,
अब न तप्त-गात्रा थी बनी वसुन्धरा।
धूप जलाती थी न ज्वाल-माला-सदृश,
वातावरण न था लू-लपेटों से भरा॥"

इसी प्रकार प्रकृति के परिवर्तन भावी दुःख के द्योतक बन जाते हैं। यथा—

"पहले छोटे छोटे घन के खण्ड घूमते दिखलाये।
फिर छायामय कर क्षिति तल को सारे नभ तल में छाये॥
तारापति छिप गया आवरित हुई तारकावलि सारी।
सिता बनी असिता छिनती दिखलाई उसकी छवि न्यारी॥"

प्रकृति का आलम्बन स्वरूप—इस काव्य में कई स्थलों पर प्रकृति का वर्णन संश्लिष्ट रूप में किया है। यथा—

"हरीभरी तरु-राजि कान्त-कुसुमालि से,
विलसित रह फल भार से हो नमित।
शोभित हो मन-नयन-विमोहन दलों से,
दर्शक जन को मुदित बनाती थी अमित॥"

प्रकृति का मानवीकरण—

"प्रकृति सुन्दरी विहंस रही थी चन्द्रानन था दमक रहा।
परम दिव्य बन कान्त अंक में तारक चय था चमक रहा॥
पहन श्वेत साटिका सिता की वह लसिता दिखलाती थी।
लेकर सुधा-सुधाकर-कर से वसुधा पर बरसाती थी॥"

प्रकृति का आलंकारिक स्वरूप—उक्त पद में प्रकृति को सुन्दर नारी का स्वरूप दिया गया है। उपाध्याय जी ने प्रकृति का आलंकारिक स्वरूप में भी वर्णन किया है। यथा—

"चाँदनी छिटिक छिटिक छवि से छबीली बनती रहती थी,
सुधाकर-कर से वसुधा पर, सुधा की धारा बहती थी।"

प्रकृति का सम्वेदनात्मक स्वरूप—इसमें अनुप्रास एवं यमक की छटा है। अष्टादश सर्ग मे हम आरम्भ से ही प्रकृति को एक विकृत रूप में पाते हैं क्योंकि सीता का अपने पति से क्षणिक मिलन शाश्वत वियोग में परिणत कर देता है। यथा—

"शीतकाल था वाष्प मय बना व्योम था,
अवनीतल में था प्रभूत कुहरा भया।

प्रकृति वधूटी रही मलिन वसना बनी ,
प्राची सकती थी न खोल मुस्करा ।।"

प्रकृति का उपदेशात्मक स्वरूप—उपाध्याय जी ने प्रकृति द्वारा उपदेश देने की भी चेष्टा की है। यथा—

"यदि उसकी विकराल मूर्ति है कभी दिखाती ,
तो होती है निहित सदा उसमें हित थाती।
तप ऋतु आकर जो होता है ताप विधाता ,
सो लाकर धन बनता है जग जीवन दाता ।।"

प्रकृति का उद्दीपन स्वरूप—उपाध्याय जी ने वर्षा और शरद्' ऋतु का वर्णन उद्दीपन स्वरूप में ही किया है। यद्यपि शरद्-चन्द्रिका वियोगावस्था में दुःखदायी प्रतीत होती है किन्तु सीता के हृदय पर वह अपना दुःखदायी प्रभाव नहीं डालती। हाँ, इतना अवश्य होता है कि उसे देखकर उनको अपने प्रिय का स्मरण हो आता है। यथा—

"प्रकृति हँस रही थी नभ तल में ,
हिम-दीधित को हँसा हँसा कर।
ओस - बिन्दु - मुक्तावलि द्वारा ,
गोद सिता की बार बार भर।।
चारु हासिनी चन्द्र प्रिया की ,
अवलोकन कर बड़ी रुचिर-रुचि।
देखे उसकी लोक - रंजिनी ,
कृति, नितान्त-कमनीय परमशुचि ।।"

वैदेही-बनवास में प्रकृति-चित्रण विशद रूप मे हुआ है। इसमें वे सफल भी हुए हैं।

रस और भाव—वैदेही-बनवास करुण-रस-प्रधान काव्य कहा जावेगा। इसमें करुण रस के दर्शन अनेक स्थलों पर मिलते है। जब सीता आश्रम के लिए जा रही थी तो उन्होंने अपनी माता कौशल्या से निवेदन किया कि अब मैं आपकी सेवा से वंचित रहूँगी तथा एक निवेदन है—

"माता की ममता है मानी किस मुँह से क्या सकती हूँ कह ,
पर मेरा मन नहीं मानता मेरी विनय इसीलिए है यह।"
"मैं प्रतिदिन अपने हाथों से व्यञ्जन रही बनाती ,
पास बैठ कर पंखा झल झल प्यार सहित थी उन्हें खिलाती।"
"हैं गुणवती दासियाँ कितनी हैं याचक पाचिका नहीं कम ,
पर है किसी में नहीं मिलती जितना वाँछनीय है संयम।"

सीता संकोचशीला है। कुछ न कहते हुए भी उसने अपने हृदय की वेदना को प्रकट कर दिया। दास-दासियाँ है किन्तु उन्हें चिन्ता क्यों ?

आप वृद्ध है। अत: मुझे कहना पड़ा कि मेरे पीछे मेरे पति की क्या दशा होगी। कितनी टीस है उसके हृदय में।

सीता के वियोग मे पशु-पक्षियों की दशा भी कितनी करुणाजनक है—

"घुमा घुमा शिर रहे रिक्त-रथ देखते,
थे निराश नयनों से आँसू ढालते।
बार बार हिनहिना प्रकट करते व्यथा,
चौंक चौंक कर पाँव कभी थे डालते।"

राम का विरहनिवेदन स्यात् हास्यास्पद हो, क्योकि स्वय उन्होंने ही तो यह दशा उत्पन्न की। अतः वे किस प्रकार अपने भावों को व्यक्त करें। उनके शब्दों में कितनी वेदना झलकती है। यथा—

"तात विदित हो कैसे अन्तर्वेदना!
काढ़ कलेजा क्यों मैं दिखलाऊँ तुम्हें।
स्वयं बन गया जब मैं निर्मम जीव तो,
मर्मस्थल का मार्ग क्यों बतलाऊँ तुम्हें॥"

शृङ्गार रस—इस काव्य में विरहवेदना संयत है क्योंकि इसमें बुद्धिवाद की प्रधानता है। इसमें सीता का त्याग लोकाराधन के कारण हुआ है जिसे सीता जी ने स्वयं स्वीकार किया है। एक-दो स्थलों पर रति के दर्शन होते हैं। यथा—

"किन्तु इस विषय पर अब मैं कुछ नहीं कहूँगा,
अधिक विवेचन के प्रवाह में नहीं बहूँगा।
फिर तुम हुईं प्रफुल्ल हुआ मेरा मन, भाया,
प्रिये कहाँ तुमने ऐसा कोमल चित पाया॥"

जब सीता जी अपने पुत्रों को बादलों के समान श्याम द्युति वाला बतलाती हैं तो उसमें भी रति भावना प्रकट होती है। यथा—

"दिखा दिखा कर श्यामघटा की प्रिय छटा,
देखो सुमनों से कहती यह महि सुता।
ऐसे ही श्यामावदात-कमनीय-तन,
प्यारे पुत्रो तुम लोगों के हैं पिता।"

वात्सल्य—सीता जब अपने बालकों के विनोद के लिए बाल-क्रीड़ाएँ करने लगती है उस समय वात्सल्य रस की धारा प्रवाहित हो उठती है। यथा—

"कभी रिझाती उन्हें वेणु वीणा बजा।
तरह तरह के खेल वह खिलाती कभी।
कभी खिलौने रखती उसके सामने।
स्वयं खिलौना वह थी बन जाती कभी॥"

रौद्र का एक उदाहरण—

"संभल कर वे मुँह को खोलें
राज्य में है जिनको बसना
चाहता है यह मेरा जी
रजक की खिंचवा लूँ रसना॥"

भाषा-शैली—उपाध्याय जी भाषा पर अपना प्रभुत्व रखते हैं और जिस प्रकार की वे इच्छा करते हैं उसके अनुरूप भाषा प्रवाहित होने लगती है। प्रियप्रवास की भाषा संस्कृत के शब्दों से परिपूर्ण थी किन्तु वैदेही-बनवास में उसका परिशोधन हुआ। यथा—

"सुधा है वहाँ बरसती आज।
जहाँ था बरस रहा अंगार॥
वहाँ है श्रुत स्वर्गीय निनाद।
जहाँ था रोदन हा हा कार॥"

लेकिन संस्कृतप्रियता ने उनकी भाषा को समासबहुला बना दिया है जिसे वे यहाँ पर भी त्याग न सके। यथा—

"जनकनन्दिनी जैसी सरला कोमला।
परम-सहृदया उदारता-आपूरिता॥
दयामयी हित-भरिता पर-दुख-कातरा।
करुणा-वरुणालया अवैध-विदूरिता॥"

उपाध्याय जी की भाषा में अलंकारों का विशेष प्रयोग हुआ है। शब्दालंकारों में अनुप्रास और यमक का प्रयोग विशेष रूप से हुआ है किन्तु अर्थालंकारों में रूपक, उपमा, प्रतीप आदि का यथास्थान प्रयोग हुआ है। कहीं कहीं सुन्दर शब्दचित्र मिलते हैं। कुश का चित्र देखिये—

"थे द्वितीय नयनाभिराम विकसित-वदन।
कनक-कान्ति माधुर्य-मूर्ति मन्मथ-मथन॥
विविध-वर-वसन लसित किरीटी-कुण्डली।
कर्म-परायण परम-तीव्र साहस-सदन॥"

हो सकती हैं जो बुद्धि-संगत हों। इसमें असाधारण वर्णनों का अभाव है—

(१) रामचन्द्र जी एक कुशल राजा हैं।

(२) रावण एकवदन और दो भुजाओं वाला है।

(३) वनदेवी एक व्यक्ति के रूप में ही ग्रहीत है।

(४) महात्मा गान्धी की अहिंसा नीति का प्रतिपादन किया गया। राम ने स्वयं कहा कि—

"तदुपरान्त यह कहा दमन वांछित नहीं।
सामनीति अवलम्बनीय है अब मुझे॥
त्याग करूँ तब बड़े से बड़ा क्यों न मैं।
अंगीकृत है लोकाराधन जब मुझे॥"

(५) गुरुकुलों में बालिका विद्यालय भी है।

(६) वैदिक कर्मकाण्ड यज्ञ-हवन का प्रभाव है।

(७) वर्तमान स्त्री-समस्या का समावेश है।

(अ) नर-नारी का सम्मिलन दोनों को पूर्ण बनाता है। विवाह-प्रथा आध्यात्मिकता के आधार पर आधारित है।

(ब) भारतीय स्त्रियाँ तितली न बनकर भारतीय नारी बनें क्योंकि बनाव-शृंगार उच्छृंखल बना देता है। यही विलासिता रौरवगामिनी होती है।

(स) सम्बन्ध-विच्छेद (तलाक) विलासिता विनाशकारी है।

(द) सात्विक भावनाओं का अभाव, विलासलोलुपता ही पति-पत्नी के संघर्ष का कारण है।

(य) मर्यादा, शील, लज्जा, शिष्टता आदि उपचार है।

(८) सामनीति को स्वीकार करना सरल नहीं है। उसका संचालन-नियमन या संयमन देश, काल एवं विविध परिस्थितियों को देखकर कार्य करना सुलभ नहीं है, दुस्तर है और वही दुस्तरता जटिल बन जाती है जब दानवता का सामना करना पड़ता है।

(९) रामराज्य में घर-घर शान्ति है। जन-जन में आनन्द है, सबमें विश्वास है। फिर भी जनता क्यों अप्रसन्न है? जनता को प्रसन्न करने के लिए वे अत्याचारियों को दण्ड की नीति भी अपनाते हैं। उनका कथन इसका समर्थक है।

"दमन या दण्डनीति मुझको कभी भी रही नहीं प्यारी।
न यद्यपि छोड़ सका उनको रहे जो इसके अधिकारी॥"

वे जानते है कि लोककल्याण के लिए एवं दुष्टों के अत्याचार को दमन करने के लिए दण्ड देना परमावश्यक है। अतः वे उस सीमा तक दण्ड देने के पक्ष मे है कि जिससे व्यर्थ का रक्तपात न हो और अपराधी को दण्ड मिल जाये, क्योंकि अपराधी को दण्ड न देने से राज्य में अशान्ति फैलती है।

(१०) वैदेही-बनवास मे भौतिकवाद की निन्दा की गई है क्योंकि इसके कारण व्यक्ति केवल अपना ही सुख देखता है और उसी के लिए प्रयत्नशील रहता है। स्वार्थभावना वैषम्य उत्पन्न करती है। सीता जी ने विज्ञानवती को इसके अनौचित्य पर पूर्ण प्रकाश डाला। पूर्ण चतुर्दश सर्ग में इस पर विवेचन किया गया है। देखिये—

"भौतिकता में यदि हैं जड़ता वादिता,
आध्यात्मिकता मध्य चिन्मयी शक्ति है।"
"आध्यात्मिकता का प्रचार कर्तव्य है,
जिससे यथा समय भव का हित हो सके।"

दूसरा उनका कथन कि यदि अधिक लाभ की आशा हो तो कुछ हानि सहन करना अनुचित नही। यही नही—

"जाति मुक्ति के लिए आत्म बलि दी जाती है,
परम अमंगल क्रिया पुण्य कृति कहलाती है।
इस रहस्य को बुध पुंगव जो समझ न पाते,
तो प्रलयंकर कभी नहीं शंकर कहलाते॥"

दैत्यवंश

काव्य-सम्पत्ति—दैत्यवंश महाकाव्य व्रजभाषा का प्रबन्ध काव्य है जिसकी हरदयालुसिंह ने रचना की। यह काव्य अठारह सर्गों में विभाजित है। कथा प्रख्यात हैं जिसका आधार श्रीमद्भागवत है। इस काव्य का नायक एक न होकर सम्पूर्ण दैत्यवंश है जो धीरोदात्त गुणों से युक्त है। इसमें प्रकृति का चित्रण भी हुआ है किन्तु पुरानी परिपाटी के अनुसार ही। इस काव्य में रसों का अच्छा परिपाक हुआ जिसमें श्रृंगार और वीर रस प्रधान हैं। यत्र-तत्र करुण, वीभत्स और वात्सल्य रस मिलता है। सर्ग में एक प्रकार का ही छन्द प्रायः मिलता है और अन्त में छन्द बदल जाता है जिसमें आगामी सर्ग की कथा का आभास मिलता है। काव्य का नाम नायक के वंश पर रक्खा गया है जो सर्वथा उचित ही है। इस प्रकार यह काव्य महाकाव्य कहलाने का अधिकारी

है क्योंकि काव्य का शरीर तो पूर्ण मिलता ही है, साथ में काव्यत्व के भी दर्शन होते है ।

इस महाकाव्य में संकलनत्रय (थ्री-यूनिटीज) समय, स्थान और घटना की एकता का अभाव है । इनमें ऐक्य न होने के कारण प्रत्येक स्थान पर असम्बद्धता प्रतीत होती है । यदि बलि का ही चरित्र लिया गया होता और उसे ऊँचा उठाने का प्रयास किया गया होता तो अच्छा होता क्योंकि हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु अत्याचारी तो थे ही । इन्हें कवि भी अपने कौशल से न्यायी सिद्ध न कर सका ।

कथानक—इस महाकाव्य का आधार है श्रीमद्भागवत और काव्य रचने की प्रेरणा कालिदासरचित रघुवंश से मिली है । कथानक इस प्रकार है:—

कश्यप की अदिति नाम की सन्तान देव कहलाई और दिति की सन्तान दैत्य कहलाई । देवों में सतोगुण की प्रधानता थी और दैत्यों में तमोगुण की प्रधानता थी । अतः दोनों में शत्रुता होना स्वाभाविक ही है । दैत्यवंश मे वीर हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु दो भाई थे । जब देवों का हिरण्याक्ष से कुछ वश न चला तो भगवान् की शरण गये । भगवान् ने शूकर का शरीर धारण किया और हिरण्याक्ष को नष्ट किया । उसके पश्चात् हिरण्यकशिपु ने राज्यभार सँभाला । वह इतना वीर था कि देवता लोग उसके सम्मुख ठहर ही नहीं सकते थे । जब उसे इस बात का पता लगा कि भगवान् ने छल-कपट द्वारा उसके भाई को नष्ट किया तो वह उनके विरुद्ध उन लोगों को भी दुःख देने लगा जो भगवान् का नाम लेते थे । यहाँ तक कि उसका पुत्र प्रह्लाद भी उसका शत्रु बन गया । भगवान् को फिर अवतार लेना पड़ा और हिरण्यकशिपु का वध करना पड़ा । प्रह्लाद को राज्यसत्ता नहीं दी गई बल्कि उसके पुत्र विरोचन को राज्य-संचालन का भार दिया गया । इन्द्र ने विरोचन को शान्तिपूर्वक रहने के लिए और वैरभाव त्यागने के लिए समझाकर अपनी ओर मिला लिया । सरलस्वभाव होने के कारण वह उनके प्रपंच में फँस गया । अब निश्चय हुआ कि सागर-मन्थन हो । इस कार्य में दैत्यों को बहुत ही कष्ट उठाना पड़ा और बहुत से दैत्यों को मृत्यु के मुख में जाना पड़ा । सागरमन्थन हुआ । १४ रत्न निकले । सब वस्तुओं को तो देवताओं ने अपना लिया केवल अमृतघट शेष रह गया । दैत्यों ने छीनकर अपने लिए रक्खा । जब इन्द्र को ज्ञात हुआ कि अमृतघट दैत्यों के पास पहुँच गया है तो उन्होंने कामदेव को सुन्दरी का रूप बनाकर भेजा और वह बातों ही बातों में घट को बदल लाया । जब अमृत और वारुणी को विष्णु ने स्त्री का रूप धरकर बाँटा तो अमृत देवों को और

वारुणी दैत्यों को पिला दी। केवल राहु ने धोखे से अमृतपान कर लिया। फिर भी उसका धड़ पृथक् कर दिया गया। इस प्रसंग से देवताओं की धूर्तता प्रकट हुई। दैत्यों ने कहला भेजा कि या तो रत्नों को बाँटो या संग्राम करो। रत्नों का बाँटना अस्वीकृत होने पर संग्राम हुआ। देवता हारे। इन्द्र भाग गया और इन्द्रपुरी पर नहुप को आसीन कराकर बलि लौट आया। बलि ने राजसूय यज्ञ किया। इधर देवताओं के यहाँ वामन उत्पन्न हुए जिन्होंने बलि से साढ़े तीन पग पृथ्वी दान में माँगकर उसे पाताल भेज दिया। यद्यपि शुक्राचार्य इस प्रस्ताव से सहमत नहीं था, किन्तु जो होना था वही हुआ। बाणासुर जब अश्व को लेकर सब दिशाओं से विजय प्राप्त कर लौटा तो वहाँ विचित्र ही रंग-ढंग देखा। यह जानकर उसने श्रोणितपुर पर आधिपत्य स्थापित किया। यहीं पर उसके पुत्र और पुत्री स्कन्ध और ऊषा उत्पन्न हुए। जब ऊषा १६ वर्ष की विवाहयोग्य हुई तो उसने अपनी सखी चित्ररेखा द्वारा प्रद्युम्न के पुत्र अनिरुद्ध को उठवा मँगाया और अपने पास रक्खा। इधर यदुवंशियों ने श्रोणितपुर को घेरकर अनिरुद्ध को प्राप्त किया और ऊषा को लेकर द्वारिका लौटे। इधर विरोचन और बाणासुर की मृत्यु हुई और स्कन्ध ने न्यायपूर्ण राज्य किया। यही इस काव्य का कथानक है।

चरित्र-चित्रण—दैत्यवंश में प्रह्लाद, जो हिरण्यकशिपु का पुत्र था, उसे राज्यशासन नहीं दिया गया क्योंकि वह वंशपरम्पराविरोधी एवं शत्रुसहायक सिद्ध हुआ। विरोचन, जो उसका पुत्र था, उसे सत्ता प्रदान की गई किन्तु यह भी देवों के प्रपञ्च में फँस गया। दैत्यवंश के गुरु शुक्राचार्य बड़े ही चतुर थे। उन्होंने दैत्यों को सचेत कर दिया और बलि को उसके स्थान पर राजा बनवाया क्योंकि बलि उसकी अपेक्षा अधिक चतुर था।

बलि—यह इस काव्य का सबसे प्रधान मध्ये-नायक है। यह वीर एवं सुयोग्य भूपाल हुआ है। उसने राज्यकोष और बल की वृद्धि की। प्रजा को सन्तोष प्रदान किया। इन्द्र की शठता से भिज्ञ होकर कभी भी मित्रता नहीं की। उसके प्रजाहित सम्पादित कार्यकलाप उसके सुन्दर शासक होने के प्रमाण है। उसने—

> "खोले गुरुकुल अमित, सबनि विद्या पढ़वाई।
> सैनिक शिक्षा काज, व्यवस्था सकल कराई॥"

यही नहीं, उसने नगर-नगर में औषधालय खोलवाये जिसके परिणाम-स्वरूप—

"ज्वर संक्रामक रोग कबहुँ नाहिन बढ़ि आवत ,
पय-पोषित-सिसु होन मृत्यु कौ ग्रास न पावत ॥"

कृषि के भी साधन उसने जुटा रक्खे थे। नहरें, कूप आदि बनवाये। उद्यान का भी प्रबन्ध किया और राज्य-सत्ता-संचालन-हेतु चरविभाग भी स्थापित कर रक्खा था।

वह संयमी था। पर-स्त्री पर दृष्टि डालना पाप समझता था। इसका प्रमाण सिन्धुजा स्वयवर में मिल जाता है। जब सिन्धुजा स्वयंवर के लिए बढ़ी, देवता ने अपनी दृष्टि उसी ओर लगा दी किन्तु उस वीर ने "तेहि ओर न नेकु निहारो" द्वारा अपने चरित्र की अमिट छाप डाल दी। यही नहीं, इन्द्र की माता के वचन कि वह "त्यों अबला गुनि कै वर वीर पुलोमजा पै नहिं हाथ चलाइहै" उसके सच्चरित्र का उत्तम प्रमाण है।

वह वीर सेनानी था। उसे अपने पराक्रम पर दृढ विश्वास था। जब इन्द्र ने उससे युद्ध करने की इच्छा प्रकट की, वह उद्यत हो गया और रणक्षेत्र में द्वन्द्व युद्ध द्वारा उसे पराजित किया और देवासुर-संग्राम में विजय पायी।

वह दानी था। दान देने में किसी प्रकार संकोच न करता था। जब वह ९९ यज्ञ कर चुका और अन्तिम यज्ञ करने जा रहा था कि उसके कार्य में बाधा डालने हेतु वामन जी पहुँचे और उससे याचना की। शुक्राचार्य ने समझाया कि यह कई बार नाना प्रकार से छल करके दैत्यवंश को कष्टित कर चुका है किन्तु उस दानी वीर ने इसकी चिन्ता न की और अपने प्रण पर अटल रहा। इसलिए आज भी हम उसके दान की प्रशंसा करते हैं।

बाणासुर—यह भी पराक्रमी एवं चतुर शासक हुआ था। जब उसे ज्ञात हुआ कि बलि अपना राज्य दान में दे चुका है तो उसने उत्तर दिशा में शोणित-पुर को जीत लिया और वहीं पर सुन्दरपुरी का निर्माण कराया और न्यायपूर्वक शासन किया।

वह वीर था, जैसा कि उसकी दिग्विजय यात्रा से प्रकट होता है। यही नहीं, उसमें बन्धुभावना एवं न्यायप्रियता का आधिक्य भी है। जब वह युद्ध में षडानन को मूर्छित कर देता है तो विजयी होकर गृह लौट जाता है किन्तु भारतीय सामरिक प्रथा के अनुसार वह उनके गृह जाता है और सप्रेम मिलता है। यह वृत्ति उसके स्वच्छ हृदय की द्योतक है। अन्तिम समय में ईशाराधना मे ही अपना जीवन व्यतीत किया, यह उसके सदाचार एवं धर्मरत होने के प्रमाण है।

स्कन्द—यह भी इस वंश का अपूर्व शक्तिशाली एवं उदार चरित्र वाला भूपाल हुआ है। वह भी न्यायी, प्रजा-हित-रत एवं शिवभक्त था। उसने तो

निश्चय कर लिया था कि प्रजा के हितार्थ नगर-नगर, ग्राम-ग्राम में भ्रमण करके उसके कष्टों का निवारण करेगा। यही नहीं, उसने उत्तम पशु, उत्तम बीज वितरण करने का भी प्रबन्ध किया था। जब वह नगर या ग्राम में जाता था तो उसकी प्रजा दधि, दूध, तरकारी आदि लाकर समर्पित करती थी। वह प्रजा के मान को रखने के लिए उनकी भेंट स्वीकार कर लेता था लेकिन आदर्शो की रक्षा करने के लिए वह प्रत्येक वस्तु के मूल्य को दे देता था।

वह संयमी एवं नित्यक्रिया में सावधान था। आलस्य छू नहीं गया था। नित्य नियमित ईश्वराराधन में लीन रहता था।

वह सुन्दर शासक था। वह गुरुकुलों को सहायता देना अपना कर्त्तव्य समझता था। यही नहीं, वहाँ जाकर उनकी कमियों को पूरा करने में उद्यत रहता था। किसी तपस्वी को किसी प्रकार का कष्ट तो नहीं है, उसकी चिन्ता रखता था। वैद्यक, ज्योतिष, पुस्तकालय, औषधालय आदि के परिवर्द्धन में सहायक होता था। पंचायत का भी निर्माण कराया था। बीजव्यवस्था एवं सहकारिता की भावना का निर्माण कराया था।

मृगया के भी नियम थे। कोई भी शावक या हिरणी पर बाण नहीं छोड़ सकता था।

वह विनोदी भी था और नाना प्रकार के वाद्य एवं गानों से परिचित भी था।

स्त्री-पात्रों में यद्यपि कई एक पात्र आये हैं, जो सामान्यतः कोई विशेष स्थान नहीं रखते, उनका स्थान भी देवताओं के चरित्र से सम्बन्ध रखता है, जैसे—सिन्धुजा का। इसीलिए उसका वर्णन न करना ही उचित समझा। स्त्री-पात्रों में भूपालों की स्त्रियाँ अवश्य आती हैं किन्तु उनका चरित्र विकसित नहीं है। हाँ, ऊषा के चरित्र का कुछ अंकन अवश्य हुआ है।

ऊषा—इसके दर्शन हमें प्रथम बालिका के रूप में होते हैं। वह भोली भाली एवं अपने हठ में मस्त है। उसकी बालदशा निम्न पद से प्रकट हो जाती है—

> "एक नौ सात प ना मा पढ़ै कबौ लेखनी कौ उल्टी मसि बोरै,
> आँगुरी सों पटिया पै लिखै, खरिया तेहि माहि मिलाय के घोरै।
> नेकु बुलाये न बोलै कबौ, कबौ खीझि कै केतो मचावती सोरै,
> मूरति लौ गड़ी रहै, पै पुकार सुने ही भगै बर जोरै॥"

वही ऊषा आगे चलकर कलाविशारद बन जाती है। जब वह विवाह के योग्य हो जाती है तो उसकी सखी चित्ररेखा अनिरुद्ध को अपहरण करके उसका साथ कराने में सहायक होती है।

चित्ररेखा का यह कृत्य कहाँ तक मानवीय कहा जा सकता है, इस पर विवेचन करना उचित है। एक तो अमानवीय तत्त्वों को लाकर कथा में सौन्दर्य की वृद्धि नहीं होती, दूसरे उसका प्रभाव भी उचित नहीं पड़ता। चित्ररेखा अनिरुद्ध को वन में निमन्त्रण देकर भी ला सकती थी। ऊषा का यह चरित्र उचित नहीं प्रतीत होता।

प्रकृति-चित्रण—इस काव्य में प्रकृति-चित्रण पर्याप्त हुआ है किन्तु प्राचीन शैली के अन्तर्गत ही रहा है। प्रकृति भी मानव के आनन्द और दु:ख के साथ ही साथ अपना रूप भी वैसा धारण करती दिखलाई पड़ती है। देखिये जब बामन जन्म लेने को है प्रकृति में भी उत्साह दिखलाई पड़ता है। यथा—

"सुठि सीतल मन्द सुगन्ध समीर,
नई प्रमदा सम डोलै लगी।
निमि देव-नदी भरि भायनि सौं,
सुख-बीचिन मञ्जु कलोलै लगी।
सुर-पादप की चढ़ि डारिन पै,
वह स्यामा असीसन्हि बोलै लगी।
निज मंजु मंजूषा सिगारनि को,
प्रकृती मूद मानिके खोलै लगी॥"

लेकिन जब बलि बाँधकर पाताल भेज दिया गया उस समय प्रकृति में भी मलीनता दिखलाई पड़ने लगी। यथा—

"वह नर्मदा दूबरी पीरी परी,
बलिराज के यों बिरहानल तायकै।
हरियारी मिटी तरु-वृन्दन की,
न प्रसून खिलै खरो सोंग मनायकै।
सुक सारी बुलाये न बोलै कहूँ,
पुर के जन कोऊ मिलैं नहिं धायकै।
करुनारस की मनौ सैन सबै,
नगरी में निवास कियौ इतै आयकै॥"

अन्तिम सर्ग में प्रकृति का वर्णन किया है। उसमें कोई विशेषता एवं नवीनता नहीं है। प्राचीन परिपाटी अपनायी गई है। हिमालय-वर्णन पर आचार्य द्विवेदी की छाप स्पष्ट दिखलाई पड़ती है। देखिये—

"जहँ केहरि बन गजन गिराये,
अरु तुषार मग चिन्ह दुराये।
गज कुम्भज मुक्तनि अनुसारी।
तऊ किरात मग लेत विचारी॥"

इसी प्रकार स्त्रियों का जल में स्नान-वर्णन भारतेन्दु के यमुना-वर्णन की स्पष्ट कल्पना प्रतीत होती है। यथा—

"जल बिच इमि तियगन छबि छाई,
कमला मनहु आपु चलि आई।
तिय मुख नीर मध्य इमि राजत,
कुसुमनि कमल बेलि जिमि छाजत।
अंजलि भरि जल रानि उछारत,
नहिं उपमा कछु बनत विचारत।
जनु अम्बुज भरि कोसनि माहीं,
मुक्त गुच्छ जल डारत जाहीं॥"

वर्षा का और शरद् ऋतु का वर्णन भी तुलसीदास जी के वर्णन के अनुरूप ही हुआ है।

"वर्षा विगत शरद् ऋतु आई।
पके धान चहुँ ओर सुहाई॥
चहुँ दिसि लसत धवल छबि कासा।
घन विहीन भो विमल अकासा॥"

इसी तरह हेमन्त और शिशिर का वर्णन करते हुए वसन्तपञ्चमी का वर्णन किया और फाग के गुण गाकर बारहमासा लिख प्रकृति-वर्णन कर दिया है।

इस काव्य में समुद्रवर्णन अच्छा किया है। उसकी महत्ता एवं शालीनता पर पूर्ण ध्यान रक्खा है। देखो—

"यह करत नाद अपार मैं गम्भीरता छोरै नहीं,
बहु उठत झंझावात पै मुख सान्ति सौ मोरै नहीं।
लै सलिल खारो सपदि घन सुस्वादु ताहि बनावहीं,
अरु लोक के कल्यान हित तेहि अवनि पै बरसावहीं।
है सीत या को नीर, यद्यपि धरत यह बड़वागि है,
हरि नींद या मैं लेत पै यह रहत निसिदिन जागि है।
नहिं घटत ग्रीष्म माँहि अरु है बढ़त पावस मैं नहीं,
सच कहत सज्जन कबहुँ निज मरजाद को छोरै नहीं॥"

रस और भाव—इस काव्य में दो रसों की प्रधानता है। वे हैं शृंगार और वीर।

शृंगार—शृंगार-वर्णन में कवि की वृत्ति रम गई है और उसे अपनी रुचि अनुसार वर्णन भी किया है। सिन्धुजा के स्वयम्वर में विष्णु को वह जयमाला डालना चाहती है किन्तु लज्जा के कारण वह स्तम्भित हो गई और साहस बटोर अन्त में उसने जयमाला पहना दी। देखिये—

"देख अचानक और की ओर,
संकोचि मधूक की माल संवारी।
त्यों दुऔ कम्पित हाथ उठाय,
दियौ पुरुषोत्तम के गर डारी।
लाजन् बोलि सकी न कछू,
कृस देह भई पै रोमाँचित सारी।
औ सखियानि कै संग समोद,
विनोद-मयी निज गेह सिधारी॥"

इस पद में कमला का विष्णु के प्रति अनुरक्त होने के कारण विनोदभरी वाणी से रति का भाव भासित होता है। लज्जा और हर्ष सचारी है। देह का कृश और रोमांचित होना अनुभाव के अन्तर्गत सात्विक भाव है। यह संयोग शृंगार का अच्छा उदाहरण है।

वियोग शृंगार—आज ऊषा ने स्वप्न में अनिरुद्ध को अपने साथ पाया। आँख खुलने पर उसकी दशा विरहाग्नि में जलने वाली कामिनियों की सी हो गई। यह वियोग शृंगार की स्वप्नावस्था है। यथा—

"परयंक पै लोटे बिहाल उषा,
मुरझाय गई मानौ फूल छरी।
घनसार उसीर को लेप कियौ,
सिल कुंकुम लौं सो परो बिखरी।
बिजना करतै रही, सीसहिं लाई,
गुलाब की नाइ दई सिगरी।
बनि धूम उड्यो सोई, फूल्यो हरा,
बिरहानल में इमि जात जरी॥"

इसमें मुरझाना, बेहोश होना, अनिरुद्ध आलम्बन, रति स्थायीभाव है।

वीर रस—तारक का उत्साहवर्द्धक युद्ध का एक उदाहरण देखिये—

"तारक हरषि संख धुनि कीन्ह्यो ।
कुंजर पेलि महावत दीन्ह्यो ॥
भागै वीर लखै कहुं बाटन ।
लाग्यो विकट कटक सो काटन ॥"

तारक का उत्साह स्थायीभाव है । गणेश आलम्बन और सेना उद्दीपन ।

करुण रस—जब बलि पाताल को जाने लगा उस समय उसने अपने पिता को सन्देश दिया कि अब उसे उसके दर्शन नहीं प्राप्त हो सकेंगे—

"तात तुम्हारे पुण्य प्रभावनि इन्द्रहिं समर हरायो ।
औ कश्यप कुल कलित ध्वजा कहँ नभ मण्डल फहरायो ॥
दान सबै वसुधा को दै कै हरि कौ हाथ नवायो ।
पै बिरधापन माँहिं रावरे पद सेवन नहिं पायो ॥"

इस पद में अपने वृद्ध पिता की पदसेवा से वञ्चित हो रहा है यही इष्ट-नाश स्थायीभाव है ।

रौद्र रस—

"फरकि अधर पुट भौंह मरोरी,
कह बलि बन्धु जुगुल कर जोरी ।
अनाचार परमावधि आई,
नाथ अनीति सही नहिं जाई ।
जो राउर दिशि भूप को देखै नैन उवार ,
मानि अमित अरि तासु जुग लोचन लेहुँ निकार ॥"

अनुचित कृत्य पर बलिबन्धु को रोष आया था । अधरपुट का फड़कना, भौहों का तिरछा होना अनुभाव है । क्रोध स्थायीभाव है, तथा देवगण आलम्बन है ।

वीभत्स रस का एक उदाहरण देखिये—

"जोगिन भूत पिशाच पिशाची मारु काटु धुनि बोलहि नाच ।
भच्छहिं माँस रुधिर धुनि पीवहिं आसिक देहिं बीर दोऊ जीवहिं ॥"

"कोऊ हार आतन के धारत,
कोऊ करेजो फारि निकारत ।
कोऊ मुण्डन की माल बनावत,
कोऊ सचोप चरबी तन लावत ॥"

हास्य रस का एक छन्द देखिये—जिस समय अनिरुद्ध अपने साथियों से मिलते है तो उनके साथियों की उक्ति सुनिये—

"पूछै कुमार सों बाल सखा मिलि,
आपु हरे गये औ तिय पाई।
पै हम लोगनि या विधि सौं,
सहसा तुम दीन्हौं कहाँ बिसराई।
भूलि ही जात सबै घर बार है,
जो पै नई कोऊ पावै लुगाई।
या ते न कीजिये नेकु बिलम्बहिं,
दीजै हमें मँगवाय मिठाई॥"

इसी प्रकार सरस्वती जी ने ब्रह्मा का परिचय कमला को दिया। उसे सुनिये—

"तीनहुँ लोक के करता,
अरु चारहु वेद बनावन हारे।
दाढ़ी भई सन सी सिगरी,
सिर पै कहुँ केस न दीसत कारे।
नारद सो इनके हैं सपूत,
तिहूँ पुर ज्ञान सिखावन हारे।
प्रेम की पास मैं बानन कौं,
तुम्हें बूढ़े बबा इत हैं पगु धारे॥"

इनकी वृद्धावस्था और विवाह की लालसा को देखकर कौन नहीं मखौल उड़ायेगा।

इसी प्रकार भयानक और वात्सल्य रस का सुन्दर विवेचन हुआ है।

भाषा और शैली—इस काव्य की भाषा व्रज है। बोलचाल की भाषा से अन्तर है। इसकी भाषा सरस, ओज, माधुर्य एवं प्रसाद पूर्ण है।

आपकी भाषा भावानुसारिणी हुई है—

"तोरि धरौं दिग दन्तिन दन्त,
कहौ भुज ठोंकि सुमेर हलाऊँ।
सारे सुरारि समूहनि कौं,
अब ही रन अंगन मैं बिचलाऊँ।
जौ न करौं इतो कारज तौ,
तुहि लौटि न आनन मातु दिखाऊँ॥"

उपर्युक्त छन्द में भाषा कितनी ओजपूर्ण है। इसी प्रकार माधुर्य और प्रसाद युक्त भाषा का भी प्रयोग हुआ है। भाषा में अलंकारों का भी प्रयोग

किया गया है। शब्दालंकारों मे अनुप्रास एवं अर्थालंकारों में रूपक, उपमा, अतिशयोक्ति आदि का यथावसर प्रयोग हुआ है। कहीं कहीं पर सुन्दर चित्र भी मिलते हैं। देखिये वृद्ध शुक्र का चित्र—

> **"बटु संग आवत शुक्र बाम कर लकुट सुहावत"**
> **डगमगात डग धरत पादुका पथ लटकावत।**
> **सोहत कटि पट पीत जग्य उपवीत सुहावन,**
> **राजत भाल त्रिपुण्ड अच्छमाला कर पावन॥"**

शैली—आपने अपने से पूर्व सब प्रकार के हिन्दी के छन्दों को अपनाने का सफल प्रयास किया है। उनमें घनाक्षरी, हरिगीतिका, सवैया, रोला, रूपमाला, सार, दोहा और चौपाई का प्रयोग किया है। कहीं कहीं पर सुन्दर मुहावरों और लोकोक्तियों का प्रयोग भी किया गया है। यथा—

> **"जो खनत औरन के निधन हित,**
> **कूप मग में जाय कै।**
> **ह्वै सावधान तथाहि तेही,**
> **गिरत वामे आइ कै॥"**

विचारधारा एवं प्रभाव—कवि ने प्रथम अध्याय में स्वीकार किया है कि—"लै कै सार सकल पुरान काव्य नाटक कौ आपनी हूँ ओर ते मैं कछुक मिलाइहौं।"

अतः यह स्पष्ट है कि कवि ने मधुप वृत्ति को अपनाया है। कथानक तो पुराण से लिया है। काव्यशैली में तुलसी और केशव को अपनाया है तथा कई स्थलों पर भावसाम्य भी है। यथा—

दैत्य०—**रह्यो न्याय कर बाल अधीना।**
तुलसी—**रह्यो विवाह चाप अधीना।**
दैत्य०—**मनहुँ वीर रस सोवत जागे।**
तुलसी—**मनहुँ वीर रस सोवत जागे।**
दैत्य०—**छमिय नाथ कछु अविनय मोरी।**
तुलसी—**छमिय नाथ कछु अविनय मोरी।"**

इसी प्रकार अन्य उद्धरण भी दिये जा सकते हैं।

ग्रन्थनिर्माण करने में रघुवंश से स्फूर्ति मिली और यक्ष के विरहनिवेदन के आधार पर हंसदूत अध्याय को एकत्र किया।

(१) राजनीति का भी सुन्दर पुट मिलता है।

(२) सुराज्य में कभी विप्लव नहीं होते क्योंकि अधिकार के लिए युद्ध नहीं होता।

(३) सुधारयोजना, औषधालय खोलना, सैनिक-शिक्षा, कृषि-विभाग के लिए नहर आदि का प्रबन्ध करना एवं सहकारी समिति स्थापित करना आदि आधुनिक योजनाओं का सम्पूर्ण सन्निवेश है।

(४) राजा के गुणों का प्रदर्शन अन्तिम सर्ग मे किया गया है। वे निष्पक्ष तथा प्रजापालक होने चाहिए। स्कन्ध की राज्यव्यवस्था देखकर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि राजा लोग कैसे धर्मपरायण, प्रजापालक एवं शान्ति स्थापित करने वाले होते थे। काव्य का प्रणयन उसी ढंग से किया गया है। अभी तक व्रजभाषा में कोई भी प्रबन्ध काव्य नही था अतः प्रथम प्रयास होने के कारण इस काव्य को महाकाव्य का स्थान प्राप्त होना उचित ही है किन्तु एक खटकने वाली बात यह है कि इस काव्य का उद्देश्य क्या है ? क्या यह समताभावना स्थापित करना चाहता है या दैत्यवंश राज्य, जिसमें प्रह्लाद ऐसे प्रभुभक्तों को राज्यपद से वञ्चित कर दिया गया है और उसके स्थान पर उसका पुत्र विरोचन शासन का अधिकारी बनाया गया है ? दैत्य यज्ञ करते है और ईश्वराराधन भी। उनका ध्येय है शक्ति पाना और उसको प्राप्त कर उसका दुरुपयोग करना।

नीतिकार ने कहा है "विद्या विवादाय धनं मदाय" कि दुष्टों के लिए विद्या विवाद के लिए, धन मद के लिए और बल पर-पीड़न के लिए होता है। इसके विपरीत विद्वानों के लिए धन दान के लिये, विद्या ज्ञान के लिए तथा शक्ति दूसरों के कष्ट के निवारण के लिये होती है।

यद्यपि कुशल कलाकार ने इस कटु सत्य को किन्हीं अंशों तक अपनी कला द्वारा आवृत्त रक्खा है किन्तु उसका आभास तो हो ही जाता है। दूसरे, इस काव्य में किसी भी नायिका के दर्शन नहीं होते। हाँ, संकेतमात्र कर दिया गया है। इस प्रकार यह महाकाव्य उच्च स्थान पाने में असमर्थ रहेगा।

इस काव्य में नायक की एकता अथवा बहुनायकों की परस्पर सहकारिता का अभाव है। वंशपरम्परागत वर्णन में भी अनेक कड़ियाँ ऐसी छूट जाती हैं जो किसी प्रकार मिलाई नहीं जा सकतीं। इसलिये पूर्ण वंशवर्णन भी इसे नहीं कह सकते।

नवम अध्याय

वर्तमान काल के महाकाव्य

(१९५१ के पश्चात्)

इस काल के महाकाव्य निम्न हैः—कृष्णायन, साकेत-संत और विक्रमादित्य।

कृष्णायन

काव्य-सम्पत्ति—तुलसीदास के मानस के पश्चात् इस आलोच्य काल में अवधी भाषा में महाकाव्य कहलाने का अधिकारी कृष्णायन ही है। इसमें मानस की तरह सात काण्डों में कथा का विभाजन किया गया है। इसकी कथा प्रख्यात है। इसका आधार है महाभारत और श्रीमद्भागवत। कथा के नायक सर्वगुणसम्पन्न, धर्मसंस्थापक, कर्मयोगी कृष्ण हैं और इन्हीं योगेश्वर कृष्ण के चरित्र से आबद्ध होने के कारण इस प्रबन्ध का नाम कृष्णायन रखा गया।

इसमें प्रकृतिवर्णन भी किया गया है किन्तु यह वर्णन महाकाव्य के एक अंग की पूर्ति के लिये ही हुआ है। कहीं कहीं पर प्रकृतिवर्णन सजीव एवं रोचक हुआ है। इसमें वीर रस प्रधान है। अन्य रसों में शृंगार, करुण, रौद्र, अद्भुत, हास्य आदि का समावेश है। शृंगार रस वीर भावनाओं के क्रोड़ में ही पल्लवित हुआ है। बिना विग्रह-विवाद के कोई भी प्रणय सम्पन्न नहीं हुआ किन्तु जितना भी शृंगारवर्णन है वह उच्च कोटि का है। इसमें नाट्य सन्धियों का भी निर्वाह हुआ है। इस महाकाव्य का महत् उद्देश्य है "आसुरी प्रवृत्तियों का दमन एवम् आर्य राष्ट्र धर्म का संस्थापन।" इसका प्रारम्भ अवतरण सर्ग से होता है और अन्तिम सर्ग आरोहण में। इस उद्देश्य की पूर्ति होने पर कृष्ण को हम स्वर्गारोहण करते देखते हैं। इस प्रकार से महाकाव्य के शास्त्रीय लक्षणों से युक्त यह काव्य महाकाव्य कहलाने का अधिकारी है।

कथानक—इस काव्य की कथा का आधार महाभारत और श्रीमद्भागवत है जिनमें श्रीकृष्ण की जीवन-सम्बन्धी घटनाएँ यत्र-तत्र विकीर्ण हैं किन्तु हिन्दी-जगत् को मिश्र जी के अथक प्रयास द्वारा श्रीकृष्णचन्द्र का पूर्ण एकत्र

चरित्र उपलब्ध हो रहा है। कथा का विभाजन सात काण्डों में हुआ है। प्रथम काण्ड में अत्याचारियों के अत्याचारों के प्रति उत्क्रोष एवं निवारण के लिए श्रीकृष्ण का जन्म, श्रीकृष्ण को मारने के लिए कंस के विफल प्रयत्न, गोपीप्रणय तथा उन्हें सार्वजनिक जलाशयों में नग्न स्नान करने के लिए दण्ड एवं राधा-कृष्ण-प्रणय का चित्ताकर्षक वर्णन है। द्वितीय काण्ड (मथुरा काण्ड) में अत्याचारी कंस का वध एवं उसके राज्य की सुव्यवस्था, गुरुकुल उज्जैन में सन्दीपन के पास विद्याध्ययन एवं गुरुपत्नी के पुत्र को जीवनदान दिलाना आदि का अच्छा वर्णन किया है। तृतीय काण्ड (द्वारिका काण्ड) को परिणाम काण्ड कहा जाय तो अच्छा होगा क्योंकि इस काण्ड में मथुरा से द्वारिका निवास करना, रुक्मिणी, जामवन्ती एवं कृष्ण-कालिन्दी-परिणय एवं सुभद्रा-हरण आदि का वर्णन किया गया है। चतुर्थ काण्ड (पूजा काण्ड) में कृष्ण का स्थान सर्वोपरि है, क्योंकि राजसूय यज्ञ में शिशुपाल का वध होना और कृष्ण को पूज्य स्थान प्राप्त होना आदि का वर्णन है। कृष्ण के लौट जाने पर धर्मराज पितृव्य की आज्ञा से द्यूत-क्रीड़ा में संलग्न हुए और अन्त मे द्रौपदी सभा में लाई गई और वहाँ पर उसका चीर-हरण करके नग्न करने का प्रयत्न हुआ। उसे उस अवसर पर मर्यादा की रक्षार्थ सहायता श्रीकृष्ण द्वारा प्राप्त हुई। उसके पश्चात् पाण्डवों के वनगमन आदि का वर्णन भी इसी सर्ग में हुआ है। पाँचवें (गीता) काण्ड में युद्ध के लिए उपक्रम एवम् अर्जुन के मोह को निराकरण करने के लिए श्रीकृष्ण द्वारा गीतोपदेश किया गया है। षष्ठ काण्ड (जय) में महाभारत के सम्पूर्ण युद्ध का वर्णन है किन्तु इस काण्ड में प्रमुख स्थान कृष्ण का ही है। सप्तम (आरोहण) काण्ड में पाण्डवों का पुरी-प्रवेश एवं धर्मराज के मन में आत्मग्लानि का निराकरण, श्रीकृष्ण का द्वारिका लौटना, विलासिता और गृहकला देखकर स्वर्गारोहण का निश्चय तथा मैत्रेय के उपदेश आदि का विशद वर्णन है। इस प्रकार हम देखते है कि कथानक में गतिशीलता है और मार्मिक स्थलों का चयन भी है। कृष्ण की बाललीला राधाकृष्ण का प्रेम, यशोदा का वात्सल्य, गोपियों का संलाप, द्रौपदी का चीर-हरण एवं सन्धि अवसर पर 'बिसरहिं नहिं ये केश' का स्मरण आदि अनेकानेक भावपूर्ण स्थल है। कथानक में कृष्ण के शौर्य एवं शील का स्थल स्थल पर परिचय मिलता है, साथ ही सौन्दर्य के समन्वय से कथानक में चारुता उत्पन्न हो गई है। कथानक में नवीन उद्भावनाएँ भी प्रकट की गई है।

(१) राधा को कृष्ण की पत्नी एवं भक्ति का अवतार माना है, क्योंकि कृष्ण राधिका के प्रथम दर्शन में विभोर हो जाते हैं—

(अ) "जब कछु क्षीरसिन्धु सुधि आई। औचक मोहित भये कन्हाई ॥"

(आ) "हम दोउ एक नाहिं कछु भेदा। कहत सकल निगमागम वेदा ॥"

(इ) "भक्ति रूप धरि तुम व्रज आयीं। नीरधि नेह नयन भरि लायीं ॥"

(२) द्रोपदी के पंच पतित्व को लेखक ने पूर्वजन्म की घटना माना है। उसको व्यास जी ने भी मान्यता दी है और रहस्योद्‌घाटन भी उन्हीं के द्वारा हुआ है।

"कृष्ण-पाण्डव कथा पुरानी, जन्म जन्म पर्यन्त बखानी।
सुनि नृप कीन्हेउ सहित उछाहू, पांचहु संग निज सुता विवाहू ॥"

(३) कवि ने कर्ण को सूर्यपुत्र नहीं माना है। कुन्ती की लज्जा का कारण कर्ण का कानीन होना ही था, सूर्य का पुत्र होना नही।

"उपजे तुम न सूत कुल ताता। तुम कानीन पृथा अंग जाता ॥
धर्म स्मृति विधान अनुसारा। तुमहिं ज्येष्ठ पुनि पांडुकुमारा ॥"

(४) जयद्रथ के वध के लिए अलौकिक प्रदर्शन की आवश्यकता को हटा दिया गया। उसका पार्थ ने सायंकाल के समय रणक्षेत्र में वध किया।

(५) महाभारत में अश्वत्थामा के वध में धर्मराज युधिष्ठिर की सत्य-वादिता के विरुद्ध जो आरोप किया जाता है उसका कृष्णायन में कहीं भी उल्लेख नहीं है।

(६) कृष्णायन के कृष्ण ईश्वर के अवतार हैं—

"बिनु अवलम्ब मातु पितु जाना। सहसा प्रकट भये भगवाना ॥
निमिषहिं महँ शिशु वेष दुरावा। रूप चतुर्भुज प्रभु प्रकटावा ॥"

(७) चमत्कारप्रदर्शन। उन्होंने अलौकिक चमत्कार द्वारा गुरु सन्दीपनि के मृत पुत्र को समुद्र से लौटाकर गुरुपत्नी की इच्छापूर्ति की। दूसरे चमत्कार से मृत परीक्षित को योग द्वारा जीवनदान दिया। कथानक में कहीं कहीं पर कवि कृष्ण को भूल गया है जैसा कि जय काण्ड में दिखलाई पड़ता है। उस स्थल पर भीष्म, अर्जुन आदि ही प्रमुख दिखलाई पड़ते है, कृष्ण का चरित्र गौण हो गया है किन्तु फिर भी कवि का यही प्रयास रहा है कि प्रमुख स्थान कृष्ण का ही रहे। दूसरे, गीता काण्ड में गीता का उपदेश कथानक के प्रवाह में बाधक ही सिद्ध हुआ है। यद्यपि इसकी महत्ता आध्यात्मिक दृष्टि से अस्वीकार नहीं की जा सकती है।

कथानक में श्रीकृष्ण के विभिन्न रूपों को एकत्र करने का प्रयत्न है। प्रथम स्वरूप बालकृष्ण का है जिसका स्वरूप सीमित है, दूसरा स्वरूप उनके विलास-वैभव और विवाह आदि का है और तीसरा स्वरूप कर्मयोगी, गीता-

प्रवक्ता और महान् राजनीतिज्ञ के रूप में है। इन तीनों रूपों को समन्वित करके कलाकार ने एक सुन्दर प्रबन्ध काव्य के रूप में उपस्थित करने का प्रयास किया है जिसमें उसे अभूतपूर्व सफलता प्राप्त हुई है।

चरित्र-चित्रण—इस महाकाव्य मे अनेक पात्र दिखलाई पड़ते है किन्तु कृष्ण को छोड़कर किसी पात्र के चरित्र का विकास पूर्ण रूप से नही हुआ है। इसका मुख्य कारण इसका घटना-प्रधान होना है। यद्यपि कृष्ण के चरित्र में विविधता दिखलाई पड़ती है फिर भी किसी नायिका का चरित्र पूर्ण विकास को नहीं प्राप्त हुआ है। श्रीकृष्ण का चरित्र, शील और सौन्दर्य से युक्त लोक-रक्षक, धर्म-संस्थापक, योगेश्वर कृष्ण, गोपीवल्लभ, राधाकृष्ण और बालगोपाल के रूप मे प्राप्त होता है।

श्रीकृष्ण दुष्टसंहारक, आततायी-विनाशक एवं शत्रु को निर्मूल करने वाले थे। इसी आधार पर अत्याचारी कंस का वध किया, कटुभाषी वाचाल शिशु-पाल का शिरोच्छेदन किया और असुर प्रवृत्ति वाले प्रबल शत्रु जरासन्ध को नष्ट-भ्रष्ट किया।

वे धर्मसंस्थापक और लोकरक्षक थे। धर्मसंस्थापन के लिए ही उनका प्रादुर्भाव हुआ था। अत: जहाँ कहीं भी उन्हें अनीति दृष्टिगोचर होती थी उसका उन्मूलन करना उनका प्रथम कर्त्तव्य हो जाता था। इसी कारण हम देखते हैं कि भीष्मपितामह, द्रोणाचार्य जैसे गुरुजनों के वध करने में भी उन्होंने ननुनच नहीं की, बल्कि अर्जुन को सदैव प्रोत्साहन ही देते रहे क्योंकि श्री-कृष्ण को विदित था कि वे लोग अधर्म पक्ष के समर्थक थे। यही कारण था कि उन्होंने व्यसनी, मद्यपी यादवों का नष्ट होना ही उचित समझा और उन्हें समूल नष्ट हो जाने दिया।

श्रीकृष्ण आर्योचित मर्यादा के प्रबल समर्थक थे। जब दुर्योधन रणक्षेत्र से भागकर तड़ाग में छिपा हुआ था और भीम के कटु वचनों को असह्य जान बाहर निकला उस समय उसने कृष्ण से कहा कि—

"पूछत पै मैं कृष्णहि आजू, धर्म तुम्हार कहाँ यदुराजू।
केहि रण नीति नियम अनुसारा, सब मिलि एकहि चहत संहारा॥"

कृष्ण का उत्तर कितना न्यायसंगत है, देखिये—

"जदपि भवन, रणभूमिहु माहीं, पालेहु कबहुँ धर्म तुम नाहीं।
धर्मी तथापि धर्म नरनाथा, तजत न धर्म अधमिहु साथा।
करिहैं आर्योचित आचारा, नृप संग नृपति योग्य व्यवहारा।"

श्रीकृष्ण तो आसुरी प्रवृत्तियों के कुचलने में आसुरी उपायों का आलम्बन अनुचित नहीं मानते । एक स्थल पर अक्रूर ने कहा है कि—

"छलनि संग जे छल नहिं करहीं, दलित परास्त मूढ ते मरहीं ।"

ये तो "शठे शाठ्यं समाचरेत" के मानने वाले हैं । उनका विचार था कि आर्य धर्म आर्यों के आपस के व्यवहार के लिए है, अनार्यो और आततायियों के लिए नहीं ।

श्रीकृष्ण धीर, वीर और गम्भीर थे । साथ ही रण-विद्या-विशारद एवं रथ-चालन-प्रक्रिया में निपुण थे । वे समय की गतिविधि के ज्ञाता थे । वे रण में युद्ध करना जानते थे और अवसर पड़ने पर पलायन करना भी जानते थे । क्योंकि वे जानते थे कि—

"उचित न तदपि सदा संग्रामा, युद्ध निरर्थक गर्हित कामा ।
केवल बल श्वापद व्यवहारा, बुद्धि युक्त मानव आचारा ।
बरनी मुनिन चतुर्विधि नीती, उचित न एक दण्ड में प्रीती ।
सोह नृपति जो तेज युत देत तदपि नहिं ताप ।
लरत जे भूपति नित्य उठि ते वसुधा अभिशाप ॥"

कृष्ण की यही नीति रही । उन्होंने मगधपति को रणक्षेत्र में हराया किन्तु जब देखा कि शत्रु प्रबल है तो मथुरा का त्याग कर दिया और द्वारिकापुरी में शक्तिसंचय कर अवसर पाकर उसका विनाश किया ।

कृष्ण समदर्शी थे । उनका व्यवहार समान था । अर्जुन और दुर्योधन दोनों सम्बन्धी थे । दोनों ने महाभारत मे कृष्ण की सहायता चाही । कृष्ण ने दोनों को सहायता प्रदान की । उन्होंने कहा कि एक ओर अकेला मैं रहूँगा और दूसरी ओर मेरी समस्त सेना । जो जिसे रुचे वह उसे अंगीकार कर ले । पार्थ ने कृष्ण को और दुर्योधन ने सेना को स्वीकार किया । कृष्ण को अपने ध्येय की पूर्ति में मान-अपमान की चिन्ता नहीं थी ।

जब दुर्योधन रणक्षेत्र में आहत हो गया तो उसने अनेक अपशब्दों से कृष्ण को अपमानित करने की चेष्टा की किन्तु धन्य कृष्ण जिन्होंने संयम से काम लिया । कृष्ण का उत्तर ध्यान देने एवं मनन करने योग्य है—

"विजय पराजय वाद न आजू, व्यर्थहिं लहत व्यथा कुरु राजू ।
थित तुम यहि क्षण मृत्यु दुआरे, उघरि रहे परलोक किवारे ।
आर्य हृदय अस होत न मोहा, यह दानव मद तुमहिं न सोहा ।
सके न जिन पै रण जय पायी, सकत नेह ते अबहुँ हरायी ।
अमृत प्रेम द्वेष विष जानी, नव पथ पथिक होहु नव प्राणी ॥

जिये मरे तुम आपु हित, भयेउ नरक संसार।
गहहु क्षमा अनुराग पथ, उघरहिं स्वर्ग किवार॥"

वे कर्मयोगी थे। अर्जुन के हृदय मे जब मोह उत्पन्न हुआ और उसने युद्ध-क्षेत्र में शस्त्रों को त्याग दिया, उस समय कृष्ण ने गीता के उपदेश द्वारा उसके मोह को नष्ट किया और 'फलासंगशून्य' कर्म का उपदेश दिया। कृष्ण लोक-तत्त्व को समझते थे किन्तु अन्यायी को न्यायी और न्यायी को अन्यायी कहना उन्होंने नहीं जाना। यही कारण था कि उन्होंने दुर्योधन को सदैव अपराधी बतलाया और अपने चरित्र मे कलंक का टीका न लगने दिया यद्यपि वह भी उनका सम्बन्धी था। अन्यायी के साथ क्षणभर रहना उन्हें मान्य नहीं था, फिर भला वे उसके आतिथ्य को कैसे स्वीकार करते। उनके अप्रिय सत्य वचन स्पष्टवादिता एवं निर्भीकता के द्योतक हैं—

"पर विपत्ति अथवा वश प्रीती।
खात परान्न सुजन जग रीती॥
मोहिं संग प्रीति तुम्हारि नहिं, विपति ग्रस्त मैं नाहिं,
केहि कारण भोजन करहूँ कस निकरहुँ गृह माँहिं॥"

वे तो अपने भक्त के यहाँ साग खाना उचित समझते थे। यही कारण था कि उन्होंने विदुर के यहाँ भोजन किया।

वे आदर्श विद्यार्थी थे। गुरुकुल में नियमानुकूल जीवनयापन करना एवं विद्याध्ययन करना उनका प्रथम लक्ष्य था। गुरुसेवा, सहपाठियों से समव्यवहार एवं दैनिकचर्य्या मे पूर्ण सहयोग देना, यहाँ तक कि लकड़ी एकत्र करना अपना परम कर्त्तव्य समझते थे। गुरुदक्षिणा द्वारा गुरु के प्रति श्रद्धा प्रकट करके एक उच्च आदर्श को प्रस्तुत किया। सहृदय तो थे ही। सुदामा ऐसे मित्र को तो वे भूल ही न सके। जब उन्होंने द्वारिकापुरी में पहुँचकर अपने आने की सूचना दी तो किस उत्साह और उल्लास से उनका स्वागत किया गया वह स्वर्णाक्षरों मे लिखने योग्य है। यही नहीं, उन्होंने मित्र के उच्चादर्श को स्थापित कर सुदामा को 'धान्य धरा, धन धाम' से विभूषित किया।

कृष्ण मातृ-पितृ-भक्त थे। पिता के आदेश के सम्मुख त्रिभुवन-राज्य भी इन्हें स्वीकार नही था। वे माता-पिता की आज्ञा को शिरोधार्य कर ही कार्य करते थे। जब कभी वे वन को गौवें चराने के लिए जाते थे तो अपनी माता यशोदा की आज्ञा प्रथम प्राप्त कर लेते थे। उनका कथन कि—

"करिहौं सोइ देहि आदेशू,
स्वप्नहुँ टारि न सकहु निदेशू।
इन अधीन हम इनहि न चेरे॥"

कृष्ण भक्तवत्सल थे। वे अपने भक्त के कष्ट को किसी प्रकार सहन नहीं कर सकते थे। द्रोपदी के चीरहरण के अवसर पर उसकी लज्जा को बचाया। यही नहीं, द्रोपदी के उस प्रण की रक्षा की जिसकी उसने यह प्रतिज्ञा की थी कि—

"खल-भुज-भंजन-रक्त बिनु, बधिहौं नहि ये बार।
जेहि पति राखी आजु मम, सोइ प्रण राखनहार।।"

श्रीकृष्ण पतितों के उद्धारक थे। आततायी दैत्य से सोलह हजार एक सौ गलित-सतीत्व कुमारियों का उद्धार किया और उनके रुदन पर कि उनको कौन स्वजन आश्रय देगा पत्नी के रूप में स्वीकार करके रुक्मिणी, सत्यभामा आदि के समकक्ष पदवी दी।

कृष्ण को हम गोपी-जन-वल्लभ के रूप में भी देखते हैं और उनके मृदुल प्रेम के स्निग्ध स्पर्श का अनुभव भी करते हैं। उनकी रासलीला को देखकर हमारी धारणा पुष्ट हो जाती है।

"हरि प्रेरित सब व्रज नर नारी। धाये इक इक कर धारी॥
शोभित सकल मण्डलाकारा। चंचल चरण चपल दृग तारा॥"

राधा और कृष्ण दोनों एक हैं—कोइ भेद नहीं। जैसे दूध की धवलता। इस प्रकार वे "यामहीन यामिन भयी, रचे श्याम महि रास।" करके आनन्द मनाते रहते थे। साथ ही हम बालगोपाल का भी चित्र पाते हैं जिसमें उन्होंने बालसम्बन्धी अनुपम लीलाओं के द्वारा व्रजसमाज को अपनी ओर अनायास आकर्षित कर लिया था। क्या बाल, क्या युवा, क्या वृद्ध, क्या वृद्धा प्रत्येक के मन को उन्होंने मुग्ध कर दिया।

वह आर्यसाम्राज्य को सुगठित करने वाले एवं नियामक थे। उसकी रूपरेखा ग्वाल-बालाओं से कर प्राप्त करना, उनके सामाजिक बन्धन को शिथिल करने पर उन्हें दण्ड देना जैसे चीरहरण द्वारा उन्हें नियम-बद्ध होने पर विवश करना आदि थी।

संक्षेप में कृष्ण के चरित्र को हम जिस दृष्टिकोण से देखें पूर्ण दिखलाई पड़ता है। ऐसा चरित्र अन्यत्र मिलना दुर्लभ है।

अन्य पुरुषपात्र कृष्ण की छाया में ही आते हैं और चले जाते हैं। उनका अस्तित्व केवल इतना ही है कि वे कृष्ण की आज्ञा को शिरोधार्य कर उसका पालन करें। पाण्डवगण भी इससे मुक्त नहीं है, वही दशा यदुवंशियों की भी है। धर्मभीरु युधिष्ठिर अपने पितृव्य के अनुचित आदेश (द्यूत-क्रीड़ा) का भी पालन करता है और उसके परिणाम को भी अंगीकार करता है। क्या इस

धर्मनीति से विश्व का कल्याण हो सकता है ? इसी का परिणाम कुरुक्षेत्र हुआ ।

कुछ पात्र आसुरी प्रवृत्ति के है । वे हठी, दम्भी और अधर्मी है । उन्हें धर्माधर्म से कोई प्रयोजन नहीं, वे तो अपने स्वार्थ तक ही सोचते है, उसके आगे न तो सोच सकते है और न समझ सकते है । उनके सम्पर्क में आने वाले ब्रह्मचारी भीष्मपितामह और आचार्य द्रोण जैसे गुरुजन भी उनका साथ देने में संकोच नही करते । यह समय का प्रवाह कहा जाय अथवा अधोगति । समाज अधःपतन के गर्त में पहुँच चुका था । स्त्रियों के मान की रक्षा क प्रश्न विकट था । वे भरी सभा में नग्न की जा सकती थीं । कोई विरोध करने वाला नहीं था । बड़े बड़े धर्माचार्य इस कुकृत्य को देखकर भी चुपचाप रह जाते थे । एक पुरुष कई स्त्रियों से विवाह कर सकता था । पाण्डवों में बहुतों के एक से अधिक पत्नियाँ थीं । बालविवाह होते थे । स्त्रियो का अपहरण एक साधारण बात थी । समाज की यह दशा थी किन्तु जहाँ तक स्त्रियों का सम्बन्ध था वे मानिनी, उच्च विचार वाली, दृढ़संकल्प एवं उदारहृदया थीं । कोई भी स्त्री अपने धर्म से विचलित नहीं दिखाई देती । क्या गान्धारी, क्या द्रोपदी सभी आवेशपूर्ण एवं पतिपरायणा है । उन्हें यदि चिन्ता है तो अपने मान की । द्रोपदी ने तो अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण होने पर ही केशबन्धन किया किन्तु यह सब होते हुए भी वह उदारहृदया थी । उसने अपने कुलनाशक, पुत्रसंहारक द्रोणपुत्र को भी जीवनदान देकर बन्धनमुक्त कराया था । यह थी नारीजगत की शालीनता एवं उच्चाशयता ।

प्रकृति-चित्रण—कृष्णायन का कवि प्रकृति में अधिक रम नहीं पाया है किन्तु जहाँ कहीं उसे अवसर प्राप्त हुआ है उसने उसका लाभ उठाया है और प्रकृति का सजीव चित्रण किया है । आलम्बन स्वरूप प्रकृति का एक चित्रण देखिये जिसमें हेमन्त ऋतु का वातावरण सम्मुख उपस्थित हो जाता है ।

आलम्बन स्वरूप—

"ऋतु हेमन्त नील आकाशा, उज्ज्वल दिवस शीत बाताशा ।
ऋतु सुख, शक्ति, धान्य, धन देनी, पुलकित महि खग मृग, तरु श्रेणी ।
शालि विपाक पाण्डु कटु धरणी, कहुँ कपास आदित सित बरनी ।
कहुँ गोधूम-हरित अभिरामा । द्विदल शस्य धृत कहुँ कहुँ श्यामा ॥

कहुँ सन सुमनन पीत महि, बहु वर्ण रमणीय ।
मनहुँ मेदिनी-तल उदित, सुरपति-धनु कमनीय ॥"

प्रकृति का उद्दीपन स्वरूप—प्रकृति सौन्दर्य से युक्त होने के कारण मानव की सहचरी के समान आनन्दप्राप्ति में सहायक होती है। मानव आनन्द ही चाहता है। प्रकृति मानव के हृदयगत भावों की प्रतिरूप है। इसीलिए कवि प्रकृति का वर्णन भी इस प्रकार करता है कि वह उसके क्रियाकलाप में सहायक हो सके। प्रकृति का उद्दीपन स्वरूप देखिये—कृष्ण और रुक्मिणी वन के मध्य से आ रहे हैं। दोनों के हृदय में नवोल्लास है, नई कामनाएँ हैं। उनको प्रकृति किस रूप में दिखलाई पड़ती है—

> "पूजति क्रीडति मंजरिन कोकिल अलिकुल संग,
> वादत जनु जय दुन्दुभी बिजयी भुवन अनंग।
> लहि परिमल दक्षिण अनिल शीतल मलयज मन्द,
> विहरि भुवन कण-कण भरत नवस्फूर्ति सानन्द।
> कुसुमित मधुनिधि माधवी, कुसुमाकर श्रृंगार,
> पुलकित लहि अंग अंग अनिल, अलि चुम्बन गुंजार।"

आलंकारिक रूप—इसमें वर्णनसादृश्य को अधिक लिया जाता है जिससे प्रस्तुत विषय आँखों के सम्मुख चित्रवत खिच जाये। यथा—

> "कुमुद देह, पूर्णेन्दु मुख, कर पद उषा विलास,
> वेणि श्रेणि अति, मधु अधर, शरद चन्द्रिका हास।"

उपदेशक अथवा दृष्टान्तनिरूपण के लिए—प्रकृति और मानव में अधिक सामंजस्य होने के कारण प्रकृति के विभिन्न अंगों को लेकर दृष्टान्त उपस्थित किए हैं अथवा उपदेश।

> "घृत जनु परेउ कृषानु ज्वलंता, धृत आयुध कर उठे अनंता।
> धाये अन्धाधुन्ध जन कैसे, धावत चक्रवात मरु जैसे॥"

प्रकृति मानवीय व्यापारों की पृष्ठाधार—जब कृष्ण मधुपुरी को जा रहे थे तो उनके स्वागत के लिए जनसमुदाय उमड़ रहा था। उस अवसर पर प्रकृति कैसे पीछे रह जाती। यहाँ पर प्रकृति का अनुकूल स्वरूप देखिये—

> "भरे विकच अम्बुज-आमोदा, बहत अनिल सरि-सिक्त समोदा।
> प्रणमत अवनत मस्तक तरुगण, करत सुमन फल-अर्घ्य समर्पण॥
> मंगल कलश ताल-फल राजत, मार्ग विटप प्रतिहार विराजत।
> श्रेणी-बद्ध व्योम बक छाये, स्वागत वन्दनवार सजाये॥
> पथ पांवड़े सस्य मिस पारति, हास कांस मिस धरणी धारति।
> स्वरित वेणु-वन पवन तरंगा, बन्दी वरनत चरित प्रसंगा॥
> नर्तत मोर, विहंग मधु गावत, अलि कुल मंगल-वाद्य बजावत॥"

प्रकृति के इन चित्रों के साथ वर्षा ऋतु की रात्रि का एक चित्र देखिये। वह कितनी भयावनी है। कहीं पर नाग फुफकार रहा है और कहीं पर सिंह दहाड़ रहा है—

"सघन तिमिर लिरखत कठिनाई, दमकति दामिनि देति दिखाई।
बारिद् विद्युत महि मिलि गरजत, होत रोर रहि रहि हिय लरजत॥
दायें कबहुँ नाग फुफकारत, बायें सहसा सिंह दहारत।
सम्मुख हहरति जमुन तरंगा, विकट प्रवाह धीर मन भंगा॥"

प्रकृतिवर्णन में पशु-पक्षियों का वर्णन भी एक आवश्यक अंग है, प्रकृति उनके बिना अपूर्ण है। जब वे त्रस्त होते हैं तो उनकी दशा किस प्रकार हो जाती है। इस वर्णन में मिश्र जी के सूक्ष्म निरीक्षण का पता चलता है। यथा—

"सिहरे त्रस्त सकल बन-प्राणी, चपल मृगावलि विकल परानी।
विह्वल शम्बरि मुख-तृण त्यागी, स्रवत फेन शावक लै भागी॥
भयेउ पलावित न्यंकु - संघाता, खरभर शीर्ण शुष्क बन पाता।
भागे करि-निकरहु चिग्घारी, मेघाकार स्रवत मद-वारी॥
भागत भीत शृगाल हुआने, घुर्घुरात वाराह पराने।
कीन्ह तरक्ष तीक्ष्ण चीत्कारा, ध्वनित विपिन प्रतिध्वनित पहारा।
व्याकुल विटप विहंग समुदायी, असमय केका ध्वनि वन छायी।
टिटिभहु तजि निज नीड़ उड़ाना, प्रतिफल सिंह नाद नियराना॥

अकस्मात् तुरगहु अड़े, खुरत खूंदि फुफुवात।
देखेहु बनचर राम कोउ, आवत दुरत सघात॥"

शरद् पूर्णिमा का नारी स्वरूप का एक चित्र देखिये—

"शरदागम शोभित मधु यामिनि, महि अवतरित मनहुँ सुर कामिनि।
विलसत व्योम विमल विधु आनन, कुंचित अलक श्याम शश लांछन।
पुलकित कौमुदि कमल दुकूला, तारक अवलि विभूषण फूला।
बन्धुक - अरुण अधर अभिरामा, कलिका कुन्द दशन द्युतिधामा।
कैरव कुण्डल श्रवणन धारे, नवल मल्लिका चिकुर संवारे।
हंस मुखर नूपुर स्वर गावति, अलि ध्वनि किंकिणि वाद्य बजावति।
हरि ढिंग शरद शर्वरी आयी, चित-रंजिनी वृत्ति हुलसायी॥"

प्रकृति का कठोर रूप—

"लय गति बही वायु विकराला, गरजी अंतराल घन माला।
विद्युत बेलि फैलि नभ व्यापा, तड़क कड़क भूमण्डल काँपा।

उपल-वृन्द महि विपुलाकारा, बरसे शिलासार दुर्वारा ॥
दारुण वृष्टि, सृष्टि एकार्णव, निष्फल नयन श्रवण रव भैरव ।
विगत दिवस, घनघोर त्रियामा, भटके तजि पथ श्याम सुदामा ॥"

प्रकृति का सम्वेदनात्मक स्वरूप—कृष्ण जब मथुरा को चले जाते है उनके वियोग में मानवसमुदाय ही नहीं, बल्कि प्रकृति भी मलिन एवं कान्ति-विहीन हो जाती है। यथा—

"निर्जन वृन्दावन द्युति हीना, सूखे तृण तरु जीव मलीना ।
अनल-पुन्ज इव कुन्ज लखाहीं, खग मृग भीत समीप न जाहीं ।
देखि न परत चरत कहुँ धेनू, कतहुँ न बाल बजावत वेणू ।
विरह विकल यमुना अति कारी, हहरति बहति विरह-ज्वर-जारी ।
म्लान तमाल न शिखि शिर धारत, अब नहिं कृष्णरूप अनुहारत ।
विकसत कमल न सिर सर माहीं, परति सुनाय मधुप-ध्वनि नाहीं ।
मौन पपीहा, नहिं खग कूजन, झंकृत कानन झींगुर-झन झन ।"

रस और भाव—कृष्णायन वीर-रस-प्रधान महाकाव्य है। प्रारम्भ में ही कवि वन्दना करता है कि—

"जन्मेउ बन्दी धाम जो जननी मुक्ति हित,
बन्दहुँ सोइ घनश्याम मैं बन्दी बन्दिनि तनय ।"

बन्दीगृह में उत्पन्न होने वाले ऐसे युगपुरुष के लिए वीर रस के अतिरिक्त कौन रस उपयुक्त होता जिससे उसके चरित्र का चित्रण किया जाता। कृष्ण युगप्रणेता हैं, गीतगोविन्द के कृष्ण नहीं।

वीर रस– वीर रस का स्थायीभाव उत्साह होता है। यह केवल युद्ध में ही नही वरन् दान, दया, क्षमा आदि में भी होता है। शत्रु पर विजय प्राप्त करना आलम्बन, चेष्टाएँ, अस्त्र-शस्त्र प्रदर्शन आदि उद्दीपन, धृति, मति, तर्क आदि संचारीभाव होते है। इस काव्य में वीर रस की उद्भावना प्रारम्भ में होती है और क्रमशः वृद्धि को प्राप्त करती हुई जय काण्ड में पराकाष्ठा को पहुँच जाती है। यथा—

"नाथे अहिं, माथे धरे कोटि कमल अभिराम,
नर्तत मुदित फणीन्द्र फण प्रकटे नटवर श्याम ॥"

इस अवतरण में फणीन्द्र पर विजय प्राप्त कर उसे नाथकर लाना वीरता का द्योतक है।

दूसरा वीरता के अन्तर्गत ही क्षमा का स्वरूप देखिये—

रुक्मिणी ने कृष्ण को कटु वचन कहे और प्रखर शर चलाये। कृष्ण उसका वध करना चाहते हैं किन्तु दया करके क्षमा कर दिया।

"द्रवति दयानिधि, बध-विरत, बांधेहु रथ आराति।
काढ़े कुवचन खल तबहुँ कहि कहि गोपि कुजाति।
जानत मोहिं भल तुव भगिनि, भाषेहु बिहंसत श्याम,
पूछत तेहि नहिं मूढ़ कस वंश नाम मम धाम।
सरस कृष्ण परिहास मौन मूढ रुक्मिहु सुनत,
झलकेउ ईषत हास, सजल रुक्मिणी-दृगन।"

वीरता के अन्तर्गत दयावीर का स्वरूप देखिए—

द्रौणी को जीवित पकड़कर लाना और भीम ने तीक्ष्ण कृपाण द्वारा उसका वध करना चाहा किन्तु धन्य है द्रोपदी को जिसके रात्रि में सोते हुए पुत्रों को इसने वध किया है। उसके वचन सुनिये—

"छमहु नाथ ! यह दासि अभागी, याचति प्राणदान द्विज लागी।
विष पादपहु रोपि निज आंगन, करत न कोउ स्वकर उत्पाटन।
ये तौ गुरु सुत पावन नाता, पूज्य गुरुहि सम गुरु अंगजाता।
कीन्हें गुरु जे अस्त्र प्रदाना, रच्छे तिन तुम्हार रण प्राणा।
तिनहिं सहाय शत्रु संहारी, आजु राज्य जय तुम अधिकारी।
लहेहु यहहि गुरु प्रत्युपकारा, रण नित सहे तुम्हार प्रहारा।
पितु वध क्रोधित विस्मृत-नाता, धृष्टद्युम्न गुरु स्वकर निपाता।
करि इन रात्रि तासु प्रतिकारा, निखिल पितृकल मम संहारा।"

❀ ❀ ❀ ❀

"बधेहु इनहिं निज सुत पितु भाई, सकति न नाथ ! बहुरि मैं पायी।
गुरु निपाति, अब सुत निहित, करहु न निखिल कुलान्त।
धरि नृपोचित उर क्षमा करहु नाथ ! वैरान्त ॥"

❀ ❀ ❀ ❀

"जो दानव खल-दल-दलनि चण्डी मूर्त्ति रणादि,
दया मूर्त्ति अब अम्बिका, सोइ शत्रु अवसादि।
हरि-नियोग-अभ्यस्त, तजो भीम असि रोष-सह,
अचल चित्र जनु न्यस्त, चकित, द्रौणी परित्राण लहि।"

शृंगार रस—वीर रस के पश्चात् इस काव्य में शृंगार रस का वर्णन हुआ है। इसका वर्णन वीर भावनाओं की ही छत्रछाया में हुआ है। हम

देखते है कि कोई भी प्रणय—चाहे रुक्मिणी का हो अथवा कालिन्दी का, सुभद्रा का हो अथवा सत्यभामा का, द्रोपदी का हो अथवा जाम्बवती का—बिना विवाद अथवा विग्रह के नही सम्पन्न हुआ।

शृंगार में संयोग और वियोग दोनों पक्ष रहते हैं किन्तु इस काव्य मे संयोग पक्ष का ही प्राधान्य है। कृष्ण राधा को देखकर प्रेमविभोर हो जाते है। देखिये दोनों का संयोग—

"राधा माधव संग सोहाये, नवल चन्द्र पै नव घन आये।
बरसत नवरस मेघ नव भीजे तन मन प्राण।
मिले कामना काम दोउ, मिले भक्ति भगवान॥"

इन दोनों में इतना प्रेम बढ़ जाता है कि वे अपना कार्य करना भी भूल जाते है। कृष्ण गाय दुहते समय राधा को देखकर प्रेम मे इतने विभोर हो जाते हैं कि दूध की धार बिखर जाती है—

"इत चितवहिं उत धार चलावहिं, लखि लखि श्यामा मुख सुख पावहिं,
हाथ धेनु-थन नैन प्रिया तन, चूकि धार बिखरी चन्द्रानन।
दुग्ध-बिन्दु राधा मन मोहत, धोय कलंक इन्दु जनु सोहत।"

अन्त में इन दोनों के प्रेम में इतनी तन्मयता हो जाती है कि—

"नील पीत पट, लट मुकुट, कुण्डल श्रुति ताटंक।
अरुझत एकहिं एक मिलि, राधा माधव अंक॥"

में दिखलाई पड़ते है। यही प्रेम भक्ति में परिणत हो जाता है। और फिर राधा कृष्ण में कोई अन्तर नहीं रह जाता और—

"राधा माधव मिलन अनूपा, हरि राधा, राधा हरि रूपा।"

इस प्रकार शरीर और माया का भान नष्ट हो जाता है और उनकी भेंट मुक्त जीव की तरह हो जाती है।

अब वियोग पक्ष के स्वरूप को देखिये जो कृष्ण के मथुरा जाने पर उत्पन्न हुआ। अभी तक समस्त व्रज कृष्ण के सम्पर्क से आनन्दित एवं उल्लसित था किन्तु अक्रूर के मुख से वृत्त सुनकर और कृष्ण के मधुपुरगमन के निश्चय को जानकर नव उमंगों पर तुषारपात हुआ। नन्द के गृह मे तो हाहाकार ही मच गया। जब वियोगी देखता है कि उसके प्रिय जन पर आपत्ति आने वाली है तो उसके निराकरण के लिए नाना प्रकार की बातें कहता है और अन्त में सब कुछ त्यागने पर उद्यत हो जाता है—यही दशा आज यशोदा की है—

"ये बालक गो-चारत बन बन, यज्ञ सभा इन सुनी न श्रवणन।
गुरु द्विज कबहुँ न ग्राम जोहारा, जानहिं काह राज व्यवहारा॥

❀ ❀ ❀ ❀

वरु नृप लेहि धाम धन गाईं , मन-बाँछित 'कर' लेहिं चुकाईं ।
सर्वस लेय देय इक श्यामू , जननी जीवन व्रज-सुख धामू ।।"

'सर्वस लेय देय इक श्यामू' में कितनी वेदना है—रोना ही इसका अंतिम अस्त्र है ।

"बिलपति मातु, न लखि परत, व्यथा-वारिनिधि-कूल ।
ढरकि कपोलन अश्रु जल, भिजवत देह दुकूल ।।"

उस रात्रि को कोई नही सोया । ऐसा प्रतीत होता था कि मानों करुणा ने साकार रूप धारण कर लिया है । उस दिन की दशा देखिये—

"जात भवन निशि अति भय पावहिं,प्रविशहिं द्वार लौटि पुनि आवहिं ।
जनु प्रति भवन भयेउ भय डेरा , उड़त विहंग नहिं लेत बसेरा ।
धेनु रंभाहिं, बच्छ अकुलाहीं , राम ! श्याम ! कहि जनु बिलखाहीं ।
शुक - सारिकहु जरह बिरहागी, फरफरात हरि हर रट लागी ।।"

करुण रस—वियोग और करुण रस में केवल यही अन्तर रहता है कि वियोग में मिलन की आशा रहती है किन्तु करुण में सदा के लिए वियोग होता है । जब अभिमन्यु का वध हो गया, उस समय शिविर की दशा को देखकर ऐसा प्रतीत होता था कि मानों करुण ने स्वरूप धारण कर लिया हो । यथा—

"शान्त महानक तूर्य अस्तमित, एकहु शिविर न जय स्वर मुखरित ।
जुरत सूत बंदी जहँ नाना, मूक आजु सब मनहुँ मसाना ।
दृग जल आर्द्र माद्रि सुत विह्वल, पतित पंक जनु रत्न समुज्ज्वल ।
बाचा विरल तप्त अभ्यंतर, श्वसत भीम जनु भुजंग भयंकर ।
मूर्ति विषाद विहत - धृति-मति-गति, लिखित महीजन धर्म महीपति ।
ग्लानि वदन उर दाह अपारा, हा ! सुत ! अधर, दृगन जल धारा ।

अन्तःपुर हू ते उठत, रहि रहि हाहाकार ।
हा ! बिधु-आनन ! प्राण-धन ! हा अभिमन्युकुमार ।।
सके न शोक संभारि, गिरे धरणि अरजुन विकल ।
बाहु सवेग पसार धरेउ सुहृद हरि धृति अवधि ।।"

समस्त परिवार दारुण दुःख में निमग्न है किन्तु सुभद्रा के नेत्रों से जल नहीं प्रवाहित हुआ । जैसे ही उसने कृष्ण को देखा तो वह ज्वालामुखी पहाड़ के सदृश भभक उठी । उसके शोकोद्गार देखिये—

"अछत वृष्णि पति चक्र सुदर्शन, अछत पार्थ गाण्डीव शरासन ।

अछत वृकोदर कर गदा अरि विदारिणि घोर,
अछत सिंह त्रय केहि हतहु रण हरिणेश किशोर ?''

कितनी अन्तर्वेदना इन शब्दों से प्रकट होती है।

रौद्र रस—स्थायीभाव क्रोध है। मुख लाल होना, भौंहों का तिरछा होना, नेत्रों का विस्फारित होना अनुभाव है। आलम्बन शत्रु होता है। कृष्ण ने कुवलया गज को मार्ग रोके हुए देखा। उस समय उनके स्वरूप को सप्रसंगानुपात भाषा में व्यक्त किया है। यथा—

"सहज सौम्य मुख भयेउ कठोरा, जागेउ रौद्र तेज तनु घोरा।
दमके पुण्डरीक दृग डोरे,....................।

पट कटिबद्ध संयमित पेशा, प्रकटेउ नरसिंह वेष व्रजेशा।
ललकारेउ गजपाल सरोषा, धरेउ भुवन नीरद निर्घोषा॥"

वीभत्स रस—स्थायीभाव घृणा है। आँतों का हार पहिनना रुधिर पीना आलम्बन है। भीम का वीभत्स रूप देखिये—

"करि सिर छिन्न कृपाण-प्रहारा, तीक्ष्ण नखन अरि-वक्ष-विदारा।
गरजि हृष्ट शार्दूल समाना, पियेउ उष्ण शोणित प्रणवाना।
अट्टहास उठि कीन्ह भयंकर, रक्त सिक्त वीभत्स वृकोदर॥"

हास्य रस—इसके अवतरण इस काव्य में बिखरे पड़े हे। कुछ उदाहरण देखिये–जब यशोदा कृष्ण से कहती है कि बिना जल के अग्नि की ज्वाला शान्त हो गई। आँख खोलो। इसको सुनकर एक गोप कहता है कि कृष्ण बड़े गुणी हैं जिन्होंने हमारी सदैव सहायता की है। यह जन्म से ही टोना जानते हैं। एक व्रजबाला कृष्ण से मन्त्र सिखाने के लिये निवेदन करती है। कृष्ण का उत्तर सुनिये—

"बोले कान्ह मन्त्र तेहि आवे, चोरी करि जो माखन खावे।
उरहन जासु गेह नित आवे, जननी सुनि सुनि जासु रिसावे।
ऊखल ते जो देह बंधावे, होत भोर दस सोंटी खावे॥"

अद्भुत रस—इसके दर्शन कई स्थलों पर होते हैं। यथा—

"महि ते गहि गिरि बाम कर लीन्ह समूल उखारि,
कनिष्ठिका करजाग्र हरि सहजहिं लीन्हेउ धारि॥"

व्रज में मूसलाधार वर्षा हुई किन्तु "गिरत वारि व्रज जाति सुखाई।"

भयानक रस—

"हरि सतर्क कीन्हेउ संकेतू, कूदे सखा बाम हत चेतू।
व्याप्त भीति गोपनि हृदय डोलत तनिक न गात।
चित्र लिखी ठाढ़ीं सकल निकसत मुख नहिं बात॥"

अनिष्ट की भावना स्थायीभाव है। भ्रम होना, मुख से बात न निकलना अनुभाव है।

कहने का तात्पर्य यह है कि इस महाकाव्य में समस्त रसों का समावश हुआ है। कोई भी रस छूटने नहीं पाया है। वीर रस की तो प्रधानता ही है। वीर रस से युक्त काव्य बहुत ही कम देखने को प्राप्त होते हैं। इसमें सुन्दर भावों का समावेश है। कवि ने स्वीकार किया है कि उसने मधुप वृत्ति को अपनाया है। सूर, तुलसी के भाव और संस्कृत कवियों में कालिदास, माघ और भारवि के भाव नव रूप में मिलते हैं। गीता का अनुवाद भी किया गया है।

भाषा और शैली—कृष्णायन की भाषा अवधी है जो कि संस्कृतगर्भा है। इसमें तुलसीदास की भाषा अपनायी गई है। यद्यपि तुलसीदास की भाषा में संस्कृत के तद्भव शब्दों का ही प्रयोग हुआ है किन्तु इस काव्य की भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्दों का ही बाहुल्य है। फिर भी स्वाभाविक प्रवाह में कमी नहीं आने पाई है। भाषा सरल और गतिपूर्ण है। देखिये—

"जब लगि श्याम चराई गाई। परे न भाई बन्ध लखाई॥
जब अक्रूर क्रूर व्रज आवा। कहेउ कंस नंद सुवन बुलावा।
गयेउ साथ लै मधुपुर माहीं, राखेउ हरिहिं गेह कोउ नाहीं॥"
"तरुवर तरे कीन्ह हरि वासा, आयेउ यादव एक न पासा।
भोर भये गज मल्ल हँकारी, चाहेउ कंस बधन बनवारी।
भयेउ न सुफलक सुवन सहायी, उद्धव गुनिहु न परे लखाई॥"

पर सर्वत्र यह बात नहीं है। प्रसंग के अनुसार भाषा में भी परिवर्तन होता रहता है। कठोर भावों को प्रदर्शित करने के लिए परुष शब्दों का प्रयोग किया गया है। यथा—

"सरवर अश्वावार-शिर गिरे छिन्न चहुँ ओर,
पक्व लाल फल जनु झरत झंझानिल झकझोर॥"

❀ ❀ ❀

"हनेउ सुतीक्षण विशिख वक्षस्थल, गिरेउ सुदक्षिण विद्ध धरणितल।
भ्रष्ट किरीट, नष्ट तनु त्राणा, कीर्ण आभरण भट निष्प्राणा॥"

भाषा अलंकारपूर्ण है। इसमें अनुप्रास, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा विरोधाभास आदि श्रेष्ठ अलंकार स्थान स्थान पर मिलते हैं। कहीं कहीं पर सुन्दर रूपचित्र भी प्राप्त होते है। यथा—

"सुनत सखा-भुज निज भुज दीन्हा, पंकज पाणि वेणु प्रभु लीन्हा।
परसत अधर मुरलि मधु बाजी, लटकेउ मुकुट भौंह छवि छाजी॥
लोचन चपल लोल द्युति कुण्डल, झलकत युग कपोल मुख-मंडल।
पीत वसन फहरत तनु कैसे? लहरति उदधि उषा-द्युति जैसे॥
चितै चितै प्रभु सैन चलावत। अंग अंग पुलक भँवर उपजावत॥"

मुहावरों का प्रयोग सफलतपूर्वक किया गया है। यथा—

(क) सोये साँप जगाये आयी।
(ख) आगि लगाय बुझावन धावहिं।
(ग) लागी रोम रोम रिस आगी। आदि।

शैली—प्राचीन दोहा, सोरठा, चौपाई की परम्परा को स्वीकार करके यह महाकाव्य लिखा गया है। इस शैली को जायसी ने अंगीकार किया था और मानस में भी इसका अनुसरण किया गया किन्तु उसमें अन्य छन्दों का भी प्रसंगानुकूल आश्रय लिया गया है।

दोष—इस काव्य में कई स्थलों पर उल्टे समास लिखे है, यथा—दिनप्रति, मणिइन्द्र, जायावीर आदि, जो उचित नहीं कहे जा सकते।

कई स्थलों पर लिंगदोष, यतिदोप, छन्दोभंग और कई शब्दों के अनुचित प्रयोग भी मिलते हैं—

"धाये सखा रंभाय रंभायी।" पशु रंभाते है, बालक नहीं रंभाते।

(१) लिंगदोप—"नगर वारणावत जब आयी।"
नगर के साथ आया प्रयोग होना चाहिये।

(२) छदोभंग—(अ) "रुचत न तेहि यदु विवाहू।"
दो मात्रायें कम।
(ब) "हते मगध-महीपति तिन माहीं।"
दो मात्रायें अधिक।

(३) कल्याणी शब्द का अनुचित प्रयोग—
"ब्याहन चहहुं भगिनि कल्याणी।"

(४) नमित। नत होना चाहिये।
एकत्रित। एकत्र होना चाहिये।
अनेकन। अनेक होना चाहिये।

आधुनिकता एवं विचारधारा—

(१) "पै जाने बिनु तनया भावा। उचित न करब हरिहि प्रस्तावा ॥"

अवन्तिनरेश कृष्ण और मित्रविन्दा सम्बन्ध स्थापन करने के पूर्व अपनी पुत्री के भाव को जानना चाहते है—यह आधुनिक समाज-भाव है।

(२) राष्ट्रवादिता—

"प्रिय स्वतन्त्रता क्लेश जेहि तेहि पै वारहुँ प्राण,
प्रिय दासत्व विभूति जेहि, सुतहू सो गरल समान॥
दिव्य शौर्य, धृति नीति युत तुमहिं भरत महि आरा।
आर्य राज्य थापहु बहुरि करि नृशंस अरि नाश॥"

(३) गान्धीवाद—

"......................युद्ध निरर्थक गर्हित कामा।"
"केवल बल श्वापद व्यवहारा बुद्धि युक्ति मानव आचारा।
बुद्धि साध्य जब लगि नृप कर्मा गहन युद्ध पथ घोर अधर्मा॥"

(४) समाजवाद का भारतीय दृष्टिकोण—

"एकहि नीति तत्व मैं जाना, हेतु समष्टि व्यक्ति बलिदाना।
स्वजनहिं बसत जासु मन माहीं, सधत धर्म हित तेहि ते नाहीं॥"

इस काव्य पर आधुनिकता का अधिक प्रभाव नहीं पड़ा क्योंकि तात्कालिक और आज के भारत में कोई विशेष अन्तर नहीं था। वह समय भी आसुरी प्रवृत्तियों से आच्छन्न था। आज भी वही प्रवृत्तियाँ कार्य कर रही है।

(५) धर्मयुद्ध की सुन्दर कल्पना है। युद्ध होता है किन्तु रात्रि में दोनों दलों के लोग एक दूसरे से मिल सकते हैं। इस युद्ध में इस बात का भी ध्यान रक्खा जाता है कि निरीह मानवता का संहार न हो। योद्धा युद्ध में रत रहते हैं और समीप के ग्रामवासी अपने दैनिक कार्य में संलग्न रहते हे। आज की तरह उन्हें भय नहीं था कि वे क्षणभर में नष्ट कर दिये जावेंगे।

(६) कृष्णायनकार ने सांस्कृतिक एकता को अक्षुण्ण रखने के लिए आर्य सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है और राजनीतिक एकता को शृंखला-बद्ध करने का आयोजन किया है। इस कार्य में वह सफल भी हुआ है।

साकेत-संत

काव्य-सम्पत्ति—साकेत-संत खड़ीबोली का काव्य है। महाकाव्य के अनुसार यह चौदह सर्गों में विभाजित है। इसकी कथा का आधार रामायण है। इसमें भरत जी नायक हैं जो धीरोदात्त गुणों से सम्पन्न हैं। साहित्यिक नाम, गुणा-

नुकूल एवम् अनुप्रासपूर्ण होने के कारण मिश्र जी की सुरुचि एवं कलात्मकता का परिचय मिलता है। प्रकृति का वर्णन यथावसर हुआ है। यह भक्ति-रस-प्रधान काव्य है जैसा कि इसके नाम से ही विदित होता है। साथ ही शृंगार, करुण एवं वीर रस के भी दर्शन प्राप्त होते हैं। नाट्य सन्धियों का अभाव अवश्य खटकता है किन्तु काव्य में प्रसाद गुण मिलता है। फिर भी जिस प्रकार की काव्य की आशा की जाती है उसकी कमी अवश्य है। इसका कारण ग्रन्थ का विचारप्रधान होना है। कहीं कहीं पर कवित्व के सुन्दर दर्शन होते हैं।

कथानक—इस काव्य की कथा का आधार रामायण है जैसा कि पहिले कहा जा चुका है। इसमें मिश्र जी ने दो-एक स्थलों पर परिवर्तन कर दिया है। यथा—

(१) कैकेयी के वरदानों को उसके विवाह की एक शर्त माना है।

(२) भरत का कैकय जाना उनके मामा के आग्रह पर हुआ था, अतः दशरथ का दोषमुक्त होना।

(३) मन्थरा को बीच में नहीं घसीटा है, केवल भरत को उनके मामा के वार्त्तालाप से षडयन्त्र का भास हुआ था।

(४) कैकेयी के सती होने की धारणा की उद्भावना।

(५) भरत के राजसी ठाठ एवं सेना के साथ जाने का कारण भी प्रथम ही व्यक्त कर दिया है।

(६) भरत के आने की सूचना राम को कोलों द्वारा प्राप्त होने से लक्ष्मण-रोष का कारण ही मिट जाता है।

इस प्रकार कथानक का प्रारम्भ पति-पत्नी के प्रेमालाप से होता है। दोनों हिमालय की छटा एक दूसरे में देखना चाहते थे क्योंकि मामा के आग्रह से केकय देश जाने की अनुमति पिता से मिल चुकी थी। दूसरे दिन दोनों ने केकय की ओर प्रस्थान किया और वहाँ पहुँचने पर मृगया के अवसर पर भरत को षडयन्त्र का कुछ भास हुआ जिसको कि इनका मामा रच रहा था। यह चिन्तित लौटे और साकेत आने की प्रतीक्षा करने लगे।

कालान्तर में ये वशिष्ठ द्वारा बुलाये गये। अयोध्या पहुँचने पर माता के कुकृत्यों से वे अति दुःखित हुए। अब उन्हें अपने कर्त्तव्य का ज्ञान हुआ। मन्त्रि-मण्डल कुछ निश्चय न कर सका। कैकेयी को अपनी भूल का परिचय मिल गया। वह हतप्रभ हो गई और दशरथ के पुनर्जीवन के लिए प्रयत्नशील हुई और अपनी असफलता पर शव के साथ सती होने को उद्यत हो गई किन्तु

भरत ने उसे रोका। दशरथ के शव का दाह हो गया। उसके पश्चात् राम को मनाने एवं उन्हें राजसत्ता सौंपने के लिए सेना के सहित चित्रकूट की ओर प्रयाण किया। नाना प्रकार की भ्रान्तियाँ उत्पन्न हुईं। मार्ग में नाना प्रकार की बाधायें उपस्थित हुईं। वे सब पर सफलता प्राप्त करते हुए अपने ध्येय-बिन्दु तक पहुँच गए। कई दिन व्यतीत हो गये किन्तु स्नेह के कारण मुख्य विषय पर वार्त्तालाप ही न हुआ। जनक भी सदल वहाँ पहुँचे। वे भी कुछ न बोले। एक दिन भरत ने राम का हृदय टटोला और मानवजीवन के कर्त्तव्य एवं प्रेम के संघर्ष की बात पूछी। प्रश्न के उत्तर से भरत की आशाओं पर पानी फिर गया। उन्हें राम की भावना व्यक्त हो गई।

गर्मी के दिन तो थे ही। आँधी के साथ पानी भी गिरा। अतः निश्चय हुआ कि प्रत्यावर्त्तन का निर्णय शीघ्र किया जाय। सभा एकत्र हुई। जाबालि, अत्रि, जनक ने आनन्द, सत् और चित् का विवेचन करते हुए अपने तर्क सम्मुख प्रस्तुत किये। राम ने सभा की बात स्वीकार करने का निश्चय किया। परिषद् के सम्मुख विकट परिस्थिति उत्पन्न हो गई। वशिष्ठ ने भरत की आज्ञा सर्वोपरि मान उनकी इच्छा पर दायित्व रक्खा। भरत ने राम की इच्छा के सामने अपने को समर्पण कर दिया और चौदह वर्ष के आधार के लिए चरण पादुकाएँ माँगी। राम जीतकर भी हार चुके थे क्योंकि उन्हें स्वीकार करना पड़ा था कि यह राज्यभार उनका है। शासनव्यवस्था की रूपरेखायें निश्चित कर दी गईं। भरत ने लौटकर नन्दग्राम में कुटी बनाकर ग्रामसुधार पर ध्यान दिया। अपनी दिनचर्या को नियमित किया और जब वह रात्रि के तीसरे पहर में विश्राम कर रहे थे कि हनुमान को देखा और बाण से गिराकर रामचन्द्र की कथा को सुना। लक्ष्मण को मूर्छित जान व्याकुल हुए। योगाभ्यास के कारण सहायतार्थ लंका पहुँचने को उद्यत हुए। उसी समय वशिष्ठ ने दिव्य चक्षुओं से समस्त घटना दिखला दी। इस पर भरत ने लज्जित होकर आत्मशुद्धि कर आजीवन सच्चे व्रती रहने का व्रत ले लिया। चौदह वर्षोपरान्त राम को राज्य सौंप दिया और स्वयं माण्डवी के प्रति कृतज्ञता प्रकट कर रहे थे। जिस प्रेमालाप का प्रारम्भ हुआ था आज हिमालय उनके घर पर ही था।

चरित्र-चित्रण—विचारप्रधान होने के कारण इसमें पात्रों की कमी है और मुख्य पात्रों के चरित्र का पूर्ण विकास भी नहीं हुआ है। भरत ही इस काव्य के केन्द्र हैं जिनके आकर्षण में सारा वातावरण संचालित होता है किन्तु उनका चरित्र भी एकांगी रहा है।

भरत—सत्य, अहिंसा के पुजारी एव सच्चे प्रेमी है। उनके चरित्र का विकास क्रमिक हुआ है। हम उन्हें सर्वप्रथम प्रेमी के रूप में देखते है क्योंकि—

> "नया परिणय था नई उमंग, माण्डवी का था नूतन संग।
> नित्य नव रंग नित्य नवतान, नित्य उत्सव के नये विधान॥"

आगे चलकर इसी युवक को हम राम का प्रेमी पाते हैं। वह अहिंसा का पुजारी है। उसे विषमता प्रिय नहीं है। जो व्यक्ति दूसरों की कुटिया गिराकर अपना प्रासाद खड़ा करते है उन्हे एक दिन गिर ही जाना पड़ता है, क्योंकि—

> "जिसने कुचला औरों को उसने ही चक्कर खाया।
> जो ऊपर आज उठा है वह कल गिर कर पछताया॥"

इसीलिए वे मन्थरा का पीटा जाना भी न देख सके।

वे दृढ़व्रती है। अपने उद्देश्य की पूर्ति में किसी प्रकार की विघ्न-बाधाओं के उपस्थित होने पर विचलित नहीं होते है। जब वे राम से मिलने के लिए चित्रकूट जा रहे थे तो गृह के साथियों ने बाण बरसाकर उनके मार्ग को अवरुद्ध करना चाहा किन्तु भरत के व्यक्तित्व ने ही उन्हें सेवक बना डाला।

वे माया-मोह के प्रपंच में पड़ने वाले व्यक्ति नही थे। उन्हें भरद्वाज के आश्रम की ऋद्धियाँ-सिद्धियाँ न डिगा सकीं। उनके ऊपर कठिनाइयों का प्रभाव न पड़ने वाला था। उनकी तपस्या के कारण शूल भी फूल सिद्ध होते थे।

वे इतने शुद्धहृदय है कि उनके मन में नाना प्रकार के संकल्प-विकल्प उठने लगते है और सोचने लगते हैं कि राम-सीता का वन जाना उन्हीं के कारण हुआ। अत. वे पापी है। इसी आवेश में आकर माता को खरी-खोटी कहने लगते है जो किसी प्रकार क्षम्य नहीं कही जा सकतीं। इस बात में चाहे तुलसीदास हों या मैथिलीशरण गुप्त दोनों पिछड़े हे। दोनों माता को गाली दिलवाते हैं। इसी क्रिया की पुनरावृत्ति साकेत-सन्त में भी हुई है। नृप-कुल-यश खाने वाली, दानवी, डाकिन आदि से विभूषित किया है।

वे संयमी एवं स्वत: स्वीकृत नियमों के पालन में तल्लीन रहते है। उन्हें अपनी बिलकुल चिन्ता नही। यदि किसी की चिन्ता है तो वह अपने नियम-पालन करने की धुन। यही कारण था कि वे इन चौदह वर्षों के भीतर ही देश को एक-सूत्र-बद्ध कर सके और विषमताओं का निराकरण करा सके।

वे त्याग की मूर्ति है। जब उन्होंने रामचन्द्र जी से राज्यसत्ता अपनाने का प्रश्न पूछा तो उनके उत्तर में वे किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो गये और राम की आज्ञा को ही शिरोधार्य करके घर लौट आये।

उनके हृदय में करुणा कूट-कूट कर भरी हुई थी। साथ ही वे अपनी साधना में संलग्न थे। उन्हें शक्ति पथ-भ्रष्ट नहीं कर सकती थी। यही कारण था कि उन्होंने अपने अन्तिम दिवस साधना एवं कर्त्तव्यपरायणता में व्यतीत किये। वे सच्चे सन्त थे।

माण्डवी—सती-साधवी भारतीय ललना है। वह इस काव्य की नायिका है। वह कल तक जो चंचल बनी थी आज उसे हम माता के रूप में पाते हैं। कितना त्याग, कितनी तपश्चर्या! ऐसा सुन्दर चरित्र कहाँ प्राप्त हो सकता है। आज उसे आहें भरना भी मना है। माण्डवी के समक्ष सब सुख-साधन उपस्थित हैं, किन्तु उनका उपयोग करना उसे प्राप्त नहीं। उसकी तो यही दशा है कि—

"विकसी प्रभा प्रभाकर की है, पर न कमलिनी मोद मनाये।
सम्मुख है राकेश चकोरी पर न उधर निज नयन उठाये॥"

वह पतिपरायणा है। उसने अपने पति का पथ ही स्वीकार किया। उसमें किसी प्रकार का व्यतिक्रमण नहीं होने दिया। जब उसने भरत को अशान्त, व्यग्र और उद्विग्न देखा तो वह अपने पति से नम्र स्वर में बोली—

"नाथ, बटाऊँ कैसे दुःख में हाथ, बता दो यदि हो कहीं उपाय।"

भरत ने कहा—

"उर्मिला होगी निपट अधीर, सँभालो उसे न डूबे नाम।
सौंपता हूँ तुमको यह काम॥"

उसने इसे स्वीकार किया और वियोगिनी बनकर ऐसा उज्ज्वल चरित्र सम्मुख रखा कि सारा विश्व उसे देखकर चकित रह गया। यह उसी का कार्य था जिसके द्वारा भरत को पूर्णता प्राप्त हुई और सन्त कहलाने के अधिकारी हुए। कवि का कथन—"पति कब यह विकास पा सकता, साथ न देती यदि जाया।" उचित ही है। नायिका के अनुरूप इसका चरित्र विकसित नहीं हुआ है।

कैकेयी—सरलहृदया है। उसकी विचारधारा परिपक्व नहीं है। वह पुत्रों पर समान प्रेम करती है किन्तु मन्थरा और उसके भाई का षड्यन्त्र अपना प्रभाव दिखाकर ही रहा जिसके फलस्वरूप राम-वन-गमन एवं दशरथ-मरण हुआ। आज वह पति-विहीना वैधव्यदुःख भोग रही है, किन्तु यदि कोई

सहारा है तो केवल पुत्र का ही। भरत के आने पर उसे अनुभव हुआ कि वर माँगने में भीषण अपराध हो गया है। आज हम उसे प्रायश्चित्त करते देखते हैं। वह व्याकुल है। उसका कथन कि—

"भरत यदि राज्य ले, सौ पाप मैं लूं,
भरत राजा बने, अभिशाप मैं लूं।
नहीं वह किन्तु निश्चय से टलेगा,
टले तो दैव ही चाहे टलेगा॥"

अतः अपने पाप धोने को, नृप के पुनर्जीवित करने का प्रस्ताव करती है। ऋषि के वचन उसे सन्तोष न प्रदान कर सके किन्तु उसने इस विषय में जीना उचित न समझ पति के साथ सती होने का दृढ़ संकल्प किया किन्तु भरत के व्यंग्य वचन ने उसे मूर्छित कर दिया और नाना प्रकार के प्रबोधनों के पश्चात् वह अपने संकल्प से विचलित हो सकी।

उसे आत्मग्लानि है। उसकी शुद्धि प्रायश्चित्त द्वारा ही हो सकती है। उसने अपना अन्तःकरण अवध में सती होने के अवसर पर शुद्ध कर लिया है जिससे भरत और जनसमुदाय उसकी शुद्धता पर चकित हो जाते हैं किन्तु राम को इसका प्रत्यक्षीकरण कराना है। अतः वह सिसकियाँ लेकर दीन वचनों से बोली—

"तुमको वन भेजा अहह हुई मैं वन्या,
तुम गहो भरत का हाथ बनूं मैं धन्या।"

इन शब्दों में उसके हृदय के भाव व्यक्त होते हैं। आज वह कुछ माँगने मे हिचकती है और कहती है कि मै हतभागिनी अब क्या माँगूं। इस माँग ने ही मुझे वैधव्य दिया किन्तु विनय यही है कि आप दया कर अवध लौट चलें। यदि आप घर न लौटे तो मै धरना दूँगी। इन वाक्यों से उसकी दीनता का आभास मिलता है। अतः कैकेयी का चरित्र उच्च न होते हुए भी वह मान की अधिकारिणी है।

प्रकृति-चित्रण—इस काव्य में प्रकृति-चित्रण आलम्बन और उद्दीपन दोनों प्रकार से हुआ है। उषा का कितना सरस चित्रण हुआ है। देखिये—

"जीवन की नूतन रेखा, जाग्रत जग में छाई,
जब जरा उनींदी होकर रजनी ने ली अंगड़ाई।
दिवाला के गालों पर लज्जा के भाव निहारे,
होकर विभोर मस्ती में मुंद चले गगन दृग तारे।
संगीत साज खग कुल ने, विरचे डालों डालों पर,
नाचने लगीं लतिकायें मारुत की लघु तारों पर॥"

इस दृश्य को देखकर ऐसा आभास होता है कि सुन्दरी उषा सूर्यदेव को देखकर ऐसी लजा गई कि लज्जा से उसके कपोलों को लज्जा की लालिमा से रंजित हो जाना पड़ा। सूर्य की इस कला को लख तारों ने अपने दृग बन्द कर लिए और पक्षियों और लताओं ने उस प्रणय-लीला में सहयोग दिया।

आलम्बन द्वारा प्रकृति के मधुर दृश्य का अंकन कितना अद्भुत है। वसन्त ऋतु है। उस समय वन का सुहावना दृश्य देखिये—

> "लतिकायें लगतीं मानों किन्नरियाँ थिरक रही हों,
> द्रुम देख यही दिखता है, नन्दन-द्रुम यहीं कहीं है।"

❀ ❀ ❀

> "झर झर झर झर के स्वर में, झर झर झरती छवि धारा।
> जिसका कणकण मोती है जिन पर है हीरक हारा॥"

दृश्य कितना मनोरम है। ऐसा प्रतीत होने लगता है कि मानो सामने झरना प्रवाहित हो रहा है। यही नहीं, प्रकाश और छाया का आलम्बन लेकर राजा और रानी का आँख-मिचौनी का खेल कितना सरस व्यक्त हुआ है। देखिये—

> "गिरि पर प्रकाश है राजा गह्वर में श्यामा रानी,
> दोनों ने आँखमिचौनी कितनी मनमोहक ठानी।"

पूरा विवरण पढ़कर यही भास होने लगता है कि मधुऋतु ने अपना सारा मधु उडेल दिया हो, जिसका साकार रूप सम्मुख थिरकने लगता है।

आलम्बन द्वारा प्रकृति का रौद्र रूप देखिये कि ग्रीष्म ऋतु के आतप के कारण सारा वातावरण रौद्र रूप में परिवर्तित हो गया—

> "तवा-सी तप्त धरती तप रही थी हवा जलजल व्यथा में जल रही थी,
> लता द्रुम पुंज झुलसे से खड़े थे, सरोवर तक पिपासाकुल पड़े थे।
> प्रलय का दृश्य था हर ओर छाया, प्रभंजन का प्रबल था रोर छाया,
> न फल ही तप्त तरु से टूट पड़ते, विहंग भी हो अचेतन छूट पड़ते॥"

इसी प्रकार आँधी का रौद्र स्वरूप देखिये जिसके उग्र रूप ने भय को भी भयभीत बना दिया—

> "भय को भी भयभीत बनाने,
> प्रकृति लगी आँखें दिखलाने।
> क्षितिज छोर से बढ़ीं बिजलियाँ,
> चम चम करतीं तेगें ताने।

मिश्र जी ने प्रकृति के सुन्दर चित्र अंकित किये हैं। जो भी चित्र उन्होंने अपनी तूलिका से चित्रित किये हैं वे उत्तम हैं किन्तु यह कहना ही पड़ता है कि मिश्र जी प्रकृति में रमे नहीं दिखलाई पड़ते। प्रयासपूर्ण ही चित्रांकन किया गया है। हिमालय का दृश्य अति उत्तम होना चाहिये था जहाँ पर मिश्र जी एक राजनीति की बात को छेड़कर तर्क-वितर्क में ही उसका उज्ज्वल अंकन न कर सके। यही अवसर भी था। अन्य अवसर ऐसे नहीं थे जहाँ पर प्रसन्नवदना प्रकृति चित्रित की जाती। दूसरे, कथा का कथानक भी प्रकृति को चित्रित करने में बाधक हुआ है। यद्यपि आपने माण्डवी के अवयवों की उपमा जड़ उपमानों द्वारा व्यक्त करके हिमालय का सुन्दर चित्र प्रदर्शित करने का सफल प्रयास किया है—

> "तुम्हारे इस छवि पर है मात,
> हिमालय का महिमामय गात।
> तुम्हारे चरणों की ले चाल,
> चलें अब उस पर बाल मराल।
> तुम्हारे लख ऊरु अभिराम,
> कलम का भूल जायं सब नाम॥"

रस और भाव—शृंगार रस से ही कथा का चित्रण हुआ है। शृंगार रस में संयोग और वियोग दोनों सम्मिलित रहते हैं। किन्तु इस काव्य में संयोग के दर्शन तो होते है किन्तु वियोग का अभाव है। यद्यपि संयोग वियोग के ही समान है क्योंकि जब मन की दशा में परिवर्तन हो जाता है, भाव स्वतः परिवर्तित हो जाते हैं। यही दशा भरत और माण्डवी की हुई। उनके प्रथम दर्शन तो प्रारम्भ मे मिलते है किन्तु केकय से लौटने के पश्चात् उनकी गति एवं भाव में ही अन्तर हो गया है। अतः संयोग होते हुए भी वियोग ही है—क्योंकि कहा है–'पास रहे पर पास न आये।" इसके द्वारा माण्डवी की विरह-दशा प्रकट हो जाती है। इससे परिस्थिति भी स्पष्ट हो जाती है। अस्तु! अब एक संयोग का दृश्य देखिये—

नवविवाहिता पत्नी, नया जोश, नित्य नये विधान के उत्सव एक अपूर्व धारा प्रवाहित कर रहे थे। अनुकूल वातावरण में निशागम पर उल्लासपूर्ण भरत ने मलार राग छेड़ा। उस स्वरलहरी का प्रभाव ऐसा पड़ा कि—

> "उसी क्षण क्षणदा सी अभिराम,
> माण्डवी पहुँची वहाँ ललाम।"

❀ ❀ ❀

"भरत खिल उठे, बढ़ उठे हाथ,
कहा, लो! जीवित वीणा साथ।
मिले फिर से रति और अनंग,
सजे फिर घन विद्युत का संग॥"

भरत का उल्लासपूर्ण होना एवं हाथों का बढ़ना रति के पोषक है। ये भरत के मन का हर्ष प्रकट करते है, जो स्थायीभाव है। घन और विद्युत् का संग होना पूर्ण संयोग स्थापित कर देते है।

करुण रस—इसका एक सुन्दर चित्र देखिये। भरत जी उसी मार्ग से जा रहे है जिससे रामचन्द्र जी गये थे। उनके व्यथा के अश्रु प्रवाहित होकर पृथ्वी के ऊपर गिर गये थे—उसका कवि ने कितना काव्यमय वर्णन किया है। ये बूँद नही थे, बल्कि उन्हे पाकर पृथ्वी करुणा से आर्द्र हो रही थी और उनको अन्तस्थल में रखकर उसासें ले रही थी। भावना यह है कि जब गर्म पृथ्वी पर पानी पड़ता है तो उससे एक प्रकार की तप्त वायु निकलती है। उसे कवि कल्पना द्वारा पृथ्वी की उसासें बता रहा है। यथा—

"पड़े छाले व्यथा के अश्रु धारे,
सहारा दे रहे काँटे बिचारे।
धरा करुणार्द्र थी वे बूँद पाकर,
उसासें ले रही उनको छिपाकर॥"

यह भाव जायसी के पद्मावत का आभास प्रतीत होता है। उसमें पृथ्वी पर प्रथम बरसा या दौगरा लगता है तो तालाबों के दर्रों में पानी चला जाता है तो वह दग्धहृदय को शान्त करके एक उसाँस छोड़ता है। वह उनके हृदय की वेदना प्रतीत होती है। यही इस पद से भास होता है—

"भरत को निज दशा का मान कब था,
उन्हें निज देश का अभिमान कब था?
धरा पर पद सँभलते जा रहे थे,
भरत जी किन्तु चलते जा रहे थे।

❀ ❀ ❀

विकल ग्रामीण थे उनको निरख कर,
विकल थे राम की प्रतिमूर्ति लख कर।
अदेखे देख कर भी जा रहे थे,
भरत चलते चले ही जा रहे थे॥"

इस प्रकार करुण रस का तो काव्यभर में साम्राज्य है। जिस ओर दृष्टि-पात कीजिए करुण रस प्रवाहित होता दिखलाई पड़ता है।

वीर रस—इसका प्रदर्शन उस समय मिलता है जब भरत ससैन्य राम से भेंट करने चित्रकूट जा रहे थे। उस अवसर पर गुह ने सेना सहित भरत को नदी पार न होने देने का आग्रह किया। देखिये—

> "बालक बुड्ढे भी जोश भरे,
> बढ़ गये तुरत हो रोष भरे।
> कुछ ने झट छेड़ छाड़ कर दी,
> सेना से कुछ बिगाड़ कर दी॥"

इस काव्य में मिश्र जी की विचारधारा यही रही है कि भारतीय संस्कृति की रक्षा किस प्रकार हो, किस प्रकार भारत अखण्ड बना रहे और वर्णाश्रम का समन्वय किस प्रकार से उपयोगी हो सकता है। सत, रज, तम गुण का विवेचन एवं काम, क्रोध, लोभ आदि का विवेचन एवम् इनको पार कर अपने लक्ष्य तक पहुँचकर कल्याण किस प्रकार किया जा सकता है। अतः इन्हीं विवेचनों से काव्य परिपूर्ण है। इसका विवेचन अगले पृष्ठों में किया जावेगा।

भाषा-शैली—मिश्र जी ने इस काव्य को खड़ीबोली में लिखा है। इसकी भाषा सरल एवं संस्कृत के तत्सम शब्दों से युक्त है। यथा—

> "निष्कपट, निपट, निरीह, अकाय,
> भूमि के भूषण थे श्री राम।
> उन्हीं पर माँ का इतना रोष,
> बड़ा दुष्पूर स्वार्थ का कोष॥"

मिश्र जी ने संस्कृत शब्दों के साथ ही कहीं कहीं पर उर्दू के शब्दों का प्रयोग किया है जो संस्कृत तत्समताप्रधान शैली में उसी प्रकार अरुचिकर प्रतीत होते हैं जैसे हंस-समुदाय में कौआ। यदि उर्दू के शब्दों का प्रयोग किया जाय तो अवसर की उपयुक्तता पर अवश्य ध्यान देना चाहिये। यथा—

> "आई लक्ष्मी विपुल सामने पा ठुकराई।
> आखिर तुम हो भरत राम ही के लघु भाई।"

यह वशिष्ठ का कथन है। क्या 'आखिर' शब्द से ही माधुर्य आ रहा था? इसी प्रकार "वस्तु-स्थिति का नकशा बदला"—पाठक ही विचार करें कि यह कहाँ तक उचित है और भाषा के लिए कहाँ तक उपयोगी सिद्ध होगा। यह तो बेमेल गठन है। इसी प्रकार "भूप के अभिषेक के सब साज लो, तीर्थ के जल और पावन ताज लो।" यहाँ पर भी 'ताज' शब्द कैसा खटकता है।

यदि सब साज के स्थल पर उपकरण और ताज के स्थान पर मुकुट भी होता तो भी वह उचित ही प्रतीत होता।

कहीं कही पर जनसाधारण की भाषा का प्रयोग भी हुआ है। देखिये जब गुह अपने साथियों को सम्बोधित करता है और आदेश देता है—

"गुह बोला यह अन्याय अरे!
भाई भाई को खाय अरे।
उस पार न भरत पहुँच जावें,
इस पार यहीं गंगा पावें॥
घाटों पर बचे न नाव कहीं,
बाँसों का हो न लगाव कहीं।
सब ओर लगा दो आग यहाँ,
जायेंगे वे अब भाग कहाँ॥"

भाषा में प्रवाह एवम् ओज है। कहीं कहीं पर सुन्दर लाक्षणिक प्रयोग भी हुए है। यथा—

(१) देखे हैं लाठी वाले, भसों पर ताक लगाये।
भैसे तो भैंस ही हैं, लाठी तक थाम न पाये॥"

(२) आँधी उठी प्रचंड अंधेरा छाया।
उनकी जिह्वा से वचन यही कह आया॥"

पहिले में लाठी और भेंसों का और दूसरे पद में 'प्रचंड आँधी उठना' और 'अंधेरा छाया' का लाक्षणिक प्रयोग हुआ है। इससे भाषा में भावों की विलक्षणता आ जाती है।

इस ग्रन्थ में विशेषणविपर्यय के भी उदाहरण मिलते है। यथा—

"विहंगों की मधुर ध्वनि से,
मुखरित हैं उनकी दरियाँ।
मूर्च्छना श्रवण कर जिसकी,
मूर्छित वीणा बंसरियाँ॥"

मूर्छित विशेषण है पुरुष का, वीणा नहीं। इसमें लक्षणा का प्रयोग हुआ है।

आपने शब्दालंकारों में अनुप्रास आदि का तो प्रयोग किया ही है साथ ही अर्थानुप्रास में रूपक, उपमा, अतिशयोक्ति अलंकारों का प्रयोग किया है।

आपकी भाषा की एक विशेषता यह भी है कि संस्कृत के शब्द विभक्तियों सहित प्रयोग किये हैं। यथा—असूर्य पश्य। दूसरे, संस्कृत के अव्यवहारिक शब्द, यथा—काकिणी, निष्क, प्रशम आदि का प्रयोग भी किया है।

शैली—आपकी शैली अपना स्थान रखती है। आपने विविध छन्दों द्वारा अपने भाव व्यक्त किये है। सवैया, छन्द, गीत आदि का उपयोग किया है। आपकी शैली की एक विशेषता यह भी है कि आपने मुहावरों का प्रयोग भी किया है जैसे—

> **"पैरों पर तूने आप कुल्हाड़ी मारी।**
> **पर साथ उजाड़ी आह ! अवध फुलवाड़ी॥"**

दोष—प्रत्येक काव्य में कोई न कोई दोष मिल ही जाता है। साकेत-संत भी इसका अपवाद नहीं।

कुछ अशुद्ध प्रयोग यथा—"आर्या सीता जो सदा सुखों में पाली।" पाली का अर्थ है किसी वस्तु को अपने अधिकार में कर लिया, लेकिन यहाँ पर कवि का भाव है सुख में पली हुई सीता अथवा वह सीता जो सुख में पली। अतः पाली का प्रयोग उचित नहीं। पूरा पद इस प्रकार है—

> **"आर्या सीता जो सदा सुखों में पाली,**
> **करती थी जिन्हें सभीत सुचित्र बनाली।**
> **काँटों पर अब वे चले शिला पर सोयें,**
> **उनके कुभाग्य पर घाव उन्हीं के रोयें॥"**

"उनके कुभाग्य पर उन्ही के घाव रोयें" न तो कोई मुहाविरा है और न अच्छा प्रयोग ही हुआ है। इसी प्रकार दूसरे पद में दुःख पहिचाना का प्रयोग भी उचित नही है क्योकि दुःख जाना जाता है। अनुभव से मूर्त्त पदार्थ जाने जाते हैं और मूर्त्त पदार्थ पहिचाने जाते है।

दूसरा प्रयोग देखिये—

> **"सभी का कारण मैं हूँ एक,**
> **यही कहता उर का उद्रेक।"**

उद्रेक का प्रयोग भी उचित नहीं प्रतीत होता।

अष्टम सर्ग में—

> **"उसकी थी उटजों युक्त मही,**
> **फूहड़ सी खीसें काढ रही।"**

'फूहड़ का प्रयोग तो उचित भी माना जा सकता है किन्तु "खीसें काढ़ रही" का प्रयोग उचित नहीं है।

पृष्ठ १६१ पर, "अहह ! माँडवी को तो आहों का भरना भी वर्जित तर था।', 'तर' शब्द का प्रयोग भी उचित नहीं है।

पृष्ठ ४४ पर भी, "इसने और उसने" का प्रयोग भी ठीक नही है। यदि कुछ का प्रयोग हुआ होता तो उचित था। पद इस प्रकार है—

"इसने देखा, मुख फेर लिया अनखाकर,
उसने देखा, की प्रणति बहुत घबराकर।
कुछ ने सादर पथ दिया, जरा बढ़ आगे,
कुछ निज निज घर को राह नापते भागे।"

इसने और उसने से निश्चय का बोध होता है। जिसने का यदि यहाँ पर इसने के स्थान पर प्रयोग हुआ होता तो उपयुक्त होता। फलतः प्रयोग उचित नही क्योंकि सब लोगों ने तो मुँह फेर ही नही लिया था। अतः 'इसने' 'उसने' के स्थान पर 'कुछ' का प्रयोग होना उचित प्रतीत होता है।

विचारधारा एवं प्रभाव—

(१) इस काव्य पर साकेत का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है क्योंकि साकेत में जिस प्रकार से सयोग का चित्र लक्ष्मण और उर्मिला के साथ चित्रित किया गया है उसी प्रकार से भरत और माण्डवी का सम्मेलन दिखाया गया है।

(२) इसका अंत भी साकेत की तरह दिखलाया गया है क्योंकि लक्ष्मण और उर्मिला का मिलन भी इसी प्रकार हुआ था। अन्तर केवल यही कि यहाँ पर भरत का मिलन सन्तरूप में दिखलाया गया है।

(३) साकेत मे दशरथ का कथन कि लोग सोच-समझ कर वर दें क्योंकि इससे दुष्परिणाम निकलते है। यहाँ—

"वृथा बर तथा दान के तर्क, घनों से छिपा कहीं क्या सर्क।"

उसी भाव को प्रतिबिम्बित करता है।

(४) साकेत की तरह यहाँ पर भी भरत को वशिष्ठ द्वारा दिव्य दृष्टि प्रदान की गई है।

(५) इस काव्य में भारतीय संस्कृति का उज्ज्वल स्वरूप रखने का प्रयत्न किया गया है जिसमें धर्म, कला एवं विज्ञान का समन्वय होता है। भारतीय संस्कृति में वर्णाश्रम, नारीगौरव, परम्पराविश्वास एवं श्रद्धा का स्थान है और सर्वोपरि है त्यागभावना, जिसका इस काव्य में सुन्दर प्रतिपादन किया गया है।

(६) इस काव्य में तपोवन और ग्रामवासियों के निवासस्थान की तुलना की गई है जो न तो उचित ही है और न मान्य है। इनकी तुलना

कैसी। इनमें तो वही अन्तर होना चाहिये जो एक गृहस्थ और सन्यासी मे होता है। फिर भी देखिये—गाँव को किस प्रकार व्यक्त किया गया है।

"एक गाँव था केवटगण का, एक गाँव था यह मुनि जन का।
कुटियाँ दोनों ओर बनी थीं, किन्तु विषमताएँ कितनी थीं॥
वहाँ झोपड़े ऊबड़ खावड़, राहें टेढ़ी कुत्सित बीहड़।
यहाँ उटज सम, सुन्दर सीधे, स्वच्छ, प्रशस्त पथों से बीधे॥
वहाँ ठूँठ गृद्धों के घर थे, कोकिल कलित यहाँ तरुवर थे।
वहाँ श्वान थे सत्ताधारी, यहाँ मृगों की क्रीड़ा प्यारी॥"

आश्रम और गाँव की यह तुलना अपनी स्वाभाविक गति पर नहीं चल सकी। जिन ग्रामों में 'झगड़े झाँसे की बात न थी, वहाँ पेट ही की थी बातें, मद्य, माँस, मछली की घातें' कहते समय कवि अपने कहे हुए वर्णन को भूल गया। ऐसा जान पड़ता है कि समय के प्रभाव से अधिक प्रभावित होने के कारण उसने त्रेता युग के शृंगवेरपुर को आज की झूँसी समझ लिया। वह भूल गया कि भरद्वाज का आश्रम निकट ही था। मुनिजनों के स्वत्व का विस्तार पशु-प्राणी को भी पवित्र जीवन बना सकता था, फिर यह गुह निषाद आदि रामदर्शन के अधिकारी भी बन चुके थे। ऐसा जान पड़ता है कि कवि इन पौराणिक आख्यान से परिचित नहीं था जिसमें निषादराज गुह श्री राम की बाल्यावस्था में उनका अनुचर रह चुका था जिससे प्रेरणा पाकर ही केवट को भी प्रभु के पैर छूने का आग्रह कवि का साहस हो सका है।

इस प्रकार की धारणा बनाने का एकमेव कारण यही ज्ञात होता है कि मिश्र जी को समाज के प्रति एक नवीन कल्पना करने एवं उसकी पुष्टि करने के लिए यह प्रयत्न करना पड़ा। उनकी कल्पना का कोटिक्रम यह है कि भरत को तीन प्रकार से मार्ग में बाधायें उत्पन्न हुईं। वे इस प्रकार हैं—

	अयोध्या बासियों द्वारा	शृंगवेर के जंगलियों द्वारा	भरद्वाज आश्रम के तपस्वियों द्वारा
भाव की दृष्टि से	काम	क्रोध	लोभ
गुण की दृष्टि से	रज	तम	सत
व्यवस्था की दृष्टि से	क्षत्रिय राज्य	शूद्र राज्य	ब्राह्मण राज्य
	सामंत साम्राज्यवाद	प्रजातंत्रवाद	आध्यात्मिक समाजवाद

व्यक्तिविशेष में काम, क्रोध और लोभ तीनों प्रकार के विकार वृत्ति की चंचलता से ही उत्पन्न होते हैं। यह वृत्ति की चंचलता रजोगुण का व्यापार है। जब वह तमोगुण में विशेष आच्छन्न रहती है तब क्रोध और मोह उत्पन्न होते हैं और जब स्वतः बलवान होती है, तब काम बलिष्ठ हो जाता है। ऋषि-जनोचित सत्त्वप्रधान प्रवृत्ति में लोभ जैसी तमोविशिष्ट रजोगुणी प्रवृत्ति का आरोप उचित नहीं जान पड़ता।

शुद्ध काम बलिष्ठ रजोगुणी प्रवृत्ति है। अतएव रजोगुणी प्रवृत्ति को क्षत्रिय प्रवृत्ति कहा गया है। नगर-निवासियों में इस प्रवृत्ति का रोप उचित है। इसी प्रकार शूद्र और ऋषियों की प्रवृत्ति में भी तमोगुणी और सत्त्वगुणी प्रवृत्तियों का आरोप न्यायसगत है, परन्तु प्रस्तुत प्रसंग में नगर-निवासियों का काम, निषादों का क्रोध और ऋषियों का लोभ—सबकी उत्पत्ति सात्त्विक प्रवृत्ति से है जो समस्त बन्धनों को सब ओर से लपेटकर प्रभु की ओर ले जाती है। यदि कवि ने परम्परावशात् यह भी कह दिया होता तो उसकी ये मान्यताएँ वस्तुस्थिति के अनुकूल हो जातीं और उनसे गाम्भीर्य बढ़ जाता।

विक्रमादित्य

काव्य-सम्पत्ति—यह प्रबन्ध काव्य श्री गुरुभक्त सिंह 'भक्त' द्वारा लिखित ४४ भागों मे विभाजित है। कथा प्रख्यात है। जिसका आधार देवी चन्द्रगुप्त नाटक समझा जाता है। इस काव्य का नायक विक्रमादित्य है जो धीर, वीर और गम्भीर है और जिसमें सभी मानवीय गुण विद्यमान हैं। इस काव्य की नायिका ध्रुवदेवी है जो प्रेम की पुजारिन एवं राष्ट्रनिर्मात्री है, जिनके प्रयत्नों से ही विक्रमादित्य (चन्द्रगुप्त) विख्यात विजेता बना। काव्य में प्रकृति-चित्रण बड़ा सुन्दर हुआ है। रसों का परिपाक पूर्णतया विद्यमान है। शृंगार प्रधान रस है और वीर, हास्य, करुणा, गौण किन्तु इन सबका सुन्दर समन्वय एवं अपूर्व मिश्रण है। जिस प्रणय की याचना प्रथम सर्ग में की गई है उसकी पूर्ति अन्तिम सर्गों मे दिखलाई पड़ती है। नाट्य सन्धियों पर पूर्ण ध्यान रक्खा गया है और उनका निर्वाह सुन्दर रीति से किया गया है। कथोपकथन ने तो काव्य में जीवन ही प्रदान किया है। इसमें भारत को अखण्ड एवं शत्रु रहित करने का सफल प्रयास किया गया है और भारत की राजनीति एवं राज्यसंचालन विधि का पूर्ण विश्लेषण हुआ है। भारत ने किस प्रकार उत्तर से दक्षिण, पूर्व से पश्चिम तक अपनी पताका फहराई और प्रजा ने सुख-समृद्धि से परिपूर्ण एवं शान्तिपूर्वक जीवनयापन किया आदि का काव्यपूर्ण भाषा में सुन्दर वर्णन

हुआ है। यह सब होते हुए भी इस काव्य में चरित्रविश्लेषण में हीनता दृष्टिगोचर होती है जो किसी प्रकार उचित नही कही जा सकती। मार्मिक स्थलों की उपेक्षा की गई है और असम्बद्ध स्थलों का वर्णन भी उचित नही कहा जा सकता। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण बारहवाँ सर्ग है।

कथानक—इस काव्य की कथा का आधार देवी चन्द्रगुप्त नाटक है जिसमें विक्रमादित्य और ध्रुवदेवी और रामगुप्त की जीवनसम्बन्धी बातों पर प्रकाश डाला गया है। इतिहासवेत्ताओं के अनुसार रामगुप्त गुप्तपरम्परा में सम्मिलित नहीं किया गया। सम्भव हो सकता है कि विलासी होने के कारण उसको सम्मानित पद न प्राप्त हो सका है किन्तु उक्त नाटक से विदित होता है कि रामगुप्त विलासी सम्राट् था। उसका छोटा भाई चन्द्रगुप्त था। ध्रुवदेवी ने स्वयम्वर के अवसर पर चन्द्रगुप्त को ही वरण किया था किन्तु सम्राट् रामगुप्त ने ध्रुवदेवी के पिता पर अनुचित प्रभाव डालकर उसे प्राप्त कर लिया। रामगुप्त अशक्त एवं विलासी था। ध्रुवदेवी चन्द्रगुप्त पर आसक्त थी पर उसको प्राप्त करने के समस्त साधन विफल हुए। उस देवी के प्रणयप्रस्ताव उस धर्मभीरु द्वारा ठुकरा दिये गये। अतः महारानी ध्रुव-देवी ने उसे देश से पृथक् रहने का आदेश दिलवा दिया। चन्द्रगुप्त ने इसे स्वीकार किया किन्तु उसे चन्द्रगुप्त के चले जाने पर बड़ा दुःख हुआ, लेकिन अब क्या हो सकता था। वह देशोद्धार में चन्द्रगुप्त को अपना सहायक बनाना चाहती थी। अतः उसने वीरसेन को अपना सन्देश-वाहक बनाकर चन्द्रगुप्त को मना लेने के लिए भेजा। वीरसेन ने शोध का कार्य तो सम्पन्न कर लिया किन्तु उसकी दाल न गली और उसे स्वयं उस पथ का पथिक बनना पड़ा। इधर छत्रप रुद्रसिंह ने भूधर सेनापति को सूरसेन-पति बनाने का लालच देकर अपनी स्वार्थसिद्धि कर मथुरा पर विजय प्राप्त कर ली और रामगुप्त को शैल पर घेर लिया और ध्रुवदेवी को प्राप्त करने का उपाय सोचा। वीणा छत्रप की राजकुमारी है। छत्रप ने उसे उसकी वर्षगाँठ मनाने के लिए आज्ञा प्रदान कर दी है। दैवयोग से चन्द्रगुप्त और वीरसेन बन्दी बनाये गये और नाटक खेलने में रत हो गये। वीरसेन को जाने की अनुमति प्राप्त हो गई किन्तु चन्द्रगुप्त उस कुमारी का अतिथि बना।

ध्रुवदेवी को इसकी सूचना प्राप्त हुई किन्तु क्या करती—एक ओर शक-पति उसके राज्य एवं उसको अपनाने का प्रयत्न कर रहा था, दूसरी ओर उसकी कन्या उसके हृदयेश्वर पर आधिपत्य करना चाहती थी—विकट समस्या थी। रामगुप्त भीरु एवं विलासी तो था ही, उसने ध्रुवदेवी के समर्पित करने

के प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया। ध्रुवदेवी ने इस प्रस्ताव को लौटवा लिया और स्वयं पत्रवाहक बनकर चन्द्रगुप्त के पास पहुँचकर परिस्थिति का पूर्ण परिचय दिया। चन्द्रगुप्त ने नाटक खेले जाने के अवसर पर शकपति का वध कर दिया। वह उलझन में पड़ गया कि क्या करें। इसी समय उसने सुना कि रामगुप्त उससे मिलने आ रहा है। वह अपने बन्धु के सम्मुख नहीं होना चाहता था। अतः ध्रुवदेवी को सोता ही छोड़ गया। प्रातःकाल ध्रुवदेवी ने अपने को हत-भागिनी पाया। दोनों पृथक् पृथक् हो गये। जब चन्द्रगुप्त नदी के तट पर विचरण कर रहा था, उस समय एक बालिका का उद्धार किया जो नदी में बही जा रही थी। चैतन्यावस्था में अधिक परिचय न होने पर भी वे एक दूसरे के सहायक सिद्ध हुए।

ध्रुवदेवी योगिनी बन गई और कापालिक की सहायता करने में सहायक हुई। इधर वह कापालिक तन्त्र मन्त्र द्वारा चन्द्रगुप्त एवं उस बालिका दोनों का वध करने के लिए अपने पीछे ले चला, चन्द्रगुप्त की वीरता काम न आई। कापालिक ने उन दोनों को पृथक् पृथक् दो कोष्ठो में बन्द कर दिया और उस योगिनी को उनकी देखभाल का कार्य सौपा। योगिनी एक से परिचित निकली। अतः अपना वेश बदलकर मोहनी रूप बन उस कोष्ठ की ओर गई जिसमें चन्द्र बन्दी था। उसी समय कापालिक ने उस रूपमाधुरी पर कामांध हो उसका सर्वनाश करना चाहा, किन्तु ध्रुवदेवी ने कटार द्वारा उसे रसातल पहुँचा दिया और उन दोनों बन्दियों को मुक्तपाश किया। ध्रुवदेवी ने चन्द्रगुप्त से देशोद्धार का व्रत करवा लिया। वह देवी इस रहस्य को देखकर चन्द्र से विदा ले पृथक् हो गई।

रामगुप्त के मरणासन्न होने पर चन्द्र को बुला भेजा। चन्द्र रुग्णता का सन्देश पाकर भाई के अन्तिम दर्शन के लिए ध्रुवदेवी के साथ चल पड़ी। पहुँचने पर दोनों भाई गले मिलकर खूब रोये और अश्रुओं से विगत घटनाओं को बहाकर फिर दोनों एक हुए। इसके पश्चात् रामगुप्त ने चन्द्रगुप्त को राजमुकुट पहिना दिया और ध्रुवदेवी को साम्राज्ञी के रूप में प्रसन्नतापूर्वक सौंप दिया और स्वयं शान्तिपूर्वक चिरनिद्रा में सो गया।

कुबेरनागा, जिसका चन्द्रगुप्त के कटार के साथ प्रतिनिधि रूप से विवाह हो चुका था और जिसका उद्धार चन्द्रगुप्त ने नदी में डूबने से किया था, उस राजकुमारी को भी स्वीकार करना पड़ा क्योंकि वह उसको पाने की अधिकारिणी पहले से ही हो गई थी। इस प्रकार चन्द्रगुप्त ने भूली हुई पत्नी एवं कुबेरनागा ने खोया हुआ पति प्राप्त किया। कुमारी वीणा का विवाह वीरसेन के साथ कर दिया गया।

विश्वविजयी सम्राट् चन्द्रगुप्त ने चारों ओर अपनी धवल कीर्त्ति-पताका फहरा दी। उसकी छत्र-छाया मे देश समृद्धिशाली एवं धन-धान्य से पूर्ण हो गया। यही इस काव्य का कथानक है।

प्रस्तुत कथानक में निम्न स्थल असंगत है—

(१) यह काव्य ४४ सर्गो में समाप्त हुआ है किन्तु इसका कथानक उन्नीसवें सर्ग में ही एकाएक समाप्त हो जाता है क्योंकि २६वे सर्ग में ही विक्रमादित्य को ध्रुवदेवी का प्रणय एव रामगुप्त द्वारा प्रदत्त राज्यसत्ता प्राप्त हो जाती है। उसके पश्चात् के जितने भी सर्ग हैं उनमे कोई विशेष घटना नहीं रह जाती है, केवल वर्णनात्मक प्रसंग द्वारा काव्य की कलेवर-वृद्धि का आयोजन है। वे सर्ग महाकाव्य के लिए उपयोगी नहीं कहे जा सकते।

(२) बारहवें सर्ग में वीणा की एक अपरिचित व्यक्ति से, विशेषतया शत्रु के भाई (चन्द्रगुप्त) से, इतनी घनिष्टता हो जाती है, जो अत्यन्त ही स्वाभाविक प्रतीत होती है।

चरित्र-चित्रण—विक्रमादित्य चरित्रप्रधान काव्य है। इसमे पुरुषपात्र चन्द्रगुप्त, रामगुप्त, वीरसेन, कालीदास, भूधर एवं भोलानाथ धौकल हैं जिनमें चन्द्रगुप्त, रामगुप्त और वीरसेन मुख्य पात्र कहे जा सकते हैं। अन्य पुरुषपात्र गौण है। उनका कोई विशेष महत्त्व नही है। स्त्रियों में ध्रुवदेवी, कुबेरनागा और वीणा तीनों प्रमुख स्थान रखती हैं। इन्हीं मुख्य मुख्य पात्रों का विवेचन किया जावेगा।

चन्द्रगुप्त—चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य वीर सेनानी था। उसमें आत्मसंयम एवं दृढ़ विचार भली प्रकार विद्यमान थे। ध्रुवदेवी के प्रलोभन उसके ऊपर प्रभाव न डाल सके। उसका कथन कि—

> "आओ गुप्त ! आज हम दोनों जीवन का लूटें आनन्द,
> करें सन्धि प्रतिबन्ध तोड़ कर मोद बनायें बन स्वच्छन्द।"

इस पर विक्रमादित्य का प्रत्युत्तर कितना सार्थक एवं न्यायोचित है कि जिसके द्वारा उसके अन्तःकरण की शुद्धता प्रकट हो जाती है।

> "मृगतृष्णा में तृप्ति न मिलती,
> नहीं विषय में सच्चा स्वाद।
> नीच वासना भ्रष्ट मार्ग पर,
> ले जाती उपजा उन्माद॥"

वह मर्यादावादी था। रमणी का प्रमाकर्पण उसके मार्ग को अवरुद्ध न कर सका। वह अपने निश्चय पर अटल था एवं भ्रातृप्रेम में अटूट श्रद्धा रखता था। इसीलिये उसने निर्वासित होना स्वीकार कर लिया किन्तु मर्यादा के विरुद्ध कोई कार्य करने को उद्यत न हुआ।

वह शक्तिवान, शीलवान तथा सौन्दर्यवान था और यही कारण था कि उस पर सब लोग प्राणोत्सर्ग करने के लिए तत्पर रहते थे। यही नहीं, कुमारी वीणा और कुबेरनागा यद्यपि उसकी अन्तिम विवाहिता पत्नी थीं, उसके उत्तम चरित्र एवं सौन्दर्य की उपासिका बन गईं और कुबेरनागा तो अपना प्राण देकर भी चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य को कापालिक के बन्धन से मुक्त देखना चाहती थी। वह क्यों ऐसा प्रस्ताव करती है? इसका क्या कारण हो सकता है? उसका कथन उसके चरित्र की पुष्टि करता है। यथा—

"यह क्या कहा? बिना साथी के,
कभी नहीं घर जाऊँगी।
निज सहचर के संग संग ही,
बलि हो मैं मर जाऊँगी।
वह परदेसी खेल जान पर,
काम समय पर आए हैं।
कितनी बार मृत्यु के मुख से,
मेरे प्राण बचाये हैं।
बड़ी नीचता होगी मेरी,
उन्हें छोड़ कर जाना भाग।
कर दो मुक्त उन्हें भी देवी,
दिखलाओ इतना अनुराग।"

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने नदी में डूबते हुए इस बालिका को जीवनदान दिया था और अपने शौर्य का परिचय दिया था। उसने गुफा में सिंह को भी मारकर अपने विक्रम का परिचय दिया था। वह युद्धविद्या में निपुण एवं अपने बाहुबल पर भरोसा करने वाला था। जब स्वामी रुद्रसिंह क्षत्रप आस-पास के देशों पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर रहा था, चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने उस समय असंख्य सेना लेकर उसे पराजित किया और शकों को भारत से बाहर होने का निमन्त्रण दे दिया और शकारि पदवी ग्रहण की।

वह सहनशील एवं गम्भीर था। उसके ऊपर ध्रुवदेवी ने नाना प्रकार के प्रबन्ध किये किन्तु वह सदैव उनसे बचता रहा। निर्भीक होते हुए भी वह

अपने भाई के अन्यायपूर्ण अधिकार पर भी हस्तक्षेप करना अपने धर्म के विरुद्ध समझता रहा जिसका ज्वलन्त उदाहरण यह है कि ध्रुवदेवी ने स्वयंवर में उसे चुना किन्तु उसके अग्रज रामगुप्त ने ध्रुवदेवी पर आसक्त होकर, ध्रुव-देवी के पिता पर अनुचित दबाव डालकर उसे अपना लिया और इस प्रकार अनुजवधू को पत्नी बनाया गया। इस अनौचित्य पर चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने किंचित् हस्तक्षेप न किया। आगे चलकर उसी ध्रुवदेवी को, जो अब भ्रातृपत्नी के रूप में थी, रामगुप्त के महाप्रयाण करने पर भाई की इच्छानुसार पत्नीवत स्वीकार किया। कहना न होगा कि इस प्रकार के कार्य चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ऐसे महापुरुष के लिए कि जिस पर जनता का गर्व था, कहाँ तक उचित कहे जा सकते हे। उचित तो यही था जबकि ध्रुवदेवी उसे अपना चुकी थी तो वह उसे अपनी पत्नी ही बनाता और भाई के अनधिकारपूर्ण कृत्यों का प्रबल विरोध करता और इस प्रकार के विरोध से जनता के समक्ष एक और आदर्श उपस्थित कर सकने में समर्थ होता।

उसमें साहस और चारित्रिक बल था। राज्यलिप्सा की गन्ध उसे छू नहीं गई थी। यही कारण था कि वीणा के साथ एवं कुबेरनागा के साथ रहते हुए भी उसने अपने उज्ज्वल चरित्र पर कलंक का टीका न लगने दिया। बहुधा ऐसे अवसरों पर मानव अपने चरित्र की तिलाञ्जलि दे देता है। यदि वह चाहता तो क्षत्रप का राज्य स्वयं हस्तगत कर लेता और वीणा को अपनी सहचरी बना लेता किन्तु उसके चारित्रिक बल ने उसे ऊँचा उठा दिया और उसने राज्य और वीणा दोनों को त्याग दिया। यही दशा कुबेरनागा के साथ हुई। यद्यपि वह उसकी विवाहिता पत्नी थी, किन्तु अन्त तक वे एक दूसरे के अभिन्न मित्र ही बने रहे, उनमें किसी प्रकार का विकार न उत्पन्न हुआ। वह अनुभवी था। उसने मानव जीवन की विषमताओं का पूर्ण अध्ययन किया था। यही नहीं, उसने देश में भ्रमण करके राष्ट्र की विभिन्न परिस्थितियों का अनुभव भी प्राप्त किया था और यही उसका विस्तृत अक्षय भण्डार उसके राज्यकाल में उसका सहायक हुआ।

वह आर्य संस्कृति का पुजारी, कलाप्रेमी एवं नीतिविशारद था। उसके राज्य में सुख और शान्ति का साम्राज्य था। देश में चोर-डाकुओं का नाम नहीं था। सब स्वधर्मपालन करते हैं "सन्मार्गो ही पर चल।"

उसने भारत की बिखरी हुई शक्तियों को एकत्र किया और विदेशियों को पराजित कर भारत को एकसूत्र में पिरो दिया। ऐसा राष्ट्रनिर्माता, वीर, न्यायनिपुण, शक्तिशील एवं सौन्दर्य से ओतप्रोत सम्राट् विश्व में मिलना कठिन है।

कहीं कहीं पर कवि ने भूल से अथवा आवेश में आकर चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की आन्तरिक भावनाओं का असफल रहस्योद्घाटन किया है। इससे उसके आदर्श चरित्र की महत्ता सिद्ध नहीं होती, बल्कि चरित्रहीनता ही सिद्ध होती है। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य भ्रातृगृह को त्यागता है तो उस समय की उसकी अपवित्र भावना कवि के शब्दों में देखिये—

"देवि ! तुम्हारे पथ का शूल
आज आँख भर देख तुम्हें लूँ,
अन्तिम बार विदा दे भूल।"

जिसको वह कर्त्तव्यानुसार त्याग रहा है, फिर आँख भरकर देखना कैसा—यह प्रसंग उसके आदर्श चरित्र पर धब्बा डालता है।

इसी प्रकार एक और स्थल—

"पद्मनाभ का अभिनय शकपति,
से अवश्य करवाऊँगा।
उसकी कन्या को अपनाकर,
अपना काम बनाऊँगा।"

उक्त प्रसंग क्या चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के चरित्र के साथ घटित हो सकते हैं ? कवि ही इसका उत्तरदायी है।

रामगुप्त—गुप्तवंश का विलासी, भीरु एवं अशक्त सम्राट् था। उसमें न तो शासन करने की क्षमता थी और न उसमें शत्रुओं पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने का साहस ही था। उसकी विलासिता का प्रत्यक्ष प्रमाण है ध्रुवदेवी को अनधिकारपूर्ण अपनाना एवं उस पर अपना प्रभुत्व स्थापित करना। वह इन्द्रियलोलुप है। उसे राज्यसत्ता से कोई सम्बन्ध नहीं। वह राज्यकार्य से दूर रहना चाहता है—

"सचिव सभासद राज्य संभालें,
करें प्रबन्ध समयें देकर।
देवी बन्शी बजा रही है,
झंझट थोप हमारे सर।
नहीं पालने का यह पचड़ा,
मुझको इतना कहाँ समय ?
किन किन कामों में उलझाऊँ,
अपना केवल एक हृदय॥
'कार्तिकेय' यह नगर मनोरम,
सुन्दर सुदृढ़ यहाँ का कोट।

क्रीड़ा क्षेत्र यहीं अब मेरा,
कुञ्जों में गुल्मों की ओट ।।"

वह दुर्बलहृदय एव कायर है। उसे अपनी मर्यादा की कुछ भी चिन्ता नही। जब शकपति ने ध्रुवदेवी के समर्पण का प्रस्ताव किया तब उसने उसे स्वीकार कर लिया और स्वयं बुद्धदेव की अहिंसा एवं शान्ति की शरण लेता है। यथा—

"शान्ति अभीष्ट मुझे है केवल,
बहुत ही किया है उत्पात।
संग्रामों से रक्तपात से,
पहुँचा है मुझको आघात।
मुझे अहिंसा ही भाती है,
बुद्धदेव का सद् उपदेश।
हृदयंगम वह ही शिक्षा है,
वही हमारा ध्येय विशेष।
स्थापित हो फिर शान्ति धरा पर, धर्म यही फैलाना है।
विग्रह मिटा लड़ाई तज कर सतयुग फिर से लाना है ।।"

बुद्ध की अहिंसा को उसने क्या समझा? यह तो भीरु की अहिंसा है जो कायरता से अपनी पत्नी को दूसरे को समर्पित करने जा रहा है। उसकी अहिंसा की पोल तो ध्रुवदेवी ने उसी समय खोल दी और उसे उसकी अकर्मण्यता पर शोक प्रकट करते हुए कहा कि—

"झुकना यहाँ गर्त में गिर कर,
मर्यादा को खोना है।
यह तो झपटे हुए के....,
सम्मुख गिर कर रोना है।
हिंसक को यों साधु समझना,
भक्षक को रक्षक करना।
विश्व प्रकृति प्रतिकूल सदा है,
ऐसे उद्यम में मरना।
नीच नहीं उपदेश सुनेंगे,
उन्हें दण्ड ही उपकारी।
सज्जन ही होते हैं,
अच्छे उपदेशों के अधिकारी ।।"

इस आलोचना पर उसे अपनी भूल का पता चला और ध्रुवदेवी की इच्छानुसार ही कार्य करना स्वीकार किया। यह दोष होते हुए भी वह भ्रातृ-प्रेमी एवं सरलहृदय था। उसका यह कथन इसकी पुष्टि करता है—

"नहीं वैभव है अब सुख मूल,
राज्य भी उपजाता अब शूल।
छुड़ाये मुझसे वनिता प्रात,
रह गई पछताने की बात।
धरा में लगा चन्द्र का शोध,
नमित हो उससे कर अनुरोध।
पूर्ति कर हानि, मिटा कर ग्लानि,
हटा उसकी चिन्ता को गूढ़।
करूँगा सिंहासन आरूढ़॥"

जब दोनों भाई मिले, हृदय की व्यथा अश्रु द्वारा प्रवाहित हो गई। अब रामगुप्त शुद्ध हृदय से क्षमायाचना करता है। यथा—

"क्षमा दो, बन्धु! चूक सब भूल,
भूल, हो रही हृदय की शूल।
मुझे भी तुम दे दो बनवास,
सोच दुःख मत तुम बनो उदास॥"

उपर्युक्त कथन उसके शुद्ध एवं निश्छल भ्रातृप्रेम का द्योतक है।

वीरसेन—प्रकृति के हास्य एवं सौन्दर्य का उपासक था। उसकी बातें विनोदपूर्ण होती थीं। उसके चन्द्रगुप्त के प्रति कहे गये वाक्य इसके प्रमाण है—

"जितना उसे मनाता हूँ मैं,
मुझको मूर्ख समझती है।
है ग़ुलाब पर काँटा बनकर,
मुझसे सदा उलझती है।
इक तुम हो कितनी सुन्दरियाँ,
प्राण दे रही हैं तुम पर।
तरसा करती हैं दर्शन को,
आहें भरती हैं भर भर।
पर तुम उदासीन रहते हो,
सबको हवा बताते हो।

कभी नहीं तुम ललनाओं के,
प्रेमपाश में आते हो ।।
इधर देखिये पत्नी ने धक्का दे मुझे निकाला है ।
तुम निर्वासित मैं निर्वासित अच्छा गड़बड़झाला है ।।"

वह विश्वासपात्र एवं वाक्पटु चर था। यह उसी का काम था कि दो बिछुड़े हुओं को एकता के सूत्र में बाँध दिया। ध्रुवदेवी का वह अत्यन्त विश्वासपात्र चर था। समयानुकूल अपने को परिवर्तित कर अपने कार्य को पूरा करना उसका प्रथम ध्येय था। उसे कभी निराशा नहीं दिखाई पड़ती।

वह अपनी पत्नी को प्यार करना चाहता था किन्तु उसके कर्कश स्वभाव ने उसके जीवन को शुष्क बना दिया; फिर भी वह कवि था, सहृदय था तथा वह चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का मन्त्री होते हुए उसकी सभा के नवरत्नों में से एक था।

ध्रुवदेवी—काव्य की नायिका एवं वीरांगना नारी थी। उसने नवयुवक चन्द्रगुप्त को अपना हृदयेश्वर बनाया किन्तु सम्राट् रामगुप्त ने उसके पिता पर अनुचित प्रभाव डालकर उसे अपना लिया किन्तु चूँकि वह अपना हृदय चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य को स्वयंवर के शुभ अवसर पर दे चुकी थी–किम्वा वह वरण कर चुकी थी, फलतः रामगुप्त के महाप्रयाण करने के उपरान्त वह पुनः चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य को पति के रूप में प्राप्त करने में सफल हो सकी।

वह त्याग की प्रतिमा थी। उसने चन्द्रगुप्त की प्राप्त्यर्थ राज्यवैभव एवं सम्मान की तिलांजलि दे दी। यह त्याग देश रक्षार्थ था। वह समझती थी कि कायरों द्वारा देश का उद्धार नहीं हो सकता इसीलिए उसने दर्प एवं ओज पूर्ण भाषा में चन्द्रगुप्त का आह्वान किया और कहा—

"जननी है वही पुकार रही,
बलि होने का प्रण करो अटल।
आओ हम दोनों चलें वीर,
माता की लाज बचा लेवें।
हो एक जन्म भू का अखण्ड,
श्रृंगार सहर्ष सजा देवें।।"

इस कथन से उसके हृदय की कसक एवं भारत माता के प्रति असह्य वेदना के दर्शन होते हैं। भारत की मान-मर्यादा की रक्षार्थ वीरों की आवश्यकता है। अतः चन्द्रगुप्त का होना अत्यावश्यक है। केवल कथनमात्र से भारत माता का हित-साधन नहीं हो सकता है। कार्य में अग्रसर होना एवं शक्ति द्वारा शत्रु को भारतीय सीमा से बाहर करना उसका प्रथम आयोजन है। हम

ध्रुवदेवी को युद्धस्थल में पाते हैं और शत्रु के निष्क्रमण में उसका सहायक पाते हैं। .

वह धर्मपरायणा है। स्वयंवर द्वारा प्राप्त चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ही उसका एकमात्र जीवन-धन है। उसी की प्राप्त्यर्थ आद्योपान्त उसे हम सचेष्ट पाते हैं। अन्तत: उसे हम उसके इस प्रयास में सफल भी पाते हैं। यथा—

"जिससे मन की लगी लगन है,
वही एक उसका आराध्य।
फिर उसको अपनाने में वह,
नहीं किन्हीं नियमों में बाध्य॥"

वह दृढ़व्रती थी और उसका प्रेम एकांगी था। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के अतिरिक्त उसके हृदय में अन्य के लिए स्थान न था। इसका ज्वलन्त उदाहरण हमको कापालिक के प्रसंग से मिलता है।

वह अखण्ड एवं स्वतन्त्र भारत की कल्पना करती है। उसका कथन इसका प्रमाण है—

"खण्ड खण्ड साम्राज्य न होता,
नहीं विभाजित होता देश।
इस अखण्ड भारत पर करता,
शासन मेरा गुप्त नरेश॥"

ध्रुवस्वामिनी के चरित्र में कई असंगत स्थल भी हैं। कभी वह प्रेम का उपहार माँगती है और उसकी पूर्ति न होने पर शूर्पणखा की तरह बलप्रयोग के आश्रय की बात करती है। यथा—

"किया तिरस्कृत यदि ठुकरा कर,
यह संयोग प्रणय उपहार।
अबला भी क्या कर सकती है,
यह देखेगा सब संसार॥"

ऐसी रमणी जब राष्ट्रीय एकता की बात करती है तो हास्यास्पद ज्ञात होती है।

• वह नीतिनिपुणा थी। उसने चन्द्रगुप्त में, जो माया का आश्रय ले अपने जीवन से उदासीन हो चला था, नव स्फूर्ति उत्पन्न कर दी, जिस चन्द्रगुप्त ने यह धारणा की थी कि—

"भारत को भगवत पर छोड़ो,
यह देश राम को सौंप गुप्त।

तुम देश प्रेम दो धाराओं में,
सरस्वती सी बनो लुप्त ॥"

कहीं कहता हुआ सुना गया कि—

"मैं हारा तुम जीत गईं।"

❀ ❀ ❀

"आज नया संसार बना लें,
खुला नया पट जीवन का।
दूंगा योग योगिनी तेरा,
फेरूँगा तेरी मन का ॥"

आज उसने उसके सुन्दर स्वरूप को पहिचान पाया और अनायास उसके मुख से निकल पड़ा—

"तुम अमर लोक की देवी हो,
मैं मानव है कितना अन्तर।
तुम बन प्रतीकिनी श्रद्धा की,
उठ गयीं प्रेम से भी ऊपर।
हे त्याग और अनुराग मूर्ति,
तू ही जग सत्ता नाड़ी है।
पाने में तेरी गूढ़ थाह,
नर अब तक बना अनाड़ी है ॥"

प्रस्तुत पंक्तियों से ध्रुवस्वामिनी को अमरलोक की देवी, त्याग और अनुराग की मूर्ति बतलाया गया है। इसमें अत्युक्ति का लेश नहीं, क्योंकि जिन परिस्थितियों का सामना उसे आदि से अन्त तक करना पड़ा यदि अन्य कोई स्त्री होती तो अपना अस्तित्व ही समाप्त कर बैठी होती। संघर्ष ही जीवन है। इसी के द्वारा उसने उच्च पद प्राप्त कर लिया। इसी के कारण चन्द्रगुप्त विश्वविजयी सम्राट् घोषित हुआ एवं शकारि, विक्रमादित्य उपाधियों से विभूषित हुआ।

कुबेरनागा—चन्द्रगुप्त की विवाहिता पत्नी है किन्तु किसी ने भी एक दूसरे के दर्शन नहीं किये और अन्त तक अपरिचित बने रहे, क्योंकि इसका विवाह चन्द्रगुप्त के प्रतिनिधिस्वरूप खंग के साथ सम्पन्न हुआ था। विधिवत संस्कार नहीं हो सका था। इसी बीच उसके पिता के राज्य को सेनापति भूधर के षडयन्त्र से उसके पिता के वध होने पर शकनरेश ने हस्तगत कर लिया।

कुबेरनागा वीर पत्नी है। वह अपना पथ स्वयं निर्माण करती है। उसके धर्म को भूधर के प्रलोभन विचलित न कर सके। सतीत्व की रक्षा के

लिए उसको प्राणों का मोह न था, नदी में कूदकर अपने सतीत्व एवं आत्म-गौरव की रक्षा की।

वह धीर वीरांगना थी। जब चन्द्रगुप्त ने उसका उद्धार किया उस समय अपना विशेष परिचय न देते हुए अपने को अनाथ बतलाया और अपने धैर्य से कार्य किया। अपने साथी पर सिंह का वार होते देख चट उसे तलवार के घाट उतार दिया और साथी के प्राणों की रक्षा की। यही नही, उसे बन्दी साथी की मुक्ति के बिना अपने बन्धनपाश से मुक्त होना स्वीकार नहीं। यथा—

"यह क्या कहा? बिना साथी के,
कभी नहीं घर जाऊँगी।
निज सहचर के संग संग ही,
बलि हो मैं मर जाऊँगी॥"

यह वीरोचित गुण उसके अन्तःकरण के निर्मल भावों को प्रकट करते है। वह दृढ़व्रती और संयमी थी। चन्द्र के साथ उसको रहते हुए बहुत समय व्यतीत हो गया, फिर भी वे एक दूसरे से संयमित व्यवहार, श्रद्धा और स्नेह पूर्ण बने रहे। उसमें विलासिता का कहीं पर भी नाम नही था। वह पद्म-पत्र की तरह चन्द्र-जल में रहती हुई निर्लेप बनी रही। यह उसके चरित्र की विशेषता थी। जिसको वह हृदय से चाहती थी, अवसर पड़ने पर, अपनी मानवीय निर्बलताओं पर विजय प्राप्त करती हुई त्याग देने में सफल होती थी।

वह चित्रकलाविशारद थी। उसने इतने सुन्दर चित्र अपनी तूलिका से चित्रित किये कि वे जीवित से प्रतीत होते थे। चन्द्रगुप्त ने उनकी प्रशंसा की थी—

"भीति चित्र यह तुमने खींचे,
सुन्दर रंग भरे हैं।
फले हुए आमों के ऊपर,
तोते हरे हरे हैं।
कुछ उड़ते हैं, कुछ बैठे हैं,
कुछ हैं पंख फुलाते।
पञ्जे में ले कुछ मीठे फल,
प्रेम सहित हैं खाते।
जीवित से प्रतीत होते हैं,
ऐसा रूप भरा है।

काम दहन की लीला का भी,
चित्र ठीक उतरा है ॥''

ध्रुवस्वामिनी की तुलना में इसका प्रेम सात्विक माना जायगा। जिस चन्द्र को पाने के लिए ध्रुवदेवी को षडयन्त्र रचने पड़े उसे अनायास ही प्राप्त हो गया। ठीक ही कहा गया है—

''छाया माया एक सी बिरला जाने कोय।
भगता के पीछे फिरे गहता सम्मुख होय ॥''

त्याग की भावना भी इसमें कूट-कूट कर भरी थी। ध्रुवदेवी वासनामय प्रेम के कारण चन्द्रगुप्त की पत्नी को जानते हुए भी उसका परिचय उसे नही दिया—इसे क्या कहा जाय ? घोर स्वार्थपरता।

वीणा—क्षत्रप की कन्या, माताप्रेम से वंचिता, सरलहृदया थी। वीरसेन की सरस बातों ने एवं चन्द्रगुप्त के सौन्दर्य ने उसको अनायास अपनी ओर आकर्षित कर लिया। वह इतनी भोली निकली कि अपने पितृघाती का अन्त तक विश्वास करती रही। क्या इसे भोलापन कहा जाय अथवा उसकी उठती हुई उमंगों की पूर्ति की आशा का क्षणिक प्रकाश ? ''जिसे वह हार समझी थी गला अपना सजाने को''—वही उसका आराध्यदेव एक नहीं दो पत्नियों का स्वामी बना बैठा है—यह जानकर उसे निराशा हुई। वह कहने लगी—

''बस चन्द्र मुझे पथ दिखलावे,
दे विमल ज्योति जीवन मग में।
संसार स्वार्थ का है केवल,
है कौन हुआ किसका जग में।
क्यों छाया के पीछे दौड़ूँ,
वह नहीं पकड़ में आने की।
उद्योग व्यर्थ है, जाने पर,
प्रिय के पद चिन्ह उठाने की।''

वह अल्हड़ एवं प्रपंचरहित थी और यही कारण था कि वह अन्त में वीरसेन की अंकशायिनी बनी। यही उसके लिए उचित भी था।

प्रकृति-चित्रण—प्रकृतिप्रेमी गुरुभक्तसिंह ने इस काव्य मे भी प्रकृति का सफल चित्रण किया है। इन्होंने प्रकृति-चित्रण की विभिन्न शैलियों को अपनाया है।

आपने अपने इस काव्य में प्रकृति को आलम्बन स्वरूप व्यक्त किया है। इसमें इन्होंने प्रकृति के नैसर्गिक सौन्दर्य एवं उल्लास का वर्णन किया है। देखिये—

"छिप, छींट छपा ने तारक कण,
तम जाल चतुर्दिक फैलाया।
पर हंस मोतियों को चुग कर,
तम फाड़ सगर्व निकल आया।
अब चक चकई की चाँदी है,
ऊषा ने सोना बरसाया।
हैं सुमन सितारे चमक रहे,
तृण पर आकाश उतर आया।
था विश्व लिपट जिससे सोया,
सोने की चिड़िया हुई हवा।
सरिता की छाती फड़क उठी,
चमका रेतों का खा - खा॥"

आलंकारिक भाषा में प्रभात का कितना उत्तम चित्र प्रस्तुत किया है। उसी प्रकार सन्ध्या का भी उत्तम वर्णन हुआ है—

"सिन्दूर लगा सन्ध्या फूली,
दिग्वधू बधाई गाती है।
आरती उतारेगी रजनी,
दीपक ले छिपती आती है।
अँगड़ाई लेती कुमुद कली,
दृग बन्द कर रहे कँज सुमन।
लहरों की लोरी सुन सुन कर,
झुक झुक पड़ते हैं मातल बन॥"

प्रकृति में जब मानवता का आरोप किया जाता है तो उसके कृत्य मानव के कृत्यों से साम्य रखते हैं। इस स्थल पर गुरुभक्तसिंह ने नदी को स्वच्छन्द विहारिणी नारी का स्वरूप प्रदान किया है। यथा—

"हरियाली से भरी हुई है घाटी की गहराई,
जिसमें खग कूजन की धारा फिरती है लहराई।
शिला खंड में मूर्ति बनाती धार वारि छेनी से,
गिरती पड़ती चक्कर खाती नाच भँवर में गाती,

सुमन राशि अंचल में भरती मदमाती इठलाती ।
कानन श्री छवि सलिल सूत्र में चुन चुन विहंस पिरोती ,
परिरम्भन कर चुम्बन देती न्योछावर हंस होती ।
गूँथ गूँथ सरि ने शृंगों को वनमाला पहिनाई ,
सुर वधुएँ देखा करती हैं यह शोभा ललचायी ।।"

प्रकृतिनटी की रंगशाला के एक स्वाभाविक एवं मनोहर दृश्य का चित्रांकन किया है। दृश्य का वर्णन इतना सजीव है कि पढ़ते ही दृश्य उपस्थित हो जाता है। देखिये—

"खगकुल की कोमल स्वर लहरी पर है थिरक रहा उल्लास,
देता ताल मृदंग ताल पर अनिल वीचि संग रचता रास।
जल तरंग है तान तोड़ती सुर भरता है सरस समीर,
ललित लतायें लिपट रही हैं मानवता तरु हुए अधीर।
निरत आज रति में अनंग है डूबा है रस में संसार,
छवि विलोक है आज ज्वार पर गुप्त प्रेम का पारावार।
मुकुल झुके मकरन्द भार से मधुकोषों में मधुप विभोर,
चेतन को जड़ जड़ चेतन को बना रही है मदन मरोर।
नारिकेल के पुंज कहीं हैं वेणु कुँज है कहीं घना,
नकुल नाग का उनकी जड़ में रहता भीषण युद्ध ठना ।।"

जब मनुष्य पर विपत्ति पड़ती है उस समय वह अपनी सुध-बुध खो बैठता है। यही दशा चन्द्रगुप्त की हुई। जब उसने देखा कि संगिनी बिछुड़ गई तो उसके शोक में प्रकृति के प्रत्येक पदार्थ से प्रश्न करता है और उन्हें चुप देख क्रोध करता है, उसके कथन पर विचार करो—

"यदि तुममें रसना नहीं सुमन,
कलियों ने क्यों मुँह बन्द किया।
अलि तुम ही पता बता देते,
मिट जाता मेरा हृदय द्वन्द्व।
चहको चहको तुम विहंग वृन्द,
षड्यन्त्र तुम्हीं ने आज रचा।
लहको लहको तुम लतिकाओ,
वह फूल चुरा कर देह नचा।
पर याद रहे यदि मिली नहीं,
देवी मेरे मन मन्दिर की।

पर याद रहे यदि हाथ न आई,
प्रिय वीणा अनुपम स्वर की।
तो यही खंग और तुम होगे,
चोरों का सर मैं छाटूंगा।
.........लतिकाओं की निकाल,
तरुओं को जड़ से काटूंगा।।"

इस प्रकार के प्रश्न मानस में रामचन्द्र की उन्माद दशा में खग, मृग और भौरों से जो सीता का समाचार पूछा गया था उसकी छाया प्रतीत होती है। यथा—

"हे खग मृग हे मधुकर श्रेनी, तुम देखी सीता मृग नैनी।"
(रामचरितमानस)

सौन्दर्यवर्णन के साथ ही प्रकृति के विकराल और भयकर रूप का भी वर्णन हुआ है। यथा—

"रो रहा है क्या कहीं शृंगाल ?
फड़कते नैन रहा सर घूम।
पोंछ करके तारक नभ अश्रु,
मचाये धूमकेतु है धूम।
भयावह लगता है सब ओर,
दिशाएँ काटे खातीं आज।
झाड़ियाँ पहने घन तम-तोम,
बोल हूहू डरपाती आज।।"

इसी प्रकार समुद्र के मध्य आँधी का भयंकर स्वरूप देखिये—

"आगे पानी पीछे पानी, पानी ही है इधर उधर।
लहरें ये पहाड़ सी उठ कर, भय उपजातीं हहर हहर।
क्या आंधी आ गई उग्र सी, उठी प्रभंजन की हुंकार।
लहरें शैल शिखर सी बन-बन नभ पर शीश रही हैं मार।
छिन्न भिन्न कर पोत पुंज, संकल्प हमारा भ्रष्ट किया।
जल मरालिनी डुबा दिया, वह गरुड़ पोत को नष्ट किया।
नारिकेल के मोटे रस्से, तड़ तड़ टूटे जाते हैं।
डाँड और पतवार हाथ से, बरबस छूटे जाते हैं।
ऊपर उठा उठा डगमग कर, पटक पटक कर मेरा पोत।
आँधी है कह रही सभी दल दूँगी, इसी सलिल में गोत।।"

प्रकृति के उद्दीपन स्वरूप को देखिए—किस प्रकार वह अपना प्रभाव मानवहृदय पर छोड़ती है—

"अंग अंग भू का प्रफुल्ल है, मानस जीवन युक्त सरस।
पल्लव पल्लव से रज कण से, शोभा झरती बरस बरस।
परिरम्भन हित झुकी, वल्लरी, सकुची देह समेटे सी।
लचल लचक लवंग लतिकाएँ, तृण में देह लपेटे सी।
तेजपात की तेज महक से, सुरभित है सारा वन।
इला मोतियों के गुच्छों से, शोभित है वन का आनन।
चन्दन के विरवों की वीथी, वहा रही है सुरभि लहर।
पत्थर के भी पीर न उपजे, चन्दन चढ़ा हुआ है सर॥"

इन पंक्तियों से ऐसा प्रतीत होता है मानो प्रकृतिनटी ने केलि-भूमि स्थापित कर रखी हो।

प्रस्तुत काव्य में उद्दीपन में विरह का वर्णन षट्ऋतु के आधार पर अति उत्तम हुआ है। वन्दिनी के हृदयोद्गार कितने प्रभावशाली एवं मर्मस्थल पर प्रभाव डालने वाले हैं। यथा—

उसका कथन.................. ...कहो कहाँ पर है वह देश?
................................क्या उगते हैं यहीं दिनेश?
वहाँ शिशिर क्या नहीं कपाता, विरहवन्त यौवन का गात?
कोयल क्या रसाल के वन में, वहाँ नहीं करती उत्पात?
रखते हैं क्या निठुर वहाँ के, पत्थर से भी हृदय कठोर?
जिस पर मुड़ कर काम न करती, है मनोज के शर की कोर?
क्या हंसों के जोड़े मिल कर, जल में करते नहीं किलोल?
खिलती कलिका नहीं लिपट जाती, मधुकर में क्या जी खोल?
क्या युवतियाँ पुष्पमाला से, नहीं किया करतीं अभिसार?
कुन्दकली क्या नहीं बजाती, ऊषा की वीणा का तार?
क्या निदाघ आ नहीं लगाता, अपत पलाश वनों में आग?
पति पत्नी क्या नहीं खेलते, उस प्रदेश में मिल कर फाग?
चैत वहाँ क्या नहीं दिलाता, युवकों को बिछुड़ों का चेत?
क्या मस्ती का रंग न लाते, आँखों में गुलाब के खेत?
क्या वर्षा में नहीं छोड़ते, मेघ वहाँ पर विष के बाण?
पी पी की पुकार चातक की, नहीं किसी के लेती प्राण?
क्या चपला को गले लगाये, नहीं नचाते हैं घनश्याम?

घोर अंधेरी में भादों के, नहीं अकेली डरती वाम ?
यह मुझको विश्वास पूर्ण है, आता वहाँ न सरस बसन्त ?
अथवा निज प्रेयसि को कैसे, भूला होता भोला कन्त ?"

इसी प्रकार वसन्त का सुन्दर एव सुरुचिपूर्ण वर्णन हुआ है—

"बकुल, कदंब, शिरीष श्रेयसी, लकुच, पनस, आमलकी,
झूम रहे हैं मलय संग में पी कुछ हलकी हलकी।
उपवन में किलोल करते हैं विपुल केकियों के दल,
कूज कूज उठते चकोर हैं राका से हो चंचल ॥"

प्रकृति उद्दीपन का प्रकटीकरण करती हुई किस प्रकार रहस्यभावना का उद्घाटन करती है। कन्याकुमारी का वर्णन कुछ पंक्तियों में देखिये—

"इस सरस अजिर में देवी के,
मुक्ता के चौके पूर पूर।
आरती उतारा करती हैं,
आ आभा, खड़ी ही दूर दूर।
ले सुधा पूर्ण मंगल कलसा,
राका आ द्वार सजाती है।
सुन जल तरंग गल किरण माल,
भी नाच नाच बल खाती है।"

"कर छूम छनन रंग भरे मेघ अम्बर से रस बरसाते हैं।
जल-चुम्बी पाहन खंडों पर, बैठे पत्ती कुछ गाते हैं।
इस पावन थल का वायु सलिल आध्यात्मिक पाठ पढाता है।
तज जग प्रपंच रम रहे यहाँ ऐसा कुछ मन में आता है।"

"रंगीन सीपियों शंखों से,
चित्रित तट बना मनोरम है।
है ओ३म् ओ३म् कर रहा अनिल,
क्षण क्षण कण कण रव सोहम् है।"

इस प्रकार इस काव्य में प्रकृति-चित्रण विभिन्न रूपों में मिलता है। कवि ने प्रकृतिवर्णनों में मानवजीवन का सामञ्जस्य स्थापित किया है। प्रकृति-वर्णन काव्य में होना आवश्यक है, इस बात को ध्यान में रखकर नहीं किया गया है बल्कि कवि ने प्रकृति का मानव से तादात्म्य स्थापित किया है। इसमें कवि पूर्ण सफल हुआ है।

भाव-रस—विक्रमादित्य प्रेमप्रधान महाकाव्य है। इसमें शृंगार, करुणा रौद्र, वीर का प्राधान्य है। शृंगार के अन्तर्गत दोनों पक्ष सयोग और वियोग

का वर्णन होता है। इस काव्य में दोनों पक्षों का पूर्ण वर्णन मिलता है। ध्रुवदेवी जब चन्द्रगुप्त को देखती है तो अपना आराध्यदेव बना लेती है। देखिये—

"अन्त:पुर आलिन्द के ऊपर चमक गई चपला सी,
ध्रुवदेवी नव पुष्पहार से उदित हुई कमला सी।
दृग उठ गए चन्द्र के बरबस हुई चार फिर आँखें,
लगा मनाने दे देता विधि हमको भी दो आँखें।
चन्द्रगुप्त ने संभल लाज से आँखें कर लीं नीची,
देख आँख भर छक कर युवती ने भी आँखें मीची॥"

इसकी पूर्ति अन्तःपुर में पूर्ण रीति से सम्पन्न हुई। इस पद में मन का हर्ष सूचित होता है जो रति का पोषक है। दूसरे, अभिहत्था (एक प्रकार की लज्जा) और उत्कण्ठा संचारियों की भी छटा प्रदर्शित होती है।

वियोग श्रृंगार का स्थायीभाव रति ही होता है किन्तु उसमें दीनता, चिन्ता, पश्चात्ताप, आवेग आदि संचारी उसे संयोग की रीति से पृथक् कर देते हैं। वियोगी की दशा देखिये—

"दौड़ी चली राह में कुछ डग,
डगमग पग मग में रखती।
प्रिय का कुछ भी पता नहीं पा,
उठती धूल रही लखती॥
फिर मन मार हार फिर आई,
प्रिय की दृगों में झाँकी ला।
टूक टूक हो रहा हृदय है,
निष्ठुरता की टाँकी खा॥"

ध्रुवदेवी के ऊपर मूर्च्छा और चेतना का भाव हो रहा था। चिन्ताकुल होकर वह दौड़ी किन्तु प्रिय का पता नहीं मिला। चिन्ता, पश्चात्ताप आदि संचारी हैं, डगमग पग रखना अनुभाव है।

कभी वियोगावस्था में वियोगिनी को शंका होने लगती है कि क्या उद्दीपन अपना प्रभाव नष्ट कर बैठे हैं जिनका प्रभाव प्रेमियों पर नहीं पड़ता है और जो अपनी प्रियतमा को भूल गये। इस प्रकार हम कुबेरनागा की शंका और चिन्ता को लेते हैं। यथा—

"वहाँ शिशिर क्या नहीं कंपाता,
विरहवंत यौवन का गात?

कोयल क्या रसाल के वन में;
वहाँ नहीं करती उत्पात ?
यह मुझको विश्वास पूर्ण है,
आता वहाँ न सरस वसन्त ?
अथवा निज प्रेयसि को कैसे,
भूला होगा भोला कन्त ?"

करुण रस का एक चित्र देखिये—करुण में अनिष्ट होता है। वीणा की करुण वाणी किसको व्यथित नहीं बनाएगी।

"पर आज पंख कट गए शोक,
अब कौन मुझे बेटी पुकार ;
मेरे गालों पर धौल भार,
बरसा देगा वह अमर प्यार।
वह दण्ड सहारा टूट गया,
यह लतिका अब है निराधार।
था भार और के सर अब तक,
अब जीवन का आ पड़ा भार।"

यह काव्य प्रेम और वीर रस का सुन्दर समन्वय है। वीर रस के दर्शन हमें प्रचुर मात्रा में होते है। एक **वीर रस** का पद देखिये—

"अरि की रथ सेना कुचल गजों ने,
पग से रज में मिला दिया।
दाँतों से हय दल छेद छेद,
उनमें भी भगदड़ मचा दिया।
जब मार पड़ी तलवारों की,
भालों की भी भरमार हुई।
छक्के छूट गये कमर टूटी,
अरि के प्रतिकूल ब्यार हुई।"

चन्द्रगुप्त के भाले ने शत्रु का अन्त कर डाला और अनेक योद्धाओं को धराशायी बना दिया। वीरों का उत्साह ही स्थायीभाव है और शत्रु को जीतना आलम्बन है। शस्त्रों का प्रदर्शन उद्दीपन है तथा धैर्य, गर्व आदि इसके संचारीभाव है।

रौद्र का एक सुन्दर रूप देखिये। चन्द्रगुप्त जब देवी को नही पाता है उस समय उसे क्रोध आता है और सोचता है कि सुमनों ने उसे देखा है। भौरे

जानते है किन्तु उसका कुछ संकेत नहीं बतला रहे हैं। उसके क्रोध की सीमा न रही। उसने कहा कि यदि वह हाथ न आई तो—

"तो यही खंग औ तुम होगे,
चोरों का मैं सर छाँटूंगा।
अकड़न लतिकाओं की निकाल,
तरुओं को जड़ से काटूंगा।
जल थल नभचारी जीव सभी,
बिंध जायेंगे इन तीरों से।
सिंहों के सर लोटेंगे फिर,
रेते पर पड़े मतीरों से॥"

भयानक—अनिष्ट की भावना से चित्त में विकलता उत्पन्न होती है—वह भय कहलाता है। देवी ने सुनसान अंधेरी रात में एक भयंकर जीव को हाथ में खप्पड़ की धूमिल ज्वाला लिए हुए देख भयभीत होकर चन्द्रगुप्त की सहायता चाही, वह भी पकड़ा गया–उसका एक चित्र देखिये—

"मांसल देह, रीछ से रोयें,
क्षार पूर्ण तन काला।
भूज दण्ड कोपीन कसी,
कटि मेरु दण्ड की माला।
धूमिल धुँधले उस प्रकाश में,
लख कर रूप भयंकर।
युवती लिपट गयी साथी से,
चिल्लाई कंप थर थर॥"

भय स्थायीभाव है, भयानक वस्तुओं की चेष्टायें उद्दीपन। कम्प, रोमांच आदि अनुभाव, त्रास, ग्लानि आदि संचारी हैं।

इस काव्य में **हास्य रस** का सुन्दर परिपाक हुआ है। बहुत कम काव्य देखने को मिलते है जिनमें हास्य का आधिक्य हो, यथा—

"हो चुकी मरम्मत थी घर पर,
सर मुड़ते ही ओले बरसे;
तज आग कड़ाही में कूदा,
किस कुघड़ी में निकला घर से।
मैं ब्याहा हूँ दो हत्याओं का,
पाप तुम्हें लेना होगा;

प्रभु के सम्मुख निर्दोषी के,
वध का उत्तर देना होगा ॥"

निर्वेद (शान्त रस) संसार की असारता को प्रकट कर वैराग्य की ओर एवं ईश्वरोपासन में लगा देना इसका मूल लक्ष्य है। रामगुप्त का मन नाना प्रकार के भोगों को भोगकर उनसे उचाट बन गया है।

"कामिनी कंचन की अब कान्ति,
लुभाती नहीं मचाती क्रान्ति।
समय है अल्प, सत्य संकल्प,
कर लिया मैंने हृदय संभाल।
नहीं माया की टेढ़ी चाल,
बना भयभीत सकेगी जीत ॥"

भाषा और शैली—इस काव्य की भाषा खड़ीबोली है। इसकी भाषा सरस, सरल एवं मुहावरेदार है। इसमें तत्सम शब्दों का सुन्दर प्रयोग हुआ है। यथा—

"विनय और संकोच व्यर्थ है,
आज छोड़िये शिष्टाचार।
आज सुरा की नदी बहा कर,
डूब भुला दें सब संसार ॥
श्रम से भोरी शिथिल देह है,
निजन मार्ग में काली रात।
पाहुन कोई इस अवसर पर,
कहता है जाने की बात।"

भाषा कितनी सरस और सरल है, कहीं पर दुरूहता का चिह्न नहीं। साथ ही भाव व्यक्त करने में सशक्त एव मार्मिक है। आपकी भाषा का विशेष गुण यही है कि वह भावानुकूल चलती है—शैथिल्य का कहीं नाम नहीं।

आपकी भाषा का दूसरा गुण है—काव्यमयी एवं पाण्डित्यपूर्ण होना—

"महादेवि ! अंगनाशिरोमणि,
सेवक का शत बार प्रणाम।
नमस्कार है कोटि कोटि,
हे दिव्यानना ! अलौकिक नाम ॥
छवि सागर की अनुपम कमला,
वीणा की आकर्षक तान।

यौवन की मद भरी तरंगिनि ,
ऊषा की मोहक मुसकान ॥
मधु ऋतु की श्री, दृग की पुतली ,
सुखद दृश्य की हरियाली ;
कसक प्रणय की मसक हृदय की ,
यौवन किसलय की लाली ॥'१

भाषा में कितना ओज और प्रसाद है। लाक्षणिक प्रयोग से सजीवता और मूर्तिमत्ता आ गई है।

आपकी भाषा का तीसरा गुण है भाषा का आलंकारिक होना। यद्यपि आपने अलंकारों का प्रयोग किया है तथापि इस बात का विशेष ध्यान दिया गया है कि भाषा में किसी प्रकार की अस्वाभाविकता न आने पावे। शब्दालंकारों में अनुप्रास, यमक, पुनरुक्ति का प्रयोग किया है और अर्थालंकारों में रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति आदि अलंकारों का प्रयोग किया है। आपकी भाषा में सुन्दर चित्र भी मिलते हैं। एक सरिता का सुन्दर चित्र देखिये—

"है भरी जवानी से पगली ,
पग कहाँ धरा कुछ ध्यान नहीं।
सरि सागर संगम को व्याकुल ,
किस पथ से जाती ज्ञान नहीं।
लज्जा ने रोड़े अटकाये ,
कन्नों से कावा काट गयी।
जिन टीलों ने टोका टुक भी ,
उनको लहरों से चाट गयी।
इस बाट गयी उस बाट गयी ,
इस घाट गयी उस घाट गयी।
फूलों को अंचल में भरती ही ,
भरती हुई सपाट गयी।
सन्ध्या सकुचाई सी आई ,
घूँघट देती कुछ समझाने।
तारे भी तार मिलाते थे ,
कुछ बुनते थे ताने बाने ,
विकला कहती कल सोचोगी ,
कल कल करती ही गई निकल।

ऊचा नीचा दिखलाने वाली,
पृथ्वी भर को बना विफल।
बच खड़े कंगारों की बाहों से,
देह सिकोड़े गयी सरक।
बच लचते तरुओं की छाहों से,
मन को मोड़े गयी सरक।
टक्कर लेती, चक्कर देती,
बढ़ती जाती है लहराती।
है अपनी ही धुन में भूली,
गुन गुन कर मधुर गीत गाती॥'

यह चित्र कितना स्वाभाविक एवं मनोरम है कि इसकी समता में बहुत कम चित्र मिलेंगे। भाव और भाषा में कितना सामञ्जस्य एवं कितना सार्थक रूपक बन पड़ा है। गति व्यञ्जना का सुन्दर प्रयोग है। यहाँ सरि की क्षिप्रता ध्वनि से व्यञ्जित हो उठी है। इस रूपक द्वारा ध्रुवदेवी की पूर्ण कथा स्पष्ट प्रतिबिम्बित होती है। सरिता का चित्र प्रसाद ने भी खींचा है और अन्य कवियों ने भी, लेकिन इसकी समता में नही ठहरते। भाषा सुष्ठ, सजीव, आलंकारिक, ओज और प्रवाहपूर्ण है। यही इनकी भाषा की अलौकिकता है।

शैली—भाव-प्रकाशन-क्रिया सबकी भिन्न हुआ करती है। आपने इसी नीति के अनुसार विविध शैलियों से अपने भावों को व्यक्त किया है। आपकी शैली की प्रथम विशेषता है कथोपकथन शैली जिसके द्वारा नाटकीय प्रभाव उत्पन्न करते हुए ऐसा वातावरण निर्माण करते चलते है कि मनकुरंग भाव-जाल में उलझता जाता है और उसी में फँस जाता है। यथा—

(देवी) "राजकुमार कहाँ के हो तुम?
ब्याहे हो या क्वाँरे हो।
यदि विवाह की म्यान लगी है,
फिर भी विकट दुधारे हो॥"

(चन्द्र) "राजा या युवराज नहीं हूँ,
अभियोगी हूँ भागा हूँ;
समझ अधिक तुम घृणा करोगी,
भाग्य सुलाकर जागा हूँ॥"

दूसरी शैली की विशेषता यह है कि आपने मुहावरों और कहावतों का अधिक प्रयोग किया है किन्तु भाषा की स्वाभाविकता में किसी प्रकार की कमी नहीं होने दी, प्रत्युत भाषा निखर उठी है और गतिवान हो गई है। यथा—

"पीटो तुम अपनी ही खंजड़ी,
इकतारा स्वयं बजाओ तुम।
यह डेढ़ चावलों की अपनी,
खिचड़ी बस अलग पकाओ तुम ॥
तलवे में मेरे आग लगी,
बेसुरा राग ऐसा सुन सुन।
जिस धुन में तुम हो लगे हुये,
रूई से कहीं न जाओ धुन ॥"

कहीं कहीं पर अंग्रेजी मुहावरों का भी अनुवाद किया है, जैसे—

"पानी पर मत चित्र बनाओ,
रचो अनिल में नहीं भवन ॥"

"रचो अनिल में नहीं भवन" (टु बिल्ड केसल इन दि एयर) का अनुवाद है। कहीं पर उल्टा प्रयोग भी किया है। यथा—

"तज आग कड़ाही में कूदा,
किस कुघड़ी में निकला घर से ॥"

"फ्राम फ़ाइंग पैन इनटू दि फायर" का उल्टा अनुवाद है।

आपने इस काव्य में तीन प्रकार के छन्द अपनाये है। एक वीर छन्द जिनके प्रत्येक चरण में ३१ अक्षर हैं। अन्त में गुरु लघु होता है। कहीं कहीं पर कुछ परिवर्तन भी है। इस प्रकार के छन्दों में लगभग समस्त काव्य लिखा गया है।

"पुरुष हृदय गम्भीर बड़ा है,
सहज न मिलती उसकी थाह।
कैसे लोग छिपा लेते हैं,
मन में चुटकी लेती चाह ॥"

इस प्रकार के छन्द में भाव को व्यक्त करने एवं दृश्य को अंकन करने की क्षमता है।

दूसरे प्रकार का छन्द पद्धरि है जिसमें १६ अक्षर है। उसमें गति देने की क्षमता है। यथा—

"बड़े हैं आप, पूज्य हे देव,
नहीं मन में मेरे कुछ भेव;
किसे दूँ दोष कालगति क्रूर,
मुझे ले गई सुपंथ से दूर ॥"

तीसरा छन्द गीत है—

"यह सेना नदी सी बढ़ी आ रही है,
घटा सी यह घिरकर चढ़ी आ रही है।
है अरियों के जंगल का करती सफाया,
पहाड़ों ने स्वागत में सर को झुकाया।
गई सूख नदियाँ ने पथ दे बुलाया,
स्वयं मृत्यु भी डर से थर्रा रही है।"

दोष—इस काव्य में कवि ने एक दो स्थल पर काव्यमयी भाषा के लोभ को संवरण न कर इस बात का ध्यान नही किया कि अवसर पर किस प्रकार की भाषा प्रयोग में लाई जावे। जिस समय कुबेरनागा नदी मे डूब रही थी उस अवसर पर कवि की आलंकारिक काव्यमयी भाषा उचित नही प्रतीत होती। यथा—

"सरिते अबुध बालिका है,
जो तू ललित पुतली देख।
नहीं कर सकी मोह संवरण,
सुन्दरता की प्रतिमा पेख॥
खींच उठा ही लिया गोद में,
तूने उसको प्यार किया।
झुला लहरियों के झूले में,
फूलों का उपहार दिया।
कटा कटा जो फिरता है,
नभ में अल्हड़ वह दिव्य पतंग।
ब्याह रचेगी क्या गुड़िया का,
ऊषा के गुड्डे के संग॥"

इसी प्रकार उस सुन्दरी से, जिसने कि अभी अभी संज्ञालाभ प्राप्त किया है, कमला की अवतार एवं तेरे शुचि वसन्त ने खाई कभी ग्रीष्म की आँच नहीं, आदि कहना परिस्थिति पर परदा डालना है। इसी प्रकार वीणा का कथन हास्यास्पद ही हो जाता है क्योंकि अभी उसका पिता चन्द्रगुप्त द्वारा वध किया गया है और उसके वध पर उसने अश्रु बहाये है, वही उसी समय चन्द्रगुप्त को इस प्रकार कहे कि—

"खो स्नेह प्रेम पाया मैंने,
तुमने मेरा दुःख बाँट लिया।

यदि है अनाथ कर दिया मुझे ,
तो बनो नाथ अपनी कर लो ।
अब विलग नहीं करके मुझको ,
अपनी सेवा का अवसर दो ।।'

यह विरोधाभाम ही है जो किसी प्रकार उचित नही कहा जा सकता । व्याकरण सम्बन्धी बहुत से दोप है । यथा—

पृष्ठ			
	१४	नमित	नत
	५३	पांडित	पंडित
	८२	श्राप	शाप
	८२	अनेकों	अनेक
	८२	इसथल	स्थल
	११६	आधीन	अधीन
	८३	क्षात्रालय	छात्रालय
	१५०	साम्राज्ञी	सम्राज्ञी
	६६	मगधी	मागध
	६४	सकुचि	संकोच

लिंगदोप—

७६	उसका पत	उसकी पत
७६	क्षितिज भागती जाती	भागता जाता
१६०	गया हमारा सर खा	गये हमारे सर खा ।

दशम अध्याय

हिन्दी काव्य में आधुनिक महाकाव्यों का स्थान

मानवता के लिए महाकाव्य का मूल्य

युग का प्रभाव साहित्य पर और साहित्य का प्रभाव युग पर अवश्य पड़ता है। इन दोनों में घनिष्ट सम्बन्ध है। समय परिवर्तनशील है। उसमें नाना प्रकार के परिवर्तन होते रहते है किन्तु मानव-चेतना का परिवर्तन शीघ्रता से नहीं हुआ करता। आज हमारा आचरण प्राचीन काल से भिन्न नहीं है। वह आज भी उस समय के जीवन से तादात्म्य स्थापित करना चाहता है। इसका कारण यही है कि मानवजीवन की समस्यायें कुछ तो चिरन्तन सत्य पर आधारित होती है, कुछ कालव्यापिनी होती है और कुछ क्षणिक हुआ करती हैं।

चिरन्तन सत्य से मेरा अभिप्राय उन मनोभावों से है जो सर्वकालीन और सर्वदेशीय होते हैं। उदाहरणस्वरूप माँ का वात्सल्य प्रेम चाहे भारतवर्ष अथवा अमेरिका या इंगलैण्ड का हो, एक प्रकार का ही होगा। उसी प्रकार लौकिक प्रणय प्रेमी और प्रेमिका एक दूसरे के प्रति उसी प्रकार का अनुभव करते हैं। इसमें काल और स्थान का व्यवधान नहीं पड़ता, जैसे शकुन्तला और दुष्यन्त के प्रेम का अनुभव आज भी नायक और नायिकाओं के हृदय में उसी प्रकार होता है। यही दशा अन्य मनोभावों की है। इस प्रकार चिरन्तन सत्य पर अवलम्बित जीवनपरम्परा अक्षुण्ण रूप से प्रवाहित होती रहती है, किन्तु वाह्य परिस्थितियों में परिवर्तन होता रहता है। वे परिवर्तन राजनीतिक, धार्मिक और आर्थिक आदि होते है। कलाकार इन परिवर्तनों से उत्पन्न जो कठिनाइयाँ होती हैं उनका निराकरण नायक द्वारा करता रहता है। इस कारण हममें बहुत कम परिवर्तन हो पाता है।

कलाकार तात्कालिक समस्याओं से भी प्रभावित होता है किन्तु महाकाव्य की एकमात्र प्रतिपाद्य विषय ये समस्यायें नहीं बन सकतीं जब तक उनका सम्बन्ध मानव के चिरन्तन सत्य से न होवे। उनके निराकरण के लिए तात्कालिक रचनायें ही बहुधा पर्याप्त होती है। कुछ तात्कालिक समस्यायें होती है जो उस युग में ही सीमित रहती है। जैसे अमेरिका की दासप्रथा

एक समस्या बन गई, जिसके लिए 'अंकल टाम्स कैबिन' नाम का उपन्यास इतना विरोधी सिद्ध हुआ है कि उसने अपनी करुणा से संसार को रुला दिया परन्तु आज अंकिल टाम्स कैबिन का मूल्य केवल उस करुणा के कारण ही है जो लेखक की वाणी से प्रवाहित हुई थी।

महाकाव्य का प्रणय साँस्कृतिक प्रयत्न है। अतः कलाकार उन स्थितियों और मनोभावों को, जो हमारी रागात्मक अन्तःप्रकृति को प्रभावित करती है, महाकाव्य में सन्निवेश करने का प्रयत्न करता है। जो कलाकार मानवजीवन की जटिलताओं की गम्भीरता को जितने अंश तक अभिव्यक्ति दे सकता है, वही श्रेष्ठ कलाकार माना जावेगा।

युग के जीवन की जटिलताओं से मेरा तात्पर्य यही है कि उनका समन्वय इतिहास, विज्ञान तथा दर्शन से होना उचित है। अगर हम अपने जीवन की जटिल समस्याओं को समन्वित करना चाहते है तो हमें इतिहास का अध्ययन करना होगा। हमें देखना पड़ेगा कि जो परिस्थितियाँ प्राचीन काल के लिए उपयोगी थीं, यदि वे आज हमारे लिए अनावश्यक है तो उन्हें छोड़ना पड़ेगा, केवल उपयोगी वस्तु ही ग्रहण करनी होगी। इसी प्रकार विज्ञान को अपनाना होगा।

यह युग वैज्ञानिक है। प्रत्येक प्राचीन वस्तु विज्ञान की कसौटी पर कसी जाती है। अतः आज के कलाकार को सचेत रहना है कि वह जीवन की पूर्ण समस्याओं का एवं उसके जीवन के साधन का इस प्रकार आविष्कार करे कि वे मानवता के लिए उपयोगी हों। अनुपयोगी वस्तुओं के लिए संघर्ष करता रहे। साथ ही विज्ञान की नवीनतम खोजों से भिज्ञ रहे और उनसे सम्बन्ध स्थापित करता रहे।

दर्शन का तात्पर्य मानव की अन्तर्मुख व्याख्या करना है। बहिर्मुख मानव की व्याख्या के लिए नीतिशास्त्र, समाजशास्त्र तथा अर्थशास्त्र आदि अनेक शास्त्र है, परन्तु अन्तर्मुख व्याख्या का अनुगमन केवल दर्शन ही हमें दे सकते हैं। चरम सत्य क्या है यह प्रश्न नया नहीं है। सम्भवतः अनादि काल से मानव इसी में उलझा है और इसी के लिए अनेक दर्शनों का निर्माण हुआ है। कलाकार भी इस प्रश्न से तटस्थ नहीं रह सकता। जहाँ कलाकार मानव के बहिर्मुख की व्याख्या करता है और संघर्ष अथवा द्वन्द्व का चित्रण उपस्थित करके योग्यतम प्राणी के जीवित रहने का अधिकार (सरवाइवल-आफ-दि-फिटेस्ट) का उद्घोष करता है और प्राकृतिक संग्रह (नेचुरल सेलेक्शन) को ही जीवन का चरम सत्य मानता है, वहाँ दूसरी ओर कलाकार समस्त

प्रियप्रवास में कृष्ण महाभारत के आधार पर कर्मयोगी एवं लोकप्रिय नेता के रूप में अवतरित हुए। वे गोपीरमण, माखनचोर नहीं है, बल्कि वे युगभावना के अनुरूप है। इसमें श्रीकृष्ण के जीवन की एकांगता का त्याग करके उनके सर्वांगीण जीवन के संदेश की ओर ले जाने का आग्रह है। यही दशा राधा की है। राधा एकान्त प्रेमिका नहीं है। वह अन्य प्राणियों के दु:ख से विगलित होकर सम्वेदनशील हो जाती है और वह "दीनों की थी बहिन जननी थी अनाश्रितों की" लोकसेविका के रूप में देखी जाती है। इस प्रकार प्रियप्रवास में मानवता के लिए अमर सन्देश है जो सर्वकालीन, सर्वदेशीय है। इतने उदात्त और महत् उद्देश्य प्राप्त होना कठिन है। काव्य की दृष्टि से भी उसके प्रवाह में गति और माधुर्य है। यह इस युग का सर्वश्रेष्ठ काव्य है।

रामचरित उपाध्याय रचित रामचरितचिन्तामणि में रामचन्द्र जी की मर्यादा की रक्षा नहीं हो पाई है। इस महाकाव्य में न तो रामचन्द्र का उज्ज्वल चरित्र आया है और न अन्य किसी पात्र के चरित्र का सहृदयतापूर्वक विवेचन हुआ है। कवि ने मार्मिक स्थलों की उपेक्षा की है। इसका परिणाम यह हुआ कि उच्चादर्श मलिन हो गए और काव्य की गरिमा नष्टप्राय हो गई।

इस युग का अन्तिम काव्य साकेत है। यह महाकाव्य जीवन के विविध चित्रों से युक्त है। इसमें मौलिक चिन्तन है और कल्पना की ऊँची उड़ान। साथ ही उपेक्षिताओं को उस आसन पर ला बिठाया जिसके लिए आज का सभ्य मानव उत्सुक है। वर्तमान आदर्शों की रक्षा और पारिवारिक सम्बन्ध इस महाकाव्य के प्राण है।

इस प्रकार द्विवेदी युग में दो महाकाव्य प्रियप्रवास और साकेत रह जाते है। इन दोनों में कौन श्रेष्ठ है इसका निर्णय सुजन पाठकजन ही करें। दोनों महाकाव्यों की आधारशिला प्रागैतिहासिक काल है। दोनों कवियों ने हमारे सम्मुख उज्ज्वल स्वरूप रखने का प्रयत्न किया है। साकेत काल-विशेष का महाकाव्य है। वर्तमान इसमें इतना प्रतिफलित हो उठा है जिसके आगे हमारी परम्पराबद्ध धारणायें मन्द हो जाती है। त्रेता युग के आदर्श के प्रति जो श्रद्धा सामान्य हिन्दू जीवन में रामायण के द्वारा उत्पन्न हुई थी और रामचरितमानस ने जिसे दिव्य स्वरूप प्रदान कर दिया था वह श्रद्धा साकेत में शिथिल हो गई है। बुद्धिवाद और नैतिकता के कठोर प्रहार साकेत की कैकेयी और उर्मिला द्वारा निरन्तर होते रहे। साकेत के लक्ष्मण भी अनन्य भावापन्न

लक्ष्मरा नहीं है। कठोर बुद्धिवाद के अंकुश से निश्चित मार्ग पर चलने वाले मतंग की भाँति लक्ष्मरा की कर्त्तव्यनिष्ठा उनके विवेक का परिरााम है—भक्ति का नहीं।

यदि इस दृष्टि से साकेत की तुलना की जावे तो हमें आकाश-पाताल का अन्तर दिखलाई देगा। प्रियप्रवास में राधा और गोपियों की श्रद्धा, विवेक का आश्रय है और साकेत में राम के अतिरिक्त अन्य पात्रों का विवेक उसकी श्रद्धा का आश्रय है।

इसके पश्चात् हम छायावादी युग में प्रवेश करते हैं। इस युग को कई नामों से अभिहित किया जाता है। कोई प्रसाद काल कहता है, कोई प्रसाद-पन्त-निराला युग कहता है और कोई प्रसुमन काल (प्रसाद-सुमित्रानन्दन पन्त-महादेवी वर्मा और निराला के नाम से) कहता है। यह युग सन् १६२१ ई० से १६४० ई० तक माना जा सकता है। इसके अन्तिम दशाब्द के उत्तरार्द्ध में प्रगतिवाद की धारा प्रवाहित हो चली थी। इस काल में कामायनी, नूरजहाँ, सिद्धार्थ, वैदेही-बनवास और दैत्यवंश महाकाव्य प्राप्त होते हैं।

इन महाकाव्यों के रचनाकाल को देखकर हमें प्रतीत होता है कि इसके प्रथम दशाब्द में कोई महाकाव्य उपलब्ध न हो सका। कारण स्पष्ट है। सन् १६१३ के लगभग रवीन्द्र को गीतांजलि पर 'नोबल-पुरस्कार' प्राप्त हुआ था। इस पुरस्कार ने हिन्दी कवियों को यह प्रेरणा दी कि वे रवीन्द्र का अध्ययन करें। रवीन्द्र के अध्ययन के साथ ही उन प्रवृत्तियों की ओर भी ध्यान गया जिनके कारण रवीन्द्र की इतनी स्तुति हुई थी। यह सच है कि रवीन्द्र की कविता अनुभूति-प्रधान है और अनुभूति-प्रधान काव्यों में कवि की वृत्ति अन्तर्मुखी होती है। अन्तर्मुखी वृत्ति के साथ कवि के लिए इतिवृत्तात्मक बहिर्मुख वृत्तिप्रधान काव्य लिखना अधिक सुन्दर नहीं होता है। अन्तर्मुखी वृत्ति गीतिकाव्यों का निर्माण करती है इसलिए इस दशक में गीतिकाव्यों की बाढ़ आ गई।

अन्तर्मुखी वृत्तिप्रधान गीतिकाव्य रचयिता कवियों की मानसिक पृष्ठभूमि के निर्माण के लिए कुछ समय अपेक्षित रहता है। इस समय कवि शैलीविशेष पर अधिकार पाने की चेष्टा करता है। जब तक शैलीविशेष पर पूर्ण अधिकार नही हो जाता, इतिवृत्तात्मक बहिमुख वृत्तिप्रधान काव्य की रचना सम्भव नहीं होती। प्रयोग का काल समाप्त हुआ और तीसरे दशक ने इस शैली में कुछ महाकाव्य दिए।

हम ऊपर कह चुके हैं अन्तर्मुख वृत्ति प्रधानतः गीतिकाव्यों के लिए अधिक उपयोगी सिद्ध होती है। इस काल में जब एक विशेष शैली पर गीति-काव्य लिखते लिखते कुछ मार्ग स्पष्ट हो चला तब कामायनी का उदय हुआ। प्रसाद स्वभावतः भावुक हृदय के थे। उनकी गद्य-रचनाओं मे भी भावुकता स्पष्ट देखी जा सकती है। क्या नाटक, क्या उपन्यास, क्या कहानियाँ सब-की-सब कृतियाँ भावात्मक वर्णनों से भरी हुई हैं। उनकी यह वृत्ति उनका व्यक्तित्व बन गई थी जिसका सुन्दरतम प्रदर्शन कामायनी में हुआ।

कामायनी भावचित्रों के साथ कल्पना के जिस जगत् में पाठक की मनो-वृत्ति को पहुँचा देती है वह केवल आन्तरिक अनुभूति का विषय है—

"हे अभाव की चपल बालिके, री ललाट की खल लेखा !
हरी-भरी सी दौड़-धूप, ओ, जल माया की चल-रेखा।
अरी व्याधि की सूत्र धारिणी ! अरी आधि मधुमय अभिशाप !
हृदय गगन में धूमकेतु सी, पुण्य सृष्टि में सुन्दर पाप।।"

इन छन्दों में चिन्ता का कारण उससे होने वाला शारीरिक विकार, मनुष्य के पुरुषार्थ, उसके हृदयोद्वेग, उसका विषाक्त प्रभाव, उसकी अमर जीवन को जराग्रस्त करने की शक्ति का चित्रण तो है ही, फिर भी आधि के साथ मधुमय अभिशाप की भावना और पुण्य सृष्टि में सुन्दर पाप की सृष्टि के द्वारा चिन्ता के मनोरम रूप और उसके दुखःद स्वरूप की जो कल्पना है वह अनुपम है।

"जब लीला से तुम सीख रहे,
कोरक कोने में लुक रहना ;
तब शिथिल सुरभि से धरणी में,
बिछलन न हुई थी ? सच कहना।"

उक्त छन्द में—

"इक भीजे चहले पड़े, बूड़े बहे हजार।
किते न औगुन जग करत, नै वय चढ़ती बार।।"

बिहारी का भाव स्पष्ट है परन्तु यौवन की सलज्ज मादकता का जो चित्र "जब लीला से तुम सीख रहे कोरक कोने में लुक रहना" में व्यक्त हुआ है वह बिहारी की उपदेशात्मक प्रवृत्ति को बहुत पीछे छोड़ देता है। साथ ही "भीजे से बूड़े बहे हजार" तक की व्याख्या से कुछ अधिक "सुरभि शिथिल से धरणी में बिछलन न हुई थी" में व्यक्त हुआ है। इतना होते हुए भी 'सच कहना' से व्यक्त होने वाली आत्मीयता इस छन्द का गम्भीरतम अंश है जिसका दोहे में कहीं नाम नहीं।

सांकेतिक शब्दों का इस प्रकार प्रयोग कामायनीकार की कृति में चरितार्थ हो गया।

यद्यपि इस काल में गीतिकाव्यों और मुक्तकों में अधिकांशतः इसी प्रकार की कल्पनाओं से काम लिया जाता रहा है फिर भी महाकाव्यों में इस समय के बहिर्मुख वृत्तिप्रधान शैली पर प्रयोग होता रहा। यद्यपि कामायनी और तुलसीदास इसके अपवाद थे।

इस काल के अन्य महाकाव्य नूरजहाँ, सिद्धार्थ, वैदेही-बनवास और दैत्यवंश भी हैं, परन्तु मानव-हृदय को मुग्ध करने की जो शक्ति कामायनी को प्राप्त है वह इनमें से किसी को प्राप्त नहीं हुई। इसका विशेष विवेचन हम आगे चलकर करेंगे।

छायावादीयुक्त परम्परा पश्चिम की भाँति भारतवर्ष में भी अकाल मृत्यु को प्राप्त हो गई। इस शताब्दी का पंचम दशक न केवल महाकाव्यों में वरन् मुक्तक और गीतिकाव्यों में भी छायावाद से पल्ला छुड़ाते हुए दिखलाई देता है। फिर एक बार अनुभूति की स्पष्ट व्यञ्जना पर बल दिया जाने लगा।

यद्यपि छायावाद का प्यानो फूट चुका था परन्तु उसकी झनकार महामानव में सुनाई देती है। लम्बी-चौड़ी प्रस्तावना लिखने के उपरान्त भी महामानव केवल उस टूटे तारे की झनकार ही रही।

इस काल में फिर आदर्श पूजा की ओर प्रवृत्ति उत्पन्न हुई है और पद्मावती, उर्मिला, दुर्गा, ध्रुवस्वामिनी आदि दिव्य और अदिव्य नायिकायें काव्य का विषय बनीं। साथ ही, भगवान् कृष्ण, भरत जैसे दिव्य-गुण-सम्पन्न मानवादर्शों का भी चरित्र उपस्थित किया गया। साकेत-संत इस काल की सुन्दर रचना है, परन्तु मेरा विचार है कि सर्वोत्तम मानव का आदर्श उपस्थित करने वाला योगिराज कृष्ण का चरित्र कृष्णायन इस काल की सर्वश्रेष्ठ रचना है।

महाकाव्यों का तुलनात्मक अध्ययन

महाकाव्यों के स्थाननिर्देश के लिए आवश्यक है कि प्रत्येक महाकाव्य का तुलनात्मक अध्ययन किया जावे। अतः अधोलिखित बातों का तुलनात्मक अध्ययन करेंगे।

(१) तुलनात्मक चरित्र-चित्रण—नायक-नायिका।

(२) तुलनात्मक प्रकृति-चित्रण—

(क) प्रकृति का संश्लिष्ट वर्णन।

(ख) प्रकृति का सम्वेदनात्मक स्वरूप ।

(ग) प्रकृति का मानवीकरण ।

(३) तुलनात्मक रसनिरूपण ।

(४) तुलनात्मक महाकाव्य के सन्देश ।

(५) तुलनात्मक कलापक्ष—

(क) रूपवर्णन ।

(ख) दृश्यवर्णन ।

(ग) अलंकारयोजना—सादृश्मूलक अलंकार ।

(घ) भाषा ।

तुलनात्मक चरित्र-चित्रण

(अ) नायक का चरित्र—

प्रियप्रवास के नायक श्रीकृष्ण हैं । उसमे उनका चरित्र एक आनर्श मानव के रूप में व्यक्त हुआ है। कृष्ण के सम्मुख दो मार्ग थे, एक तो गोपियों के साथ पुनर्मिलन एव आत्महित की सिद्धि और दूसरा था मथुरा में रहकर कंस के अत्याचारों के प्रतिकार में आत्म-उत्सर्ग ।

कृष्ण ने प्रेय मार्ग को त्याग कर श्रेयमार्ग का आश्रय लिया क्योकि—

"वे जी से हैं अवनि जन के,
प्राणियों के हितैषी।
प्राणों से है अधिक उनको,
विश्व का प्रेम प्यारा॥"

जो व्यक्ति अपने प्राणों को निस्स्वार्थ भूतहित और लोकसेवा में अर्पित करना चाहता हो उसके लिए गोप-गोपियों का रुदन बाधक नहीं होता। ऐसे ही व्यक्ति समाज के लिए उपयोगी एवं मानव समाज के उद्धारक हो सकते हैं। कृष्ण का यही चरित्र आदि से अन्त तक प्रियप्रवास का प्रतिपाद्य विषय रहा। न उसमें कही स्खलन है और न विराम। सतत लोककल्याण के लिए गतिमान कृष्ण मानवता के एक आदर्श हैं।

रामचरितचिन्तामणि के नायक रामचन्द्र जी हैं। उनका चरित्र उदात्त होते हुए भी निम्न श्रेणी का व्यक्त किया गया है। यद्यपि उन्हें राज्य से प्रेम नहीं है और उसे त्याग भी दिया है किन्तु उनका यह कथन कि—

"दुर्दैव ने ही राज्य देकर,
हाथ से फिर ले लिया।

मुझको अकिंचन कर दिया,
घर भी नहीं रहने दिया ॥
विधि है विमुख बस बन्धु,
इससे भूप की मति खो गयी ।
जो बात अनुचित भी न थी,
वह भी अचानक हो गयी ॥"

इसको सुनकर हृदय में यही धारणा होती है कि राम में उदात्त भावना का नाम भी नही। वह तो राज्यलोलुप, विधि पर विश्वास करने वाला, पिता को दोष देने वाला एक साधारण व्यक्ति है। आगे चलकर राम का चरित्र और भी गिर गया है। वे सीता से कहते हैं कि--

"भद्रे! कहो लंकेश के घर,
में रहीं तो क्षोभ से।"

फिर कहते हैं--

"संसार में मुझको न कोई,
भीरु समझे इसलिए,
मैंने किया रण तुम बताओ,
स्मित वदन हो किसलिए?
होकर कलंकित मैं रहूँ,
क्यों राम मेरा नाम है।
चाहे जहाँ जाओ चली,
तुमसे न कुछ भी काम है॥"

यह कथन एक सामान्य पुरुष का हो सकता है। राम का चरित्र न तो उनके अनुकूल ही हुआ है और न समाज के योग्य ही।

साकेत का नायक लक्ष्मण है जो इस पद के लिये सर्वथा उपयुक्त है। वह निर्भीक, स्पष्टवक्ता, वीर और संयमी है। ये गुण नायक के लिए पर्याप्त है। उसमें स्वाभाविक उग्रता है। उर्मिला तो उसके इसी उग्र स्वरूप एवं ऐंठ पर मुग्ध हुई थी। यथा--

"अब भी वह ऐंठ सूझती,
तब हूँ यह आज जूझती।"

यही नहीं, लक्ष्मण के वचन 'निज वधू उर्मिला को ही जाना'—स्त्री-हृदय ही समझ सकता है कि वह ऐसे संयमी पति को पाकर कितनी सौभाग्यवती है। यह सब होते हुए भी मानवकल्याण एवं समाजकल्याण की भावना

नहीं व्यक्त हुई। साकेत का नायक धीरोदात्त नायक है। जहाँ-तहाँ उसमें धीरललित की भावना भी दिखलाई पड़ती है। यह प्रकृतिविपर्यय साकेत के न केवल लक्ष्मण-चरित्र में ही वरन् लगभग सभी पात्रों में है और लक्ष्मण का चरित्र तो इस दृष्टि से इतना संयत हो गया है कि जो उसे एक कामुक के रूप में उपस्थित किया गया है। यथा—

"क्यों न मैं मद मत्त गज सा झूम लूँ,
कर-कमल लाओ तुम्हारा चूम लूँ?
पकड़ कर सहसा प्रिया का कर वहीं,
चूम कर फिर फिर उसे बोले यही।'

लक्ष्मण के चरित्र के प्रति यह भावना जनता सहन कर लेती यदि वाल्मीकि के लक्ष्मण और तुलसी के लक्ष्मण का आदर्श उसके समक्ष न होता।

कमायनी का नायक मनु है। मनु विलासी, स्वार्थी, ईर्ष्यालु है किन्तु उसका चरित्र अन्त में निर्वेद को प्राप्त कर शान्ति प्राप्त करता है। कामायनी में सांसारिक पुरुष का स्वरूप दिखलाया गया है। जब मनु के मन में तरल वासना का संचार होता है तो जैसे आज के से मधु-प्रेमी पति मधुपान के लिए अपनी पत्नी से आग्रह करते हैं उसी प्रकार मनु भी अपनी पत्नी से आग्रह करता है—

"देवों को अर्पित मधु मिश्रित,
सोम अधर से छू लो।
मादकता दोला पर प्रेयसि,
आओ मिल कर झूलो॥"

श्रद्धा के समझाने पर वह अपनी बात पर दृढ़ है और कहता है कि तुम इसे पी लो और फिर—

"वही करूँगा जो कहती हो,
सत्य अकेला सुख क्या।"

किन्तु श्रद्धा पर एकाधिपत्य स्थापित करने वाला मनु श्रद्धा को त्याग देता है और अन्त में उसकी महत्ता को स्वीकार कर लेता है और उसके मातृत्व पर भी उसकी आस्था हो जाती है। उसके हृदय से यह वाक्य निकल पड़े—

"तुम देवि आह कितनी उदार,
यह मातृ मूर्त्ति है निर्विकार।"

इसमें मानवकल्याण के लिए समन्वय का सुन्दर सन्देश दिया। कामायनी के मनु के व्यक्तित्व के विकास में श्रद्धा के प्रति उदार भावना का उदय सहज और विवेकजन्य नही है। उपकार से नत मनु यदि श्रद्धा के प्रति श्रद्धालु होता है तो हम केवल इतना समझ सकते है कि मनु का मन अभी इतना नीचे नही गिरा था कि वह कृतज्ञता स्वीकार न करता। श्रद्धा की इच्छाविहीन सेवा का प्रतिदान यह नही था कि मनु उसे छोड़कर तपस्या के लिए चला जाता। उसका प्रतिदान केवल यही था कि मनु श्रद्धा के पुत्र मानव को मानवता के उपयुक्त शिक्षा देकर उसके ऋण से उऋण होता। मनु का यह आकस्मिक प्रवास उसके हृदयदौर्बल्य का सूचक है जिसमें पड़कर एकान्त साधना विशुद्ध स्वार्थ के लिए होती है। इस प्रकार हम देखते है कि जिसे आज के विचारक मनु के चरित्र का विकास कहते है उसमें भी स्व की पूर्णता का स्वार्थ छिपा हुआ है। मनु का यह चरित्र और कुछ भले हो, मानवता का आदर्श नहीं।

नूरजहाँ का नायक जहाँगीर है जो धीरललित कहा जा सकता है। वह प्रेमी है, किन्तु उसका प्रेम अकर्मण्य पुरुष का ही प्रेम है। वह इसलिये कि मेहर के प्राप्त करने में आदि से अन्त तक उसका प्रयास चलता रहा किन्तु साहसविहीन तस्कर की भाँति। साथ ही वह विलासी भी था, क्योंकि वह सब कुछ मेहर पर ही छोड़ता था। यथा —

> **"राज्य करो तुम मूर्ति तुम्हारी,**
> **रहूँ देवता मैं प्रतियाम।**
> **अपने हाथों से नित केवल,**
> **मुझे पिला देना दो जाम॥"**

जहाँगीर के चरित्र में प्रेमी की विशुद्धता नहीं रही है। अनारकली उसके लिए मर सकी परन्तु जहाँगीर इतना ऊँचा न उठ सका कि अपने पिता की अवहेलना करके अनारकली को स्वीकार करता। इसे हम उसकी पितृ-भक्ति में नहीं गिन सकते क्योंकि इसी जहाँगीर ने एक दिन अपने पिता के प्रति विद्रोह किया और उसका कारण है राज्यलिप्सा*। यदि इसका कारण अनारकली अथवा नूरजहाँ होती तो हम कम से कम उसे प्रेमी कहकर पुकार सकते। सच तो यह है कि नूरजहाँ शिथिल मनोवृत्तियो का काव्य है।

सिद्धार्थ में सिद्धार्थ का चरित्र उत्तम है। वह सौम्य, वीर्य, प्रेमी, सहृदय एवं दृढ़ संकल्प वाला पुरुष था। त्यागभावना के कारण ही वह संसार का कल्याण कर सका। यदि वह गोपा के मोह में पड़कर इन्द्रियजन्य सुखों

को भोगा करता तो वह भी साधारण व्यक्तियों की तरह पृथ्वी के भार तुल्य होता। उसी के त्याग का प्रभाव था कि—

"फैला धर्म प्रभात था,
अवनि पीयूष संचार - सा।
रोगी-वृद्ध-अशक्त भी मुदित थे,
पा स्वास्थ्य की सम्पदा॥
भूपों ने रण से निवृत्त असि की,
क्रोधाग्नि से मुक्त हो।
सारी संसृति सत्य चिन्तन,
परा निर्वाण भावा बनी॥"

सत्य और अहिंसा और साम्य भावना इस चरित्र की मानवता के लिए अमर देन है।

वैदेही-बनवास के नायक श्री रामचन्द्र जी हैं। वे धीर, वीर, गम्भीर है और लोकाराधन के लिए आत्मसुखों की तिलाँजलि और बड़े से बड़ा त्याग करने के लिए कटिबद्ध है। इसीलिए उन्होंने अपनी हृदयेश्वरी सीता को भी त्याग दिया। राम ने लोकाराधन अपना ध्येय बना लिया। उसके लिए न तो पत्नी ही बाधक हो सकती थी और न भाई ही। क्या सीता का त्याग राम के लिए साधारण बात थी ? नहीं, देखिये—

"तात विदित हो कैसे अन्तर्वेदना,
काढ़ कलेजा क्यों मैं दिखाऊँ तुम्हें।
स्वयं बन गया जब मैं निर्मम जीव तो,
मर्मस्थल का मर्म क्यों बताऊँ तुम्हें॥"

यह त्याग मानवकल्याण के लिए किया गया है। रामचन्द्र का प्रयत्न यही रहा है कि समाज में दुःख समूल नष्ट हो और घर में सरस शान्ति की धारा प्रवाहित रहे। यथा—

"कोई कभी असुख मुख देखे नहीं,
सुख मय वासर से विलसित वसुधा रहे।"

वैदेही-बनवास का यही प्रतिपाद्य विषय रहा है। उसकी पूर्ति में क्या राम, क्या सीता सभी संलग्न दिखाई पड़ते है।

दैत्यवंश महाकाव्य के कई एक नायक है। उनमें सबसे प्रधान मध्य नायक बलि है। वह वीर, दानी और योग्य भूपाल है। उसने प्रजा के हित के लिए समस्त उपकरण एकत्र किये। दानी होने के कारण ही उसे कष्ट

भोगने पड़े। यहाँ पर विचारणीय प्रश्न यह है कि बलि की यज्ञरचना शुद्ध एवं सात्विक आधार पर थी अथवा राज्यलिप्सा की भावना मिश्रिता।

बलि इन्द्रासन पाकर साम्राज्य स्थापित करने की दृढ़ धारणा से ही यह यज्ञ कर रहा था जिसका प्रतिफल वामन ने पाताल का आधिपति बनाकर दिया।

समाज में यज्ञ और तप कष्टनिवारण एवं शान्तिस्थापन के लिए होते हैं। यदि मानवता को इससे कल्याण न हुआ तो फिर यह तप ढोंग ही सिद्ध होगा।

कृष्णायन के नायक कृष्ण हैं। वह शक्ति, शील और सौन्दर्य से ओत-प्रोत प्रबल समाज-सुधारक एवं धर्म-संस्थापक है। आपत्तियाँ उनके दृढ़ संकल्प में बाधक नहीं हो सकतीं। उन्होने कंस, शिशुपाल और जरासिन्धु ऐसे अत्याचारियों को नष्ट किया। यही नहीं, दुर्योधन, शकुनि आदि दुर्जनों को दमन कर धर्म-सुत को सिंहासनारूढ़ कराया और मोहग्रस्त अर्जुन को गीता का ज्ञान दे सन्मार्ग पर चलाया। इस प्रकार वे सर्वगुणसम्पन्न पुरुष हैं।

कृष्णायन के कृष्ण का स्वतन्त्र व्यक्तित्व नहीं है, न केवल कवि-कल्पना की दृष्टि से, क्योंकि कृष्णायन के कृष्ण कहीं सूर के कृष्ण है, कहीं श्रीमद्भागवत के और कहीं महाभारत के।

वे जीवन धारण करते हैं—लोकाराधन के लिए, व्रज जाते हैं नन्द-यशोदा के वरदान की सफलता के लिए, खेलते हैं खेल के प्रसंगों में दुष्टों का दमन करने के लिए, माखनचोरी करते हैं गोपियों की मनोकामना पूर्ण करने के लिए, चीरहरण करते हैं गोपियों को नैतिक शिक्षा देने के लिए, मथुरा का आगमन है आर्य राज्य के संस्थापन के लिए, रुक्मिणी, मित्रवदा, सत्यभामा, कालिन्दी, जामवन्ती आदि का परिणय, कृष्ण की भोगलिप्सा का परिणाम नहीं वरन् इन कुमारियों की मनोकामना की पूर्ति के कारण है। प्राग्ज्योतिष-पुर के स्वामी का वध करके उसके बन्दीगृह से भगवान् ने उन पतित कुमारियों का उद्धार किया जो अपवित्र होते हुए भी पवित्र थीं। फिर उन त्यक्ताओं का ग्रहण करके जो अपवाद से निर्भीकता का उदाहरण दिया वह उनकी भोगलिप्सा नहीं वरन् एक नवीन समाजसिद्धान्त की स्थापना का यत्न दिखलाई देता है जिसकी आज भी उतनी ही आवश्यकता है जितनी आवश्यकता भौमासुर के बन्धन में पड़ी हुई उन कुमारियों के लिए थी।

बहुविवाह का दोष कृष्ण पर लगाया जा सकता है, जो मर्यादा के सर्वथा प्रतिकूल है, किन्तु कृष्णायन का यहाँ भी एक ऐसा संकेत है जो कृष्ण को योगिराज सिद्ध करने के लिए आवश्यक था।

"लीलापति कहु पार्थ निहारे,
निवसति माया विग्रह धारे।
जात जबहिं अर्जुन जेहि धामा,
निरखत तहं तहं हरि घन श्यामा ॥"

अर्थात् अपने योगबल से अपनी समस्त रानियों के साथ अनेक विग्रहों में अनेक रूप से रहते थे। इसके बाद बहुविवाह दोष से दूषित होते हुए भी एक-पत्नी-व्रत का निर्वाह किया।

हम आज के वैज्ञानिक युग में कवि की इस कल्पना पर आक्षेप कर सकते हैं परन्तु कवि के हृदय के साथ तन्मयता रखते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कवि ने श्रीमद्भागवत मतानुसार बहुविवाह दोष को निवारण करने का संकेत किया है।

इस प्रकार कृष्ण की स्वतन्त्र सत्ता का जगत् की सत्ता में विलय कृष्णायन की पंक्ति पंक्ति में मिलता है। कृष्ण को युद्ध से पराङ्मुख होकर अपमानित होने में भी संकोच नहीं है यदि उसके द्वारा मथुरा की रक्षा होती हो और जलदस्युओं का दमन हो सकता हो। उनकी बहिन सुभद्रा को अर्जुन हर ले जाये इसकी अनुमति वे स्वयं देते है—केवल इसलिये कि पाण्डवों और यादवों के साक्षात् सम्बन्ध से जिस शक्ति का संचय होगा उस शक्ति के द्वारा ही लोककल्याण सम्भव है। यादव यदि दुर्बल हो गये है तो उनके विनाश का उपाय भी कृष्ण स्वय अपने हाथ से करते हैं। क्यों? केवल लोककल्याण की दृष्टि से। यदि कृष्ण का कुछ भी स्वतन्त्र व्यक्तित्व होता तो कृष्ण मथुराधिप हो सकते थे, और एकच्छत्र सम्राट् हो सकते थे, या कम से कम यादव-नारियों के भीलों द्वारा अपहृत किये जाने पर उनकी रक्षा का प्रबन्ध तो कर ही देते परन्तु यह सब होता तो तब, जब कृष्ण का कोई व्यक्तित्व होता।

इस प्रकार कृष्ण लोक के थे, लोक के लिए थे और लोकमय थे। जब तक लोक की प्रतिष्ठा आवश्यक थी तब तक उनकी समस्त शक्ति अकुंठित और जागरूक थी। उन्होंने सत् और असत् का सत्य स्वरूप स्थापित करके जिस लोककल्याण का मार्ग प्रशस्त किया, भारतवर्ष को आज ऐसे ही महा-मानव की आवश्यकता है जिसमें वह शक्ति हो जो असत् का दमन कर सके और दमन ही न कर सके, वरन् इतना तटस्थ हो कि स्वयं सम्राट् बनने की अपेक्षा धर्म को सम्राट् बना सके।

आज हमें ऐसे ही आदर्श की आवश्यकता है और हमारी इस आवश्यकता की पूर्ति कृष्णायन द्वारा होती है और यही बात ध्यान में रखकर हम कह

सकते है कि कृष्णायन का विश्लेषण अभौतिक होते हुए भी सर्वश्रेष्ठ है और चरित्र-चित्रण की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य है।

साकेत-संत के नायक भरत जी हैं जो अपनी महत्ता के कारण सन्त-पदवी पा ही लेते है। ऐसे महान व्यक्ति यदा-कदा ही अवतरित होते हैं। गृहस्थ होते हुए भी तपस्वी हैं, राज्यसंचालक होते हुए भी वैरागी है, राज-वैभव एवं प्रासाद के होते हुए एक कुटी में निवास करने वाले है। वे त्यागमूर्ति, सकरुण-हृदय, संयमी और सत्य अहिंसा के पुजारी है, परन्तु यह जीवन का एकांगी चित्र है। सम्पूर्ण जीवन की झाँकी न मिलने के कारण चरित्र का प्रभाव एकांगी पड़ता है और हमें पूर्ण तृप्ति प्राप्त नहीं होती।

विक्रमादित्य का नायक चन्द्रगुप्त है जो वीर, आत्मसंयमी और मर्यादा-वादी है। उसमें साहस और चारित्रिक बल है। उसने कुबेरनागा और वीणा के साथ रहते हुए भी अपने उज्ज्वल चरित्र पर किसी प्रकार का कलंक न लगने दिया। आर्य संस्कृत का पुजारी, कलाप्रेमी एवं नीतिविशारद है। ऐसा राष्ट्रनिर्माता, वीर, न्यायनिपुण शासक कठिनता से प्राप्त होता है।

विक्रमादित्य काव्य में विक्रमादित्य का जो चरित्र हमारे सम्मुख आता है उसके द्वारा जन-श्रुतियों में उपस्थित विक्रमादित्य चरित्र के साथ न्याय नहीं हुआ है। आर्य जाति में केवल एक ही उदाहरण है जिसमे अनुज ने अग्रज की भार्या को स्वीकार कर लिया। आर्यो का देवर (द्विवर) शब्द ही इसके औचित्य को स्वीकार करता है परन्तु यह आर्यमर्यादा के अनुकूल नही और इसीलिए निष्कलंक विक्रमादित्य काव्य के विक्रम चरित्र के प्रति हमारी श्रद्धा आकर्षित नहीं होती। एक जुगुप्सा की कालिमा रामगुप्त के चरित्र से उठकर धीरे धीरे ध्रुवदेवी और विक्रमादित्य को आच्छन्न करती जाती है जिसका परिणाम यह सम्बन्ध होता है। कलाकार की दृष्टि से वीभत्स, शृंगार और वीर दोनों का विरोधी है, रौद्र रस का वह सहायक होता है परन्तु काव्य का प्रतिपाद्य वीर और शृंगार होने के कारण इस जुगुप्सा के होते हुए रस-परि-पाक में बाधा पड़ती है। इसलिए विक्रमादित्य का यह चरित्र कलात्मक दृष्टि से शिथिल चरित्र है।

(ब) नायिकाओं के चरित्र—

प्रियप्रवास की राधा पहिले प्रेमिका है, फिर कृष्ण के वियोग में विरहिणी और उसके पश्चात् वह लोकसेविका है। उसके चरित्र का विकास अत्यन्त स्वाभाविक है। उसके जीवन को पहिला गति देने

वाला प्रेम था। उसने प्रेम पाया और प्रेम के साथ उस अनन्य अप्र-तिम सुन्दर के नित्य साहचर्य की अधिकारिणी बनी। किशोरी का यह नवल प्रेम नवल भावापन्न की नवीन सृष्टि करने वाला था जिसमें पहुँचकर राधा, राधत्व खोकर प्रेमरूपिणी बन गई थी। राधा के चरित्र की यह उच्चता एकरस स्थिर बन जाती है। वह विरहिणी है तो उसी प्रेम की, वह लोकारा-धनतत्परा है तो उसी प्रेम के लिए। उसका लोकाराधन कर्त्तव्य की पुकार नहीं है, वरन् प्रेम की प्रेरणा है और इसलिए राधा अपने पथ से भ्रष्ट नहीं हुई।

इस नित्य विरहिणी राधा का जो नित्य अन्तर्मिलन है उस स्थिति तक आधुनिक काव्यों की कोई नायिका नहीं हो सकती।

साकेत की नायिका उर्मिला है। वह पत्नी है किन्तु उसका पति से मिलन अल्पकालिक है। अतः उसमें विरह-वेदना का होना स्वाभाविक है जिसने उसे हत-प्रभ बना दिया। हम कह चुके है कि साकेत काव्य का निर्माण अप्रधान चरित्र उर्मिला को सम्मुख लाने के उद्देश्य से हुआ है। हम मुण्डे मुण्डे मति-र्भिन्नः को स्वीकार करते हैं और आचार्यप्रवर महावीरप्रसाद की फटकार के कारण डरते हुए यह भी स्वीकार कर लेते हैं कि उर्मिला के साथ कवियों ने अन्याय किया। उसके लिए दो-चार आँसू वाल्मीकि से लेकर तुलसी तक किसी न किसी को अवश्य गिराने चाहियें थे परन्तु किसी महाकाव्य के प्रधान नायक और नायिका पद पर प्रतिष्ठित होने के लिए विरहिणी होना ही एक-मात्र आवश्यक है यह बात हमारी मन्द वुद्धि में अभी तक नहीं आ सकी। और फिर वह विरह जो कर्त्तव्यप्रेरणा से स्वयं स्वीकार किया गया हो और फिर उसमें उन्माद दिखलाई दे हमे चरित्रविश्लेषण का निर्णय करने में अत्यन्त संकोच में डाल देता है।

कामायनी की नायिका श्रद्धा है। यह महाकाव्य की प्राण एवं स्फूर्ति-दायिनी शक्ति है जो चिन्ताग्रस्त मनु को मंगलमय एवं कल्याणकारी पथ का पथिक बनाती है। उसमें नारीसुलभ सभी गुण उदारता, धैर्य, क्षमा और अनु-राग विद्यमान हैं और यही कारण है कि ऐसे स्वार्थी व्यक्ति को उसके अन्तिम लक्ष्य तक पहुँचाने में सहायक होती है। यह सब होते हुए भी आधुनिकता की एक अस्पष्ट छाया श्रद्धा के चरित्र में भी परिलक्षित होती है। इस छाया ने श्रद्धा के चरित्र को कुछ स्थलों पर अस्पष्ट कर दिया। कामायनी की श्रद्धा आधुनिक विज्ञान के इस रहस्य से परिचित है कि पर्वतों का निर्माण धरा की सिकुड़न से होता है—

"दृष्टि जब जाती हिमगिर ओर,
प्रश्न करता मन अधिक अधीर।
धरा की यह सिकुड़न भयभीत,
आह कैसी है? क्या है पीर?"

जगत् की विषमताओं को 'वह भूमा का मधुमय दान' समझती है परन्तु वह इतनी भोली भी है कि पहिले ही परिचय में कहने लगती है कि—

"तुम्हारा सहचर बन कर क्या न,
उऋण होऊँ मैं बिना विलम्ब?"

ऐसा जान पड़ता है कि न तो श्रद्धा में स्त्री-सुलभ शालीनता है और न वह पाश्चात्य रमणी ही है जो पुरुष की ओर से प्रस्ताव चाहती है। यह चरित्र न भारतीय है और न पाश्चात्य।

श्रद्धा में गान्धीवाद का प्रभाव 'चल री तकली धीरे धीरे' में दिखलाई देता है। सृष्टि के क्रमिक विकास में तकली का स्थान बहुत पीछे है। इस प्रकार हम देखते हैं कि श्रद्धा के चरित्र में केवल मूल्यवान वस्तु है उसका आत्मसमर्पण। इसके अतिरिक्त श्रद्धा में कोई और विशेषता खिलती हुई नहीं दिखलाई देती। इस समर्पण का ही फल उसकी पतिसेवा है।

इनके अतिरिक्त जिन नायिकाओं का चरित्र हमारे सामने विभिन्न महाकाव्यों में आता है उनमें भी केवल एक भाव का वेग ही चित्रित हुआ है—जैसे ध्रुवस्वामिनी नूरजहाँ का अन्तर्द्वन्द। इसके अतिरिक्त जो कुछ वे करती हैं वह इसी अन्तर्द्वन्द्व का परिणाम है। प्रधान नायिकाओं के चरित्र-चित्रण के विचार से प्रियप्रवास का चरित्र-चित्रण मेरी दृष्टि में सबसे अच्छा है।

तुलनात्मक प्रकृति-चित्रण

(क) *प्रकृति का संलिष्ट वर्णन*—

प्रियप्रवास—

"असंख्य न्यारे फल - पुञ्ज से सजा,
प्रभूत पत्रावलि में निमग्न सा।
प्रगाढ़ छाया मद औ जटा - प्रसू,
विटानुकारी - वट था विराजता॥"

इस छन्द में वट का बिट के साथ संश्लेष बड़ा सुन्दर है।

वैदेही-बनवास—

"प्रकृति सुन्दरी विहँस रही थी,
चन्द्रानन था दमक रहा।

परम दिव्य बन कान्त अंक में,
तारक चय था चमक रहा।
पहन श्वेत साटिका सिता की,
वह लसिता दिखलाती थी।
ले ले सुधा सुधाकर - कर से,
वसुधा पर बरसाती थी ॥''

प्रकृति का यह वर्णन अलंकार से संश्लिष्ट है। पहिले पद में जिस रूपक को उठाया गया है दूसरे पद में उसकी चिन्ता नहीं रक्खी गई। रूपकसापेक्ष्य अलंकार है, अतएव दूसरे पद में इसका त्याग भोड़ा सा जान पड़ता है।

कामायनी—

"ऊषा सुनहले तीर बरसाती,
जय लक्ष्मी सी उदित हुई।
उधर पराजित काल रात्रि भी,
जल में अन्तर्निहित हुई।
वह विवर्ण मुख त्रस्त प्रकृति का,
आज लगा हँसने फिर से।
वर्षा बीती हुआ सृष्टि में,
शरद विकास नये सिर से॥''

इस छन्द में अन्तिम चरण वर्ण्य विषय है। उस पर कवि की कल्पना वर्षा प्रतिपक्षिनी थी, शरद् पक्षी था। शरद् की विजय हुई, वर्षा की पराजय। अतएव इस विजययुद्ध में ऊषा का तीर बरसाते हुए सम्मुख जाना, पराजित अन्धकार समुद्र में डूब जाना आवश्यक है। इस पराजय के कारण प्रकृति (जनता) का युद्ध, जनता का मुख युद्धविभीषिका के शान्त होने के कारण फिर से हँसने लग जाना स्वाभाविक ही है। अतएव अलंकृत प्रकृति-वर्णन की दृष्टि से यह छन्द अच्छा है।

विक्रमादित्य—

"छिप छींट छपी ने तारक कण,
तम जाल चतुर्दिक फैलाया।
पर हंस मोतियों को चुग कर,
तम फाड़ सगर्व निकल आया॥
अब चक चकई की चाँदी है,
ऊषा ने सोना बरसाया।

हैं सुमन सितारे चमक रहे,
तृण पर आकाश उतर आया॥"

रात्रि ने छिपकर तारक-कण-युक्त छींट फैला दी परन्तु हंस (सूर्य) ने मोतियों (तारों) को चुन लिया और तम (अन्धकार रूपी छींट) को फाड़-कर गर्व से निकल आया। समझ में नहीं आया कि छिपा कौन है जिसको अपनी छींट फैलाने के लिए छिपने की आवश्यकता है और यह छींट ही क्या है। यदि हम इसे अन्धकार मानें तो अन्धकार और तारों में आधाराधेय का सम्बन्ध नहीं है। हंस के मोती चुगने की कल्पना (सूर्य के द्वारा तारों के नष्ट होने का भाव) इतना घिस गया है कि उससे कल्पनादारिद्र्य ही प्रकट होता है।

साकेत—

"सखि, नील नभस्सर में उतरा,
यह हंस अहा तरता तरता।
अब तारक मौक्तिक शेष नहीं,
निकला जिनको चरता चरता॥
अपने हिम बिन्दु बचे तब भी,
चला उनको धरता धरता।
गड़ जायं न कंटक भूतल के,
कर डाल रहा डरता डरता॥"

कृष्णायन—

"प्रसरति अगणित बाहु तरंगा।
मणि वैडूर्य विमल जल अंगा॥
शिर महोर्मि श्रुति रवि मणि कुण्डल,
विलसत हृदय हार वडवानल।
पल्लव पारिजात परिधाना,
श्री शशि सोदर भूषण नाना।
दण्ड चन्द्र मणि मुक्तन-पोहा।
फेनिल छत्र स्वच्छ सिर सोहा॥"

समुद्र का सुन्दर संश्लिष्ट वर्णन है। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रसाद श्लिष्ट कल्पनाओं के प्रकृति-वर्णन में अधिक सफल हुए हैं। अतएव कामायनी का श्लिष्ट प्रकृति-वर्णन सबसे अच्छा है।

(ख) प्रकृति का सम्वेदनात्मक स्वरूप—

प्रियप्रवास—

"विकलता लख के व्रजदेवि की,
रजनि भी करती अनुताप थी।
निपट नीरव ही मिल ओस के,
नयन से गिरता बहु वारि था॥"

इस पद में प्रकृति का तादात्म्य यशोदा के रुदन से किया गया है जो उत्तम है।

रामचरितचिन्तामणि—

"पत्ते गिरा कर वृक्ष भी आँसू गिराते थे मनों।
होते न उनमें शब्द थे रोदन सुनाते थे मनों॥"

कल्पना अच्छी है।

साकेत—

"ओ हो भरा वह वराक वसन्त कैसा।
ऊँचा गला रुँध गया अब अन्त जैसा॥
देखो बढ़ा ज्वर जड़ता जगी है,
तो ऊर्ध्व स्वांस उसकी चलने लगी है।"

उर्मिला के दुःख के कारण वसन्त भी दुःखी और क्षीण हो रहा है। कल्पना अच्छी है।

कामायनी—

"नील गगन में उड़ती उड़ती,
विहंग बालिका सी किरणें।
स्वप्नलोक को चलीं थकी सी,
नींद सेज पर जा गिरने।
किन्तु विरहणी के जीवन में,
एक घड़ी विश्राम नहीं।
बिजली सी स्मृति चमक उठी,
लगे जभी तब घन घिरने।
सन्ध्या नील सरोरुह से जो,
श्याम पराग बिखरते थे।
शैल घाटियों के अंचल को,
वे धीरे से भरते थे।

तृण गुल्मों से रोमांचित नग,
सुनते उस दुख की गाथा।
श्रद्धा की सूनी साँसों से,
मिल कर जो स्वर भरते थे॥"

इन पंक्तियों में सन्ध्या का वेग से दौड़ती हुई सुनहली किरणों का थकित पंक्षियों का अपने घोंसले में लौट आने का एक स्वरूप खड़ा किया है। साथ ही उनकी सनसनाहट श्रद्धा के स्वासों के कारण सहानुभूति स्वरूप निकल रही है। अच्छी योजना है।

नूरजहाँ—

"दुख यहाँ भी आ पहुँचा,
निर्झर जो तुम रोते हो।
किसी पीड़ा में है प्रपात गिरि,
से गिर जीवन खोते हो।
तुम मत रोवो इस दुखिया के,
विकल हृदय को रोने दो।
दृग अम्बुधि में छोटी सी,
जीवन तरि मुझे डुबोने दो।
सरि सागर की विरह व्यथा में,
क्या तू तड़पी जाती है।
रुक जा क्षण में यही वारिनिधि,
मेरी आँख बनाती है॥"

इस पद में प्रकृति के साथ तादात्म्य है। वियोगिनी अनार दुःखी है। उसकी वेदना प्रपात पर भी परिलक्षित होती है जो उसके विरह मे व्याकुल होकर तड़प तड़प कर पर्वत से गिर रहा है।

सिद्धार्थ में सिद्धार्थ के गृहत्याग में प्रकृति भी विलाप करती हुई दृष्टि-गोचर होती है—

"हिल उठीं बहु वल्लरियाँ यथा,
कप उठीं सह विज्जु प्रहार ही।
जलज पल्लव भी जल बूँद के,
मिष हुए बहु रोदन लीन थे॥"

प्रथम पंक्ति में यह विज्जु प्रहार कहाँ से हुआ और जल बूँद कहाँ से आये ? कल्पना में औचित्य नहीं।

वैदेही-बनवास—

"कल कल निनाद केलि रता गोदावरी,
बनती रहती थी जो मुग्धकारी बड़ी।
दिखलाती थी उस वियोग विधुरा समां,
बहा बहा आँसू जो भू पर हो पड़ी॥"

सामान्य है। कोई विशेषता नहीं।

दैत्यवंश महाकाव्य—

"वह नर्मदा दूबरी पीरी परी,
बलिराज के यों बिरहानल नायकै।
हरियारी मिटी तरु वृन्दन की,
न प्रसून खिलै खरो सोग बनायकै।
सुक सारी बुलाए न बोले कहूँ,
पुन के जन कोऊ मिलै नहिं धायकै।
करुना रस की मनौं सैन सबै,
नगरी में विनास कियों इतै आयकै॥"

बलि की व्यथा में सारा समाज व्याकुल है। प्रकृति की दशा में कोई परिवर्तन नहीं है किन्तु कवि ने अपने कौशल से उसे चित्रित कर दिया कि एक सम्वेदनात्मक चित्र उपस्थित हो गया। अच्छा चित्रण है।

साकेत-सन्त—

"हजारों दृग तारे निज खोज,
रो रहा था अकाश अडोल।
हृदय में ले अपनी ही दाह,
व्यथित थी स्वतः अनिल की आह॥"

यह क्यों ? कोई समाधान प्रस्तुत नहीं किया—

विक्रमादित्य—

"सम्वेदना दृष्टि जो डाली,
ठमक गया वह भानु कपाली।
उसने सब ज्वाला लौटा ली,
हिला डुला मेघों की डाली।
गगन सब बरसा आँसू बन॥"

कृष्णायन—

> "प्राची दिशा भई कछु लाली,
> हतेउ तमस गज रवि बलशाली।
> अरुण नखत करि कुंभ विदारा,
> यही क्षितिज जनु शोणित धारा॥
> खिलेउ कमल, फूलेउ अलिहु डोली शीतल वात।
> मरण सन्नहिं पै कबहुँ भयेउ कि मधुर प्रभात॥"

प्रकृति मानवजीवन के साथ सदैव से सम्वेदना प्रकट करती आई है। अथवा यों कहना चाहिये कि मानव ने सदैव प्रकृति में अपनी वासनाओं का आश्रय पाया है। प्रियप्रवास, कामायनी, नूरजहाँ, दैत्यवंश और साकेत में सम्वेदनात्मक स्वरूप सुन्दर मिलता है किन्तु कामायनी मे प्रकृति का ऐसा वर्णन ही कथानक की पृष्ठभूमि बनता रहा। प्रत्येक घटना का आधार प्रकृति ही है। अतएव मेरा विचार है कि प्रकृति का सम्वेदनात्मक स्वरूप कामायनी में सबसे अधिक उपयुक्त हुआ है। साकेत में प्रकृतिवर्णन अधिक कल्पनाप्रधान है और कल्पना की अधिकता ही सम्वेदना को मन्द कर दती है।

(ग) प्रकृति का मानवीकरण—

प्रियप्रवास—

> "प्यारे प्यारे कुसुम कुल से शोभ माना अनूठी,
> काली काली हरित रुचि की पत्तियों से सजीली।
> फैली सारी बन अवनि में वायु से डोलती थी,
> नाना लीला निलय सरसा लोभनीया लतायें॥"

इस छन्द में गोपियों की भावनाओं का आरोप प्रकृति पर किया गया है।

साकेत—

> "अरी सुरभि जा लौट जा अपने अंग सहेज।
> तू है फूलों में पली यह काँटों की सेज॥"

इस पद में सुरभि को मानव की तरह उपदेश दिया जा रहा है कि तू लौट जा। यह कंटकाकीर्ण पथ है। तू सुमनों द्वारा लालित है, इस वियोगिनी के पास तेरा निर्वाह कहाँ।

कामायनी—

> "नेत्र निमीलन करती मानों,
> प्रकृति प्रबुद्ध लगी होने।

जलधि लहरियों की अंगड़ाई,
बार बार जाती सोने ॥
सिन्धु सेज पर धरा वधू,
अब तनिक संकुचित बैठी सी।
प्रलय निशा की हलचल स्मृति में,
मान किये सी ऐंठी सी ॥"

यहाँ पर कवि ने प्रकृति के जगने और समुद्र की लहरों का अंगड़ाई लेने तथा सोने जाने का मानवीकरण किया है। धरा नव-वधु की तरह प्रलय की हलचल के कारण संकुचित एवं मान किये रूठी बैठी है। यह मानवीकरण की कल्पना सार्थक है, साथ ही उत्तम भी।

नूरजहाँ—

"गहन विपिन में भूली भूली,
आई इस सरिता के तीर।
सहस करों से खींच रहा है,
दिन नायक जिसका वर चीर।
वे पानी होने के भय से,
कृष्ण कृष्ण चिल्लाती हैं।
मीन व्याज तड़पी जाती है,
लहर व्याज बल खाती है।
अचल बने गिरि निरख रहे हैं,
पत्थर की कर के छाती।
पानी खो पानी पानी हो,
तरुणी है रोती जाती ॥"

इस पद में द्रौपदी-चीर-हरण की कल्पना का सुन्दर प्रयोग हुआ है। पर्वत अचल होते हुए भी नदी की दुर्दशा हृदय पत्थर किये हुए देख रहे हैं।

वैदेही-वनवास—

"थी सब ओर शान्ति दिखलाती,
नियति नटी नर्तन रत थी।
फूली फिरती थी प्रफुल्लता,
उत्सुकता अति तरंगित थी ॥"

इस काव्य में इसका प्रयोग बहुत ही कम हुआ है। अन्य काव्यों में हुआ ही नहीं।

मानवीकरण शुद्ध भारतीय वस्तु नही है। इस पर पश्चिम का प्रभाव अधिक है। ऐसा नहीं है कि प्रकृति में मानवीकरण का अभाव रहा हो परन्तु मानवीकरण के द्वारा छायाचित्रों की प्रस्तुति आज की प्रवृत्ति है और इस प्रवृत्ति मे भी सबसे अधिक सफलता कामायनी को प्राप्त हुई है। रात्रि का वर्णन—

"विश्व कमल की मधु मधुकरी से लेकर।"

❀ ❀ ❀

"पगली हाँ संभाल ले तेरा छूट पड़ा कैसे अंचल।
देख बिखरती है मणिराजी, अरी उठावे चंचल॥"

यहाँ शुद्ध मानवीकरण की सुन्दर कल्पना है। ऐसे चित्र अन्य काव्यों में बहुत थोड़े है।

इस प्रकार प्रकृति का विभिन्न रूपों मे चित्रण करने में कामायनी की सफलता असन्दिग्ध है। यद्यपि यह ठीक है कि साकेत जैसा कलापूर्ण चित्र अन्य काव्यों में नही है परन्तु तीव्र मनोराग उत्पन्न करने की शक्ति कामायनी में ही है।

तुलनात्मक रस-निरूपण

रस-निरूपण में हम केवल श्रृंगार का उदाहरण प्रस्तुत करके देखेंगे कि किस महाकाव्य में सुन्दर रस-परिपाक हुआ है।

विप्रलम्भ श्रृङ्गार—

प्रियप्रवास—

"सूखी जाती मलिन लतिका जो धरा में पड़ी हो,
तो पावों के निकट उसको श्याम के ला गिराना।
यों सीधे से प्रकट करना प्रीति से वंचिता हो,
मेरा होना अति मलीन और सूखते नित्य जाना॥"

पवनदूती द्वारा कृष्ण के पास विरह-सन्देश राधा की विरह-दशा को व्यजित करता है। इसमें 'सूखी जाती मलिन लतिका' द्वारा उसकी कृशता की व्यंजना कराई गई है। यद्यपि वह अपरोक्ष है फिर भी वह प्रभाव उत्पन्न करती है जो हमें रस का आस्वादन कराती है। ऐसे चित्रों से विरह अधिक व्यापक और गम्भीर बन जाता है। यह उत्तम कला है।

रामचरितचिन्तामणि—

"जनक नृप - सुता भी हो गई राम जाया,
फिर तृण गृह में आ दुःख कैसा उठाया।
मम विरह आज उसी ने आज कैसे सहा है ?
मम विमल गुणों की जाल वाली कहाँ है ?"

यद्यपि यह विरहवर्णन है किन्तु हमारे हृदयपटल पर वह सम्वेदनात्मक छाप नहीं छोड़ता जिसके द्वारा हमारे हृदय में रस का परिपाक हो सके।

साकेत—

"बीच बीच में उन्हें देख लूँ मैं झुरमुट की ओट,
जब वे निकल जायें तब लेटूँ उसी धूल में लोट।
रहें रत वे निज साधन में॥"

उर्मिला चाहती है कि घर-बार छोड़कर उसी वन में रहे जहाँ उसका पति लक्ष्मण रह रहा है किन्तु वह उनके तप में बाधा नहीं डालना चाहती। वह उन्हें झुरमुट से छिपे हुए देखना नही चाहती है और वहाँ से उनके चले जाने पर उसी स्थान पर धूल में खूब लोट-पोट होना चाहती है। इस प्रकार का मिलन कैसा अपूर्व होगा। प्रियप्रवास में इससे उत्तम कल्पना है। राधा चाहती है—

"विधि बस यदि तेरी धार में आ गिरूं मैं,
मम तन व्रज की ही मेदनी में मिलाना।
उस पर अनुकूला हो बड़ी मञ्जुता से,
कल कुसुम अनूठी श्यामता के उगाना॥"

कामायनी—

'जीवन में सुख या कि दुख मन्दाकिनि कुछ बोलोगी ?
नभ में नखत अधिक सागर में या बुद्‌बुद हैं गिन दोगी ?
प्रतिबिम्बित है तारा तुममें सिन्धु मलिन को जाती हो ?
या दोनों प्रतिबिम्ब एक के, इस रहस्य को खोलोगी ?"

विरह की ज्वाला मे चेतन-अचेतन का ध्यान नहीं रहता है। श्रद्धा का प्रश्न कितना स्वाभाविक है। इस प्रकार के प्रश्न सदैव दु.खी हृदय ही किया करते हैं। रामचन्द्र ने भी इसी प्रकार के प्रश्न खग-मृग से किये थे। आज श्रद्धा को कोयल का गान व्यथित करता है। इसलिए वह कहती है कि ऐ कोयल ! जो तुझे अच्छा लगे कह ले और फिर उन आलिंगनपाश का स्मरण करती है जिन्हें वह अटूट समझती थी जो आज व्यर्थ सिद्ध हो गये हैं। इस-

लिए वह मन को समझाती है कि प्रेम में विनिमय उचित नहीं जो जितना चाहे दे, दे, लेने का नाम न ले।

नूरजहाँ—इसमे पवनदूत का आयोजन किया गया है और उसके द्वारा प्रेमसन्देश भेजा गया है।

> "फूल खिलाना फिर बसन्त की मदिरा पिला पिलाकर,
> जगा जगा कर पूर्ण प्रणय वह माला हिला हिलाकर।
> मेरी याद दिलाना मुझको फिर करुणा उपजाकर,
> मेरी दुख कहानी उसको विधिवत सुना सुनाकर।।"

यद्यपि यह अनुकरणमात्र है। इस मलयानिल में करुणा उत्पन्न करने की सामर्थ्य किस प्रकार हो गई। भले ही मेहर को बसन्त की मदिरा पिला-कर विषयासक्त बना दे। हृदयगत भावों को स्पर्श करने की क्षमता नहीं है।

सिद्धार्थ—

> "मेरे प्यारे विहंग सुन ले मैं बताती तुझे हूँ,
> बैठे होंगे जिस विजन में प्राण प्यारे हमारे।
> पक्षी तू है समझ उनके रूप को रंग को ले,
> चिन्हों द्वारा परिचय बिना ज्ञान होता है।।"

फिर परिचय दिया है कि—

> "जैसे होती शरद ऋतु की उज्ज्वल मेघ माला,
> प्यारे का भी विमल तन है स्वच्छतायुक्त वैसा।
> दोनों कन्धे वृषभ सम हैं वक्ष है वज्र सा है,
> राजाओं का वदन रहता युक्त वर्चस्विता से।।"

मेघदूत की शब्दावली तक का अनुकरण जान पड़ता है। इसके अतिरिक्त रस-परिपाक करने वाली कोई सामग्री नहीं है।

वैदेही-बनवास—

> "दिखा दिखा कर श्याम घटा की प्रिय छटा,
> देखो सुमनों से कहती यह महिसुता।
> ऐसे हीं श्यामावदात कमनीय तन,
> प्यारे पुत्रो तुम लोगों के हैं पिता।।"

वैदेही-बनवास में विप्रलम्भ शृंगार संयत रूप से एक दो ही स्थलों पर मिलता है। यहाँ इस पद में जब अपने पुत्रों के पिता को बादलों के समान

श्याम द्युति वाला बतलाती है तो उसमें रति-भावना प्रकट होती है। विप्रलम्भ श्रृंगार नहीं है।

दैत्यवंश—

"परयंक पै लोटे बिहाल ऊषा,
मुसकाय गई मानो फूल छरी।
घनसार उसीर को लेप कियो सित,
कुँकुम लौं सो परो बिखरी।
बिजना करतै रही सीसहि लाई,
गुलाब की नाइ दई सिगरी।
बनि धूम उड़्यो सोइ फूट्यो हरा
बिरहानल मैं इमि जात जरी।"

स्वप्नावस्था में ऊषा ने अनिरुद्ध को अपने साथ पाया। आँख खुलने पर उसकी दशा विरहाग्नि में जलने वाली कामिनियों की सी हो गई। यह वियोग श्रृंगार की स्वप्नावस्था है जिसमें बेहोश होना, मुरझाना आदि संचारीभाव हैं। अनिरुद्ध आलम्बन और रति स्थायीभाव है। इस पद में रीतिकालीन परम्परा को अपनाया गया है।

साकेत-संत में विप्रलम्भ श्रृंगार नहीं है।

विक्रमादित्य—

"दौड़ी चली राह में कुछ डग डगमग मग में पग रखती।
प्रिय का कुछ भी पता नहीं था उठती धूल रही रखती।
फिर मन मार हार फिर आई,
प्रिय की दृग में झाँकी ला।
टूक टूक हो रहा हृदय है,
निष्ठुरता की टाँकी सा॥"

इसे हम भयवश मिलन का अभाव कहेंगे क्योंकि भाई की पत्नी को स्वीकार करने में लोक-लज्जा का भय है। इसलिये चन्द्रगुप्त उसे छोड़ गया, इस कारण ध्रुवस्वामिनी की यह दशा हो गई।

कृष्णायन—

"राधा ! राधा ! कहि बिलखानी।
त्यागेउ रथ श्री पति अकुलानी॥
सानुराग भरि हृदय निहारा।
नयनन उमहि बही जल धारा॥

सुधासिक्त राधा अंग धारे।
जागी वदन ज्योति नव धारे॥'

अत्यन्त सुन्दर कल्पना है।

वस्तुतः रस का विवेचन इन छोटे छोटे उद्धरणों द्वारा नहीं किया जा सकता। सम्पूर्ण ग्रन्थ का प्रतिपाद्य रस निश्चित किए बिना रस-परिपाक की दृष्टि से किसी महाकाव्य का मूल्य निर्धारित नहीं किया जा सकता। अतएव हम पहले इसी दृष्टि से विचार करेंगे। कामायनी, कृष्णायन, सिद्धार्थ, वैदेही-बनवास और साकेत-सन्त में प्रधान प्रतिपाद्य रस शान्त है। नूरजहाँ, विक्रमादित्य, साकेत, प्रियप्रवास शृंगाररस प्रधान है। अब हम इस दृष्टि से रस-परीक्षा करेंगे।

कृष्णायन—

भगवान् कृष्ण के व्यापक जीवन में एक उद्देश्य दिखलाई देता है, अनाचार का विनाश और आर्यसंस्कृति की स्थापना। इस आर्यसंस्कृति की स्थापना का उद्देश्य शान्ति स्थापित करना और सन्तुलन स्थिर करना है जिससे जनता निरापद रूप में अपना कर्त्तव्य पालन कर सके। अतएव वीर रस प्रधान अंग के रूप में साथ साथ चलता है। उचित भी है कि शान्तिस्थापना के बिना अध्यात्मचिन्तन का अवसर नहीं है और इसके अभाव में शान्त रस का परिपाक नहीं रह सकता। तात्कालीन विशृंखल स्थिति में भगवान् बुद्ध का सत्य और अहिंसा सिद्धान्त उपयोगी नहीं हो सकता था। अतएव वीर रस का सहयोग आवश्यक था। भगवान् कृष्ण का वीरोत्साह बाल्यकाल से ही उसी ओर प्रवृत्त होता हुआ दिखाई देता है। इसी प्रकार अन्य रस भी संगी अंग के रूप में सहकारी होते हैं।

कामायनी का प्रतिपाद्य भी शान्त रस ही है। परन्तु उसका उदय अन्त में होता है। आधुनिक कहानीकला के अनुसार यह बात भले अच्छी समझी जाये परन्तु भारतीय शास्त्रकार इसे बहुत अच्छा नहीं समझते। यदि हम यह मान लें कि प्रलय के उपरान्त मनु को मन की स्थिति में छिपा हुआ निर्वेद उस शान्त रस का बीज था जो अन्त में प्रकट हुआ, तब किसी प्रकार पूर्व और पश्चिम का समन्वय कर सकते हैं, परन्तु घटनाचक्र के क्रमिक विकास में यह निर्वेद इतना आच्छन्न हो जाता है कि यह समझना कठिन हो जाता है कि महाकाव्य का प्रतिपाद्य शान्त रस है। अतएव एकवाक्यता, जो महाकाव्य का प्रधान लक्षण है, कामायनी में शेष नहीं दिखलाई देती।

सिद्धार्थ में एकवाक्यता मिलती है। भगवान् बुद्ध की मनोवृत्ति शान्त थी। उसे चंचल करने के उपाय प्रारम्भ से अन्त तक होते रहे है परन्तु वह गम्भीर समुद्र इव झंझावर्तों से चंचल न हो सका। इस एकवाक्यता के होते हुए भी जीवन की कर्मठता का अभाव सिद्धार्थ को उस पद पर आसीन नही होने देता जहाँ कामायनी, कृष्णायन और साकेत की प्रतिष्ठा है।

वैदेही-बनवास का प्रतिपाद्य भी शान्त रस होना चाहिए था। परन्तु यह शान्त रस उद्देश्य-विशेष के कारण परिपक्व होकर प्रभावशाली नहीं हो सका। पहिली बात तो यह है कि वैदेही-बनवास की भाषा ही इतनी शिथिल है कि वह पूज्य अयोध्यासिंह जी के उपयुक्त नही है। उसमें रस-परिपाक करने की शक्ति अत्यन्त क्षीण है, दूसरे नारी-जीवन का मूल्यांकन ही इस महाकाव्य का लक्ष्य बन गया है जो रस के परिपाक में बाधा डालता है।

साकेत-सन्त में भी एकवाक्यता के दर्शन होते हैं। भरत की मनोवृत्ति शान्त थी। उनकी सत्वृत्ति को विचलित करने के लिए उसके मामा के प्रयत्न से लेकर चार्वाकपन्थी जाबालि आदि के प्रयत्न उसे पथभ्रष्ट न कर सके किन्तु जीवन के एकांगी होने के कारण इस काव्य को अन्य काव्यों के समान पद न प्राप्त हो सका।

नूरजहाँ—सम्भोग-श्रृंगार-प्रधान महाकाव्य है और श्रृंगार भी तुच्छ वैषयिक श्रृंगार है जिसका उद्देश्य व्यक्तिगत है। न इससे मानव-जीवन को प्रेरणा मिलती है, न कोई सुन्दर सन्देश। जो कुछ हम संचित करते है वह केवल इतना ही कि किसी रमणी का रूप उसे कहाँ तक ऊँचा उठा सकता है। मेहर में जहाँगीर के प्रति प्रेम है। वह प्रेमवंचिता हो गई है परन्तु दुःख है कि आदर्श नारी की भाँति भी वह अपने जीवन का कोई महत्त्व उपस्थित न कर सकी। नाटककार द्विजेन्द्रलाल राय ने कम से कम इस रूपसी के नारीधर्म का कुछ चित्रण तो किया ही है—नूरजहाँ में उसका भी अभाव है। हमारी दृष्टि में यह महाकाव्य केवल मनोरंजन की सामग्री है।

विक्रमादित्य—इसका भी प्रतिपाद्य रस श्रृंगार रस है। वीर रस इसका अंग है और उचित सहायक होकर उपस्थित हुआ है। इतना होते हुए भी स्थायीभाव की वह तीक्ष्णता, जो सहज सम्बन्ध में सम्भव थी, जुगुप्सा के अन्तराय के कारण सम्भव न हो सकी।

साकेत—विप्रलम्भ-प्रधान-श्रृंगार काव्य है जिसका आदि और अन्त दोनों सम्भोग-प्रधान श्रृंगार है। अतएव हमें विवश होकर मानना पड़ता है

कि यह सम्भोग-प्रधान महाकाव्य है । घटनावली इस श्रृंगार में अपरोक्ष रूप में उपस्थित होती है । अतः यदि कोई अन्य रस है भी, तो अंग न होकर केवल संचारी है । हनुमान को देखकर अयोध्यापुरी मे हलचल मच जाना वीर रस का भावोदय मात्र है जो परिपाक को न पहुँचकर शान्त हो जाता है । उर्मिला का वियोग-श्रृंगार कवि-कल्पना-प्रसूत है। उसका ऐतिहासिक आधार नही है । कल्पनाओं की ऊँची उड़ान के कारण संस्कृत महाकाव्यों की शैली का स्मरण हो आता है । रस-भावना दब जाती है। निश्चय ही साकेत की एकवाक्यता में ये कल्पनायें व्यवधान उपस्थित करती है । साकेत का नवम सर्ग वियोग-श्रृंगार का चित्र उपस्थित करने के लिए लिखा गया है परन्तु इस धारा में इतने अवरोध हैं कि भावप्रवाह पद पद पर टूट जाता है, इसलिए रस-निष्पत्ति नहीं हो पाती । उन्माद और प्रलाप तो बिल्कुल बनावट जान पड़ते हैं और विरह की अन्तिम दशा होते हुए भी रस उत्पन्न नहीं करते । फिर भी विप्रलम्भ श्रृंगार के लिए साकेत का अपना विशेष स्थान है ।

महाकाव्य की एकवाक्यता का निर्वाह प्रियप्रवास में हुआ है । कवि ने 'दिवस का अवसान समीप था' कहते हुए भी मानों विप्रलम्भ श्रृंगार का बीजारोपण कर दिया है । यह विप्रलम्भ प्रारम्भ से अन्त तक स्वाभाविक गति से चलता रहा है । अविच्छिन्न रसधारा में कोई व्याघात नही है, कहीं विराम नही है और बहुधा अपने समस्त संचारियों के साथ उपस्थित मिलती है । विप्रलम्भ श्रृंगार की दृष्टि से प्रियप्रवास सचमुच सर्वोत्तम महाकाव्य है । केवल कमी यदि कुछ है तो जीवन के विविध रूपों के चित्रण की कमी है ।

तुलनात्मक महाकाव्यों के सन्देश

प्रियप्रवास—

"रोगी दुःखी विपद आपद में पड़ों की,
सेवा सदैव करते निज हस्त से थे ।
ऐसा निकेत ब्रज में न मुझे दिखाया,
कोई जहाँ दुखित हो पर वे न होवें ।।"

"जी से प्यारा जग हित और लोक सेवा जिसे है ।
प्यारा सच्चा अवनि तल में आत्मत्यागी वही है ।।"

"समाज उत्पीड़क धर्म विप्लवी,
स्वजाति का शत्रु दुरन्त पातकी ।

मनुष्य द्रोही भव प्राणि पुञ्ज का ,
न है क्षमा योग्य वरंच वध्या है ।"
"वे जी से हैं अवनितल के प्राणियों के हितैषी ।
प्राणों से है अधिक उनको विश्व का प्रेम प्यारा ॥"

समाज में न कोई दुःखी रहे और न पीड़ित, इसके लिए जनसेवा ही सर्वोत्तम है। समाजहित के लिए समाज-उत्पीड़िकों का वध करना पाप नही वरन् पुनीत कर्म है। विश्वप्रेम प्राणों से भी बढ़कर है। प्रियप्रवास का सन्देश स्वार्थत्याग का है, ज्ञान और योग का नहीं।

रामचरितचिन्तामणि—

"गौ-ब्राह्मण के हेतु देश रक्षा के कारण ,
धर्मोचित है राम, नारियों का भी मारण ।
वीर प्रसू वीरांगनायें हों यहाँ विद्या पढ़ें ,
रण के समर पर वे चढ़ें साहस सहित आगे बढ़ें ॥
व्यापार भी सबका चले हो उर्वरा भारत मही ।
..........................तरुवर सभी फूलें फलें ॥"

देश-कल्याण की भावना एवं उसकी रक्षा-निमित्त स्त्रियों का वध न्याय-संगत बताया गया है जो हमारी समझ में उचित नहीं कहा जा सकता !

साकेत—

(अ) राज्य राम का भोग नहीं है।
(ब) अमर वृन्द नीचे आवें—मानव चरित देख जावें।
(स) प्रजा के अर्थ है साम्राज्य सारा।
(द) आर्यों का आदर्श बताने आया।

सारा उपक्रम प्रजा के हित के लिए है। उन्हें आदर्श पर चलने के लिए प्रेरित करना, गिरे हुओं को उठाना एवं नारी जाति का समानाधिकार दिलाना साकेत का सन्देश है।

कामायनी—

(अ) "विधाता की कल्याणी सृष्टि सफल हो इस भूतल पर पूर्ण।
पटें सागर बिखरें ग्रह पुञ्ज और ज्वालामुखियाँ हों चूर्ण ॥"
(ब) "आज से मानवता की कीर्ति ,
अनिल भू जल में रहे न बन्द ।
विजयिनी मानवता हो जाय ।"

(स) "पर जो निरीह जी कर भी,
कुछ उपकारी होने में समर्थ।
वे क्यों न जियें उपयोगी बन,
इसका मैं समझ सकी न अर्थ॥"

(द) "जीने दो सबको फिर,
तू भी सुख से जी ले।"

(य) "सब की सम रसता का प्रचार,
मेरे सुत सुन माँ की पुकार॥"

(र) "प्रिय अब तक हो इतने सशंक,
देकर कुछ कोई नहीं रंक।"

(ल) "देखा कि यहाँ पर कोई भी नहीं पराया॥"

(व) "मानव कह रे! यह मैं हूँ यह विश्व नीड़ बन जाता॥"

मानवता की कीर्ति सब स्थलों पर अबाध गति से फैले। कोई भी जो उपकारी है क्यों न जिये? सबमें समरस हो। सबमें दान देने की भावना हो, क्योंकि इससे कोई एक नहीं बनता। सब एक कुटुम्ब के हैं। कोई भी शाप या पापग्रस्त नहीं है क्योंकि जो जहाँ पर है वह समरस है इस प्रकार की धारणा से विश्वनीड़ बन जाता है। यही इसका सन्देश है।

"न रक्त में वर्ण विभेद है सखे,
न अश्रु होते बहु जाति पाँति के।
समस्त भू-मण्डल में विलोक तू,
समान-सू मानव जाति एक है॥"

सिद्धार्थ—

"महा अहिंसा भय सत्य धर्म का,
सुपाठ सारे जग को पढ़ा दिया॥"

अहिंसा, भय, सत्य, धर्म का सुपाठ सारे जग को पढ़ा दिया, इसका प्रतिपादन इस काव्य का सन्देश है, जिसमें छोटे, बड़े, स्त्री, पुरुष, पशु-पक्षी सबको समान गति से जीने का अधिकार है।

• नूरजहाँ—

(अ) "मेहर ब्याह जहाँ हो,
इक मुआहिदा जिसे छोड़ सकते हैं सब।
कर विच्छेद धर्म बन्धन यह,
जहाँ तोड़ सकते हैं सब।

मेरा धर्म ब्याह बन्धन को,
नाता अमर बनाता है।''

(ब) ''जन्म जन्म में भी तो,
नाता नहीं टूटने पाता है।
औ निष्काम भक्ति से,
सेवा करना सिखलाता है॥''

(स) ''हिन्दू-मुसलिम दोनों हैं,
राजा के लिए बराबर।
सद्भाव चाहिये रखना,
राजा को सब लोगों पर॥''

सामयिक काव्य है जिसमें हिन्दू-मुसलिम, विवाह-निकाह आदि का विवेचन है।

वैदेही-बनवास—

(अ) ''सामनीति अवलम्बनीय है अब मुझे,
त्याग करूँ तब बड़े से बड़ा क्यों न मैं॥''

(ब) ''सुख वासना, स्वार्थ की चिन्ता दोनों से मुँह मोड़ूँगी।
लोकाराधन या प्रभु आराधन निमित्त सब छोड़ूँगी॥''

(स) ''पशु पक्षी क्या कीटों का भी प्रति दिवस,
जनक नन्दिनी कर से होता था भला॥''

प्राणीमात्र का हितचिन्तन, साम्य भावना तथा लोकाराधन इस काव्य का सुन्दर आदेश है जो जाति और मानव के लिए हितकारी है।

दैत्यवंश—

''जन रञ्जन हित लियो नरपति सिंहासन।
प्रजा सुख के लिए राजा स्वयं प्रयत्न शील था॥''

विक्रमादित्य—

(अ) ''प्राणदण्ड की प्रथा नहीं है अर्थ दण्ड है केवल।
सब स्वधर्म पालन करते हैं सन्मार्गों ही पर चल॥''

(ब) ''धर्म, अधर्म उचित अनुचित यह सब माया है धोखा है।
जिसकी स्वार्थ बृद्धि हो जिससे वही मार्ग बस चोखा है॥''

प्रेम-प्रणय केवल वासनापूर्ति का साधन एवं उसकी प्राप्ति की ओट मे भारत को स्वतन्त्र बनाने का ढोंग।

साकेत-संत—

(अ) "पुरुष है भाग्य विधाता आप ,
अलस ही पाता है अभिशाप ।
विज्ञ है कर्म पन्थ आरूढ़ ।
दैव के बल पर रहते मूढ़ ॥"

(ब) "मनुजता की रक्षा के हेतु निछावर कर दे अपने प्राण ।"

(स) "जनार्दन को जनता में लखो यही है सब धर्मों का सार ।"

इसमें विश्व-बन्धुत्व का भाव झलकता है ।

कृष्णायन—

(अ) "नेह जहाँ जब धर्महिं बाधत ।
तुम तजि नेह धर्म आराधत ॥"

(ब) "जे समाज त्रासक उद्दण्डा ।
देहु तिनहिं न्यायोचित दण्डा ॥"

(स) "काम क्रोध मत्सर तजहु लोभ मोह मद मान ।
मनसा वाचा कर्मणा करहु लोक कल्याण ॥"

इस काव्य में मानवोचित आदर्श, समाजकल्याण के लिए नियम, राजनीति, धर्मनीति और शास्त्रनीति सबका सुन्दर विश्लेषण किया गया है । गीता का सुन्दर उपदेश मानवकल्याण के लिए इसमें उपस्थित है ।

हमने ऊपर जो उद्धरण दिये हैं उनमें यह देखने की चेष्टा की गई है कि मानवसमाज का आदर्श प्रत्येक कवि के लक्ष्य में रहा है । सिद्धान्ततः सभी इस बात पर सहमत हैं कि समस्त मानवता में समरसता की भावना बनी रहे । लोकोपकार, परस्पर सहयोग, दुष्टों का दमन और शान्ति का समाधान सबका प्रतिपाद्य विषय है परन्तु किसी मुख से कोई उद्देश्य कहला देना और बात है और काव्य में नहीं होते दिखा देना यह दूसरी बात है । नीचे हम इस दृष्टि-कोण से प्रत्येक महाकाव्य पर विचार करेंगे ।

प्रियप्रवास में भगवान् कृष्ण गोपियों को छोड़कर चले गये, केवल इतनी घटना है जो महाकाव्य को विषय है । आगे चलकर हम राधा को लोकसेवा में लगी हुई सुनते हैं, कोई ऐसी प्रसिद्ध घटना हमारे सम्मुख नहीं आती जो उसकी लोकसेवा की परिचायिका हो । केवल समाज का एक आदर्शमात्र राधा के मुख से कहला दिया है । इस प्रकार का आदर्श नन्द-यशोदा के मुख से भी कहलाया जा सकता था ।

रामचरितचिन्तामणि के कथानक में रामचरित्र होने के कारण विभिन्न परिस्थितियाँ स्वभावतः उत्पन्न हो गईं । अतएव लेखक को अपना सन्देश कहने

के लिए पर्याप्त अवसर था। कवि वर्णव्यवस्था के स्थापन के लिए प्रयत्नशील दिखलाई देता है। मान सकते है कि वर्णव्यवस्था संसार का आदर्श है परन्तु आज की परिस्थितियाँ केवल इसी आदर्श को सामने रखकर आगे नहीं बढ़ सकतीं। इस प्रकार रामचरितचिन्तामणि हमें कोई नवीन सन्देश नहीं देता है।

साकेत का मुख्य उद्देश्य सन्देश देना नहीं, उसका मुख्य उद्देश्य उर्मिला को केन्द्र में रखते हुए रामकथा कहना है। प्रसंगवश राम का चरित्र सामने आता है, अतएव रामचरित्र अपना स्थिर प्रभाव छोड़ने में असमर्थ है। कथानक की यह शिथिलता उसके सन्देश को भी शिथिल कर देती है और स्थायी प्रभाव होने नहीं देती।

कामायनी की घटनावली में दो उत्थान और दो पतन हैं। न हम उत्थान काल में मनु या श्रद्धा को लोक-सेवा-परायण देखते है अथवा लोक-मर्यादा के व्यवस्थापक के रूप में पाते है और न पतन में। हम मनु, श्रद्धा और इड़ा के चरित्रों पर लक्ष्य रखते हुए कवि का विजयिनी मानवता हो जाये का सन्देश अलग से जोड़ा हुआ जान पड़ता है। उद्देश्य के साथ ही चरित्र की समरसता का अभाव कामायनी के इस उद्देश्य को भी काल्पनिक बना देता है।

सिद्धार्थ का उद्देश्य निश्चय ही मानवता का विकास है। बुद्ध का इतिहास-प्रसिद्ध चरित्र मानवता के लिए था। इसलिये उसकी प्रतिध्वनि सिद्धार्थ में उपस्थित है।

नूरजहाँ और विक्रमादित्य में क्षुद्र विषय सुख-सम्पादन की चेष्टा की। विक्रमादित्य के कवि ने उसके साथ राष्ट्रीयता का योग अवश्य कर दिया है। विक्रमादित्य का चरित्र जनधारणाओं के आधार पर राष्ट्र-उन्नायक के रूप में स्वीकृत है। यह काव्य भी उसका पूर्वाभास देकर समाप्त हो जाता है। उचित तो यह था कि उस उद्देश्य की पूर्ति के लिए भी विक्रमादित्य के चरित्र को कुछ और बढ़ाया जाता। कवि ने प्रसाद की ध्रुवस्वामिनी नाटक की घटना को देखकर यह भूल की है कि नाट्य की कालदृष्टि और महाकाव्य की कालदृष्टि में महान् अन्तर होता है। इसलिये वह अपने उद्देश्य को पूर्णतया व्यक्त न कर सका।

वैदेही-बनवास इसी प्रकार कालदृष्टि में संकुचित है। भगवान् राम ने सीता का परित्याग किया। यह परित्याग रामचरित्र का एक ऐसा लाँछन है जिसके परिमार्जन के लिये प्रयत्नशीलता वैदेही-बनवास में दिखलाई

देतीं है क्योंकि जनहित के लिये त्याग की भावना इतनी प्राचीन है कि उससे कोई नवीन् सन्देश प्राप्त नहीं होता। इतना अवश्य है कि इसमे सीता का चरित्र राम के चरित्र का सहयोगी है और इस प्रकार मानवकल्याण की भावना में लगे हुए राम और सीता कवि का उद्देश्य पूर्ण करने में सफल रहे।

दैत्यवंश में शरीर और बुद्धि इन दोनों के प्रतीकस्थापन का एक नवीनता का भाव अवश्य उत्पन्न होता है। यह ठीक है कि दैत्य शरीर को ही सब कुछ समझते थे क्योकि उपनिषदों में एक आख्यान आया है जिसमे प्रजापति के पास दैत्य यह प्रश्न लेकर गए कि मै क्या हूँ। प्रजापति ने उन्हें एक सरोवर दिखला दिया। जब वह अपना स्वरूप इसमें से देखकर लौट आए तो प्रजापति ने उनसे पूछा "क्या तुम समझ गये"? दैत्यों ने कहा, हाँ। मै एक स्वस्थ बलवान शरीर हूँ। यह धारणा उपनिषद् की धारणा है, साथ ही इसी आख्यान में देवताओं का वर्णन भी है जिसमें प्रजापति ने देवताओं को आत्म तत्त्व का उपदेश दिया क्योंकि देवता यह निर्णय नही कर सके थे कि शरीर और सरोवर में पड़ने वाले शरीरप्रतिबिम्ब में क्या सम्बन्ध है। इसके आगे कवि की अपनी कल्पनायें है जिनमें दैत्य-देवताओं के चरित्र पर नया रंग चढ़ाने की चेष्टा दिखलाई है। हिरण्याक्ष के वध का मौलिक कारण क्या था, इसकी ओर संकेत नहीं है। प्रह्लाद को सद् वृत्ति सधर्म पालन की स्वतन्त्रता नहीं थी। बलि स्वर्ग का राज्य लेना चाहता था। अमृतमंथन में असुरों को केवल वारुणी क्यों प्राप्त हुई इत्यादि घटनाओं पर दूसरे दृष्टिकोण से विचार किया गया है। सम्भवतः दैत्य चरित्र को निर्मल सिद्ध करने का यत्न प्रत्येक स्थल पर स्पष्ट लक्षित होता है। इस महाकाव्य का उद्देश्य हो सकता था शरीर और बुद्धि का सन्तुलन जिसकी सदैव आवश्यकता रही है और सदा रहेगी। हमें दुःख है कि प्रतीकमित्रता के कारण कवि इस सत्य तक नहीं पहुँच सका।

कृष्णायन कृष्ण के जीवन पर हिन्दी में एक नवीनतम उत्प्रयोग है। कवि की कोई अपनी कल्पना नहीं है। उसने जो कुछ कहा है वह सब का सब कहीं न कहीं कहा जा चुका है। कवि का कौशल इसी में है कि उसने सबको एकत्र कर कृष्णचरित्र की एक शृंखला स्थिर कर दी है। श्रीमद्भागवत् और महाभारत कृष्ण-चरित्र के उपाख्यान हैं परन्तु श्रीमद्भागवत के कृष्ण महाभारत के कृष्ण से सर्वथा भिन्न है। कवि ने कृष्ण के इन दो भिन्न चित्रों में एकरूपता लाने का प्रयत्न किया है। मूलतः कृष्णायन का यही उद्देश्य है।

अब कृष्ण-चरित्र इतना विस्तृत और इतना व्यापक है कि समस्त मानवता को आलिंगन करता हुआ समरसता की ओर ले जाने वाला है, फिर भी कृष्णायन में कृष्ण का चरित्र मानवता की स्थापना करना नहीं है वरन् धर्म-राज्य-स्थापन करना है, मानो कवि राजनीतिक सुधार में मानवता के विकास का बीज देखता है जो कवि के निज जीवन के अनुकूल ही है।

अब उद्देश्य की व्यापकता की दृष्टि से निश्चय ही कृष्णायन सबसे ऊँचे पर स्थिर है। उद्देश्य की एकतानता की दृष्टि से सिद्धार्थ अच्छा है। कामायनी को मनुष्य का विकासक्रम हम मान लें तो श्रद्धा और बुद्धि के द्वारा मनुष्य का जीवन उच्च उठ सकता है। यह उद्देश्य अत्यन्त मनोरम रूप में चित्रित हुआ है।

अन्य काव्यों के सम्बन्ध में ऊपर कहा जा चुका है।

तुलनात्मक कला-पक्ष

(क) रूपवर्णन—

प्रियप्रवास—

"रूपोद्यान-प्रफुल्ल प्राय कलिका राकेन्दु बिम्बानना
तन्वंगी कल हासिनी सुरसिका क्रीड़ा पुत्तली
शोभा वारिधि की अमूल्य मणि सी लावण्य-लीला-मयी
श्री राधा-मृदुभाषिणी मृग-दगी-माधुर्य की मूर्ति थीं॥
फूले कंज समान मंजु दगता थी, मत्तता कारिणी।
सोने सी कमनीय कान्ति तन की थी दृष्टि-उन्मेषिनी।
राधा की मुस्कान की मधुरता थी मुग्धता मूर्ति सी।
काली कुंचित-लम्बमान अलकें थीं मानसोन्मादिनी।"

रामचरितचिन्तामणि—

"रति, रम्भा, भारती, भवानी, उसके तुल्य नहीं है।
शकुनि सुता त्रिभुवन में कोई, हंसी तुल्य कहीं है॥
कोई वस्तु नहीं है त्रिभुवन में उसकी उपमा की।
मैया! वह है खानि गुणों की सरिता है सुषमा की॥"

साकेत—

"अरुण-पट पहने हुए आल्हाद में,
कौन यह बाला खड़ी प्रासाद में?
प्रकट मूर्तिमती उषा ही तो नहीं?
कान्ति की किरणें उजेला कर रहीं।

यह सजीव सुवर्ण की प्रतिमा नई,
आप विधि के हाथ से ढाली गई
कनक-लतिका भी कनक-सी कोमला,
धन्य है उस कल्प-शिल्पी की कला ॥
जान पड़ता नेत्र देख बड़े बड़े,
हीरकों में गोल नीलम हैं जड़े।"

कामायनी—

"हृदय की अनुकृति बाह्य उदार एक लम्बी काया उन्मुक्त,
मधु पवन क्रीडित ज्यों शिशु भाल सुशोभित हो सौरभ संयुक्त।
मसृण गान्धार देश के, नील रोम वाले मेषों के चर्म,
ढक रहे थे उसका वपु कान्त बन रहा था वह कोमल वर्म।
नील परिधान बीच सुकुमार, खुल रहा मृदुल अधखुला अंग,
खिला हो ज्यों बिजली का फूल मेघ बन बीच गुलाबी रंग।
आह! वह मुख! पश्चिम के व्योम, बीच जब घिरते हों घनश्याम,
अरुण रवि मण्डल उनको भेद दिखाई देता हो छविधाम।
या कि, नव इन्द्र नील लघु शृंग फोड़ कर धधक रही हो कांत,
एक लघु ज्वाला मुखी अचेत माधवी रजनी में अश्रांत।
घिर रहे थे घुँघराले बाल अंस अवलम्बित मुख के पास,
नीलघन सावक से सुकुमार सुधा भरने को विधु के पास।
और उस मुख पर वह मुसकान रक्त किसलय पर ले विश्राम,
अरुण की एक किरण अम्लान अधिक अलसाई हो अभिराम।
नित्य यौवन छवि से हो दीप्त विश्व की करुण कामना मूर्ति,
स्पर्श के आकर्षण से पूर्ण प्रकट करती ज्यों जड़ में स्फूर्ति।
उषा की पहिली लेखा कांत माधुरी से • भीगी भर मोद,
मद भरी जैसे उठे सलज्ज भोर की तारक द्युति की गोद।
कुसुम कानन-अंचल में मंद पवन प्रेरित सौरभ साकार,
रचित परमाणु पराग शरीर खड़ा हो ले मधु का आधार।
औ पड़ती हो उस पर शुभ्र नवल मधु राका मन की साध,
हंसी का मद विह्वल प्रतिबिंब मधुरिमा खेल सदृश अबाध।"

नूरजहाँ—

"यह किरण जाल सी उज्ज्वल है मानस की विमल मराली है।
अंग अंग में चपला खेल रही है फिर भी भोली भाली है॥

स्वच्छन्द किरण पर जलद पटल ने नहीं जाल फैलाया है।
धनु रच पावस में नहीं मार ने उस पर तीर चलाया है॥

सुरभित पुष्पों की रज औ लेकर मोती का पानी।
हिम बालाओं के कर से जो गर्म प्रेम से सानी॥
पृथ्वी में चाक चलाकर दिनकर ने मूर्ति बनाई।
छवि फिर वसन्त की लेकर उसमें डाली सुघराई॥

चरखे नक्षत्रों के चलते थे सूत कातते जाते।
जिनको लपेट रवि कर से थे ताना सा फैलाते॥
सुन्दर विहंग आ जाकर जिसमें बुनते थे बाना।
फिर सांध्य जलद भर जाता तितली का रंग सुहाना॥

ऐसे अनुपम पट में थी शोभित वह विश्व निकाई।
जिसकी छवि निरख निरख कर मोहित थी विधि निपुणाई॥"

सिद्धार्थ—

"कमल थे, मृग थे सुनेत्र थे
विहंग थे, शिव थे कि उरोज थे।
मुकुर था विधु था कि मुखाब्ज था
तड़ित थी रति थी कि यशोधरा।

कुसुम जो अलि से न छुआ हुआ
सुभग मौक्तिक जो न बिंधा हुआ,
हृदय जो अब लौं न दिया हुआ,
वह विलोक विमुग्ध कुमार थे।"

वैदेही-बनवास—

"इनमें से थे एक दिवाकर कुल के मण्डन
श्यामगात आजानु-बाहु सरसीरुह-लोचन
थी दूसरी विदेह नन्दिनी लोक ललामा
सुकृति-स्वरूपा सती विपुल मंजुल-गुण-धामा।"

दैत्यवंश—

"कंचन बेलि-सी या नवला दबी जात
मनौ कुच कुम्भ के भारन
त्यौं सुखमा, पट, भूषन दीठि कौ
बोझ अपार बहै केहि कारन

मीन गये छिपि नीर अगाध
दिखावै नहीं मुख लाज के मारे
लो हमैं प्यावत वारुनी आजु
उदै निहचै भये भाग हमारे
जासु कौ आनन की द्युति हेरि ।
कुमोदनी चन्द न द्योस लखाहीं
लाजनि लागि सरोजनि वृन्द,
कबौं निसि माहिं नहीं बिगसाहीं ।
सो रति को मद मोचनी बाम
मिली बड़ भागनि सौं हम काहीं ।
लोचन लाहु लहो सिगरे पै
कछू कहियो बलिराज सौं नाहीं ।।"

कृष्णायन—

"अङ्ग पंकज-किंजल्क सुवासा मलय समीर मनहूँ निःश्वासा ।
देह कान्ति इन्दीवर श्यामा दशनोज्ज्वल मुखेन्दु अभिरामा ।
नयन अधीर मधुर आलोकित नील स्निग्ध अलक अति कुंचित ।
अधर बिम्ब विद्रुम द्युति भासा मंजु कपोल, कण्ठ श्रुति नासा ।
कुंवरि मित्र विन्दा वर वामा नृप प्रिय सुता रूप अभिरामा ।
कनक लता तनु यष्टि सोहायी आनन शरद्-इन्दु छवि छायी ।
नयन विशाल भ्रमत लगि श्रवणन अंजन रज्जु बद्ध जनु खंजन ।
चितवति तरल विलोचन जेही मज्जति सुधा उदधि जनु तेही ।"

साकेत-संत—

"तुम्हारे चरणों को ले चाल चलें अब उस पर बाल मराल ।
तुम्हारे लख ऊरु अभिराम कलम का भूल जायं सब नाम ।
कृशोदरि ! इस त्रिवली का जाल कहां लहरायेगा हिम ताल ।
हृदय की गौरव पूर्ण उमंग देख उत्तुंग शृङ्ग हो दंग ।
लता पल्लव-पुष्पों के साथ निरख कर हाथ मले निज हाथ ।
और मुख ? उसके सम हो कौन सुधाकर इसीलिए है मौन ।
कहीं जो खिली अधर मुसकान पिघल जायेंगे हिम पाषाण ।
उठेगी जिधर दृगों की कोर उधर बरसेगा रस घन घोर ।
तुम्हारा लख कर केश कलाप अचल उर पर लोटेंगे सांप ।
घिरेंगे घन समीप घन दूर नचा कर शत शत मत्त मयूर ।

तुम्हारा सुन कर मधुरालाप कोकिलायें जायेंगी कांप।
तुम्हारी गति का देख विलास लहरियां तजें लास्य उल्लास।
तुम्हारी छटा अचल के पास विलोकूंगा मैं सहित हुलास।"

विक्रमादित्य—

"छवि सागर की अनुपम कमला
वीणा..................तरंगिनि।
उषा की मोहक मुसकान
मधु ऋतु की श्री दृग की पुतली।
सुखद दृश्य की हरियाली
कसक प्रणय की मसक हृदय की।
यौवन किसलय की लाली॥

यह रूपवर्णन तो नहीं कहा जा सकता, यौवन का मनोरम वर्णन भले ही मान लें।

ऊपर हमने कुछ महाकाव्यों में से रूपवर्णन सम्बन्धी कुछ छन्द छाटने की चेष्टा की है। हमारा लक्ष्य यह रहा है कि लगभग समान कल्पनाओं के रूपवर्णन के प्रसंग छाटे जायें। जहाँ ऐसा सम्भव नहीं हो सका वहाँ कम से कम विभिन्न महाकाव्यों में कम से कम दो या अधिक महाकाव्यों में वर्णन-समता की ओर ध्यान दिया है। सिद्धार्थ, दैत्यवंश, साकेत-संत और कृष्णायन में अलंकारयोजना के द्वारा रूपवर्णन करने की चेष्टा की गई है। इसमें सन्देह नहीं कि इन वर्णनों में से भारतीय रूपवर्णन की परम्परा के अनुसार दैत्यवंश का रूपवर्णन अधिक मनोरम है। यद्यपि इस वर्णन में भी कोई कल्पना ऐसी नही है जो नवीन कही जा सके। व्रजभाषा के साथ साथ माधुर्य के कारण यह वर्णन बहुत अच्छा तथा अधिक कलात्मक है। साकेत में रूपवर्णन भारतीय परम्परा से भिन्न है, कोई क्रम नहीं। देवताओं का रूप-वर्णन और सामान्यों का शिख-नख-वर्णन होता है।

श्री उपाध्याय जी में रूपवर्णन की प्रवृत्ति नहीं है। वे रूप की अपेक्षा रूप के प्रभाववर्णन में ही अधिक प्रवृत्त रहे हैं। यह बात प्रियप्रवास और वैदेही-बनवास में एक सी है।

नूरजहाँ के रूपवर्णन की शैली कामायनी से मिलती-जुलती है। "यह किरण जाल सी उज्ज्वल है" और "अरुण रवि मण्डल उनको भेद दिखाई देता हो छविमान" ये भावसाम्य स्पष्ट है। इसी प्रकार "अंग अंग में

चपला खेल रही" के साथ 'खिला हो ज्यों बिजली का फूल' की तुलना की जा सकती है। "स्वच्छन्द किरण पर जलद पटल ने नहीं जाल फैलाया है" के साथ 'नील घन शावक से सुकुमार, सुधा भरने को विधु के पास' मे भाव-साम्य स्पष्ट है परन्तु दोनों की कल्पनाओं में पृथ्वी और आकाश का अन्तर है। बात यह है कि प्रसाद की कल्पनायें भावात्मकता में बेजोड़ है।

(ख) दृश्यवर्णन

प्रियप्रवास—

"निदाघ का काल महा दुरन्त था
भयावनी थी रवि-रश्मि हो गयी
तवा समा थी तपती वसुन्धरा
स्फुलिंग वर्षारत तप्त व्योम था।

प्रदीप्त थी अग्नि हुई दिगन्त में
ज्वलन्त था आतप ज्वाल-माल-सा
पतंग की देख वहां प्रचण्डता
प्रकम्पित पादप-पुंज-पंक्ति थी।

रजाक्त आकाश दिगन्त को बना
असंख्य वृक्षावलि मर्दतोद्यता
मुहर्मुहुः उद्धत हो निनादिता
प्रवाहिता थी पवनालि भीषण।

विदग्ध होके कण-धूलि राशि का
हुआ तपे लौह कण समान था
प्रतप्त-बालू-इव दग्ध भाड़ की
भयंकर थी महि रेणु हो गई।

स्व-शावकों साथ स्वकीय नीड़ में
अबोल होके खग वृन्द था पड़ा
सभीत मानो बन दीर्घ दाघ से
नहीं गिरा भी तजती स्वगेह थी।

सु-कुंज में या वर वृक्ष के तले
अशक्त हो थे पशु पंगु से पड़े।
प्रतप्त-भू में गमनाभिशंकया
पदांक को थी गति त्याग के भगी।

प्रचंड लू थी अति तीव्र घाम था
· मुहुर्मुहुः गर्जन था समीर का
विलुप्त हो सर्व-प्रभाव अन्य का
निदाघ का एक खण्ड .राज्य था।''

रामचरितचिन्तामणि—

''उसी भाँति इस ग्रीष्म ने आकर अति अपयश लिया।
क्षीण, दीन सन्तप्त भी जलाशयों को कर दिया॥
खल समृद्धि को देख ज्यों सुख पाते हैं।
करते हैं अन्याय और बढ़ते जाते हैं॥
प्रतिपल में इस समय दिवस बढ़ता जाता है।
विकसित होकर अर्क हर्ष को दिखलाता है॥
चरण दलित रज पुंज भी मस्तक पर शोभित हुआ।
तप्त वायु से जगत यह कैसा विक्षोभित हुआ॥
यथा खलों का चित्त सदा जलता रहता है।
त्यों नदियों का नीर तप्त होकर बहता है॥
सूख सूख कर पत्र कहीं तरु के गिरते हैं।
खग तृषार्त हैं कहीं कहीं जलचर मरते हैं॥
कौन बचा है इस समय जो न पड़ा हो क्लेश में।
क्यों न प्रजा पीड़ित रहे अन्यायी के देश में॥''

साकेत—

''आकाश जाल सब ओर तना रवि तन्तुवाय है आज बना।
करता है पद प्रहार वही मक्खी सी भिन्ना रही मही।
लपट से झट रूख जले जले नद-नदी घट सूख चले चले।
विकल वे मृग मीन भरे भरे विपल थे दृग दीन भरे भरे।
या तो पेड़ उखाड़ेगा या पत्ता न हिलायेगा।
बिना धूल उड़ाये हा! उष्मानिल न जायगा॥''

कामायनी—

''एक नाव थी और न उसमें डांडे लगते या पतवार,
तरल तरंगों में उठ गिर कर बहती पगली बारम्बार।
लहरें व्योम चूमती उठतीं चपलायें असंख्य नचतीं,
गरद जलद की खड़ी मुड़ी में बूँदें निज संसृति रचतीं।

चपलायें उस जलधि विश्व में स्वयं चमत्कृत होती थीं,
ज्यों विराट बाड़व ज्वालायें खण्ड खण्ड हो रोती थीं।
घनीभूत हो उठे पवन फिर श्वासों की गति होती रुद्ध,
और चेतना थी बिलखाती दृष्टि विफल होती थी वृद्ध।
उस विराट आलोड़न में ग्रह तारा बुदबुद से लगते,
प्रखर प्रलय पावस में जगमग ज्योतिरिंगणों से जगते॥"

नूरजहाँ—

"यौवन पर है ग्रीष्म दिवाकर चढ़ आया है ऊपर,
नहीं मेघ का नाम कहीं है स्वेद बरसता झरझर।
किरणें नाच रही हैं पृथ्वी से है लपट निकलती,
पानी जलने लगा सरों का आग रेत पर बलती।
सर ताप से फैल गया है नदी सिकुड़ती जाती,
गरमी ज्यों ज्यों बढ़ती जाती ठंडी पड़ती जाती।
सरिता सूख हुई है कांटा फूला हरा जवासा,
जाती जान किसी चिड़िया की शिशु का हुआ तमाशा।
जल छिपता फिरता सेवार में मेघों के साये में,
बूंद बूंद के अंगूर छिपे हैं फेन जाल फये में।
श्वास धार रुक रुक चलती है नब्ज नहीं है मिलती,
पत्थर तोड़ पीस देती थी घास नहीं अब हिलती॥"

सिद्धार्थ—इसमें निदाघ का दृश्यवर्णन नहीं है। अतएव एक पावस की रात्रि का वर्णन दिया जा रहा है। यह भी प्रभावोत्पादक नहीं है।

"कादम्बिनी कड़कती गुरु गर्जना से, कम्पायमान भय पीड़ित मेदनी थी
होके महान् प्रबला तड़िता अदम्या, कान्तार पै अशनि घोर गिरा रही थी॥

दैत्यवंश—

इसमें कोई अच्छा दृश्य नहीं है।

वैदेही-बनवास—

"विगत बसन्त तपन ऋतु आई, लुवें चलीं गई रसा सुखाई।
बिरह बसन्त दुरन्त उदासा, लुव पिस ग्रीष्म लेत उसासा॥
पवन निकुंज माहिं ठहरानी, छाहंहु छांह पाइ विरमानी।
बिहरत एक संग बन माहीं, पै भासत मृग कहँ हरि नाहीं॥
सर तड़ाग सरि सकल सुखानी, रह्यो दृगन मोतिन असि पानी।
करन जाल इमि भानु पसार्यो, मनहुँ शेष फन-ज्वाल निकार्यो।

कै बड़वागि कोप अति कीन्ह्यों, सीजो नैन खोलि हर दीन्ह्यों ॥
कौनेहुँ बिधि नहिं तृषा बुझानी, मिलत न नभ गंगा में पानी ॥"

कृष्णायन—

"विरह अनल नभ लखि साकारा भयेउ कोलाहल त्रास अपारा।
गोकुल गेह शैल जनु मारे गोपी गोप नदी-नद-नारे।
उमहे महर द्वार सब आयी करुणासिन्धु बहेउ हहरायी।
अश्रु नीर उच्छ्वास तरंगा क्रन्दन अंबर धैर्य तट भंगा।
डगमग मध्य राज-रथ नैया निराधार अक्रूर खेवैया।
बूड़त व्याकुल प्रभुहिं पुकारा द्वार कृष्ण तेहि क्षण पगु धारा।
निरख मातु पद प्रणमत श्यामू उठेउ रोय सस्वर व्रज ग्रामू।
हरि ! केशव ! गोविन्द ! पुकारे कहाँ जात घनश्याम हमारे !"

साकेत-संत—

"बिना पानी हुई यों जीभ कातर कि उस पर सूख कर ही रह गया स्वर।
दिखाई तो दया तनु ने दिखाई पसीने की विपुल धारा बहाई।
पसीने से कहीं थी प्यास बुझती कहीं इस बूँद से वह त्रास बुझती ?
पसीना था न था वह स्वत्व अपना बचाता देह था बन भक्त अपना।
तवा सी तप्त धरती तप रही थी हवा जल जल व्यथा से कँप रही थी।
लता द्रुम पुंज झुलसे खड़े थे सरोवर तक पिपासाकुल पड़े थे।
प्रलय का दृश्य था हर ओर छाया प्रभंजन का प्रबल था रोर छाया।
न फल ही तप्त तरु से टूट पड़ते विहंग भी अचेतन छूट पड़ते।
कहाँ की शत्रुता रवि ने भँजाई करों से भूँज कर धरती तपाई।
पनाहें मागती थीं धूल उड़ कर चली परलोक माता से बिछुड़ कर।
हहरता था क्षितिज हर एक पल में जला सा जा रहा था हर अनल में।
बवण्डर थे कि जी में शेष की थीं धरा को चीर नभ को छू रही थीं।
द्रुमों ने किन्तु कुछ हिम्मत दिखाई सही सब भांति की सिर पर कड़ाई।
सही सम्मुख प्रभंजन खंग धारा दिया पर छाह को अपना सहारा ॥"

विक्रमादित्य—इसमें कोई ग्रीष्म ऋतु पर उत्तम चित्र नहीं है।

हमने ऊपर प्रकृति के दृश्यचित्र उपस्थित करने की चेष्टा की और तुलनात्मक दृष्टिकोण बनाये रखने के लिये एक से ही वर्णन एकत्र करने का प्रयत्न किया। कामायनी में ग्रीष्म का कोई वर्णन नहीं मिल सका अतएव महाप्रलय के दृश्यचित्रों से सन्तोष करना पड़ा है। इन चित्रों पर ध्यान देने से स्पष्ट प्रतीत

होता है कि रामचरितचिन्तामणि का वर्णन अत्यन्त शिथिल है। उसमें यत्र-तत्र उपदेश देने की प्रवृत्ति उसे और शिथिल कर देती है। कृष्णायन का वर्णन केवल उद्दीपन के रूप में है। अतएव वह भी दृश्यचित्र के विचार से शिथिल है। दैत्यवंश का वर्णन भी लगभग कृष्णायन जैसा ही है। ग्रीष्म का उसाँस लेना बसन्त की विरह का कारण बतलाया जिसके कारण उसास लुवें बतलाई गई हैं। अन्य उक्तियाँ प्राचीन कवियों से ली गई है अतः यह वर्णन परम्परानिर्वाह के लिए ही हुआ है।

साकेत-संत का वर्णन भी शिथिल ही है क्योंकि उसकी तर्कपूर्ण प्रवृत्ति ने ग्रीष्म के प्रभाव को मन्द कर दिया। ग्रीष्म के कारण पानी न प्राप्त होने पर स्वर का सूखना स्वाभाविक हो सकता है, इसकी दशा पर शरीर को व्याकुलता हो सकती है, करुणा हो सकती है किन्तु शरीर के पसीने द्वारा दया का प्रदर्शन व्यर्थ हो जाता है क्योंकि इसके द्वारा कार्य नही होता।

साकेत का प्रकृतिवर्णन भी विस्तृत है। उसमें ग्रीष्मकालीन विभिन्न व्यापारों के एकत्र करने में कल्पना द्वारा उसे अतिरंजित करने में भी कवि को विशेष सफलता प्राप्त हुई है परन्तु जहाँ तक दृश्यचित्र का प्रश्न है मेरे विचार में वह आवश्यक प्रभाव उत्पन्न नहीं करता। उर्मिला का साथ साथ लगा रहना इस प्रभाव को और भी शिथिल कर देता है।

अब केवल कामायनी, नूरजहाँ और प्रियप्रवास के प्रकृतिदृश्यों पर विचार करेंगे। 'निदाघ का काल महादुरन्त था, पतंग की देख प्रचंडता प्रकम्पित पादप पुञ्ज थी', 'यौवन पर है ग्रीष्म दिवाकर चढ़ आया है ऊपर' में निश्चय ही पहिला वर्णन उच्च है। 'आग रेत पर बलती' और 'प्रतप्त बालू इव दग्ध भाड़ की भयंकरी थी महिरेण हो गई' इन दोनों वर्णनों में रेत का ताप प्रियप्रवास के वर्णन में अधिक है। 'सरिता सूख गई है काँटा, फूला हरा जवासा' में यदि अनीस और अबीर के मरसिये का भाव है तो 'शिशु का हुआ तमाशा' एक व्यर्थ का पद है। सेवार का जल में छिपता फिरना और मोथे का का साया होना, फेन जाल के फाये की उपस्थिति में जल के छिपते फिरने और बूँद बूँद अगूरों के छिपने के मुहाविरे में जहाँ रस पैदा किया है वहाँ प्रकृति की भयंकरता को हल्का कर दिया है। यद्यपि ऐसे वर्णन प्रियप्रवास में नहीं हैं परन्तु स्वशावकों साथ स्वकीय नीड़ से लेकर अन्त तक प्रियप्रवास का यह वर्णन अधिक सजीव है, साथ ही अनीस के मरसिये की छाया ने नूरजहाँ के वर्णन की मौलिकता को फीका कर दिया है।

"प्रचण्ड लू थी तीव्र घाम था,
……………………निदाघ का एक।"

खंड राज्य था' में जहाँ ग्रीष्म के लिए एक राज्य की कल्पना की गई है वह कामायनी के घोर अन्धकार मे ग्रह-तारा बुद्बुद से लगते है और ज्योतिरिंगणों से जगते पद अन्धकार की साम्राज्यिकता मे बाधक जान पड़ते है। मेरी दृष्टि में प्रस्तुत उद्धरणों में प्रियप्रवास का यह वर्णन सर्वश्रेष्ठ है। कल्पनाओं की नवीनता की दृष्टि से कामायनी का वर्णन भी अच्छा है।

अलंकारयोजना—

प्रियप्रवास—

"सारा नीला सलिल सरि का शोक छाया पगा था,
कंजों में से मधुप कढ़ के घूमते थे भ्रमे से।
मानो खोटी विरह घटिका सामने देख के ही,
कोई भी थी अवनत-मुखी कान्ति हीना मलीना॥"

रामचरितचिन्तामणि—

"मानो अयोध्या के अजिर दुख,
जग गया दुख सो गया।
सुर राज पुर या भाग्यवश,
यम राज का पुर हो गया।
सरजू बंधे जो घाट थे,
मानो हुए मरघट सभी।
ऐसा कहीं त्रैलोक्य में,
आया न था संकट कभी।"

साकेत—

"इतना तप न तपो तुम प्यारे,
जले आग सी जिसके मारे।
देखो ग्रीष्म भीष्म तनु धारे,
जन को भी मन चीतो।
मन को यों मत जीतो॥"

सिद्धार्थ—

"गगन की सुन्दर वह लालिमा,
निधन की भयदा रसना बनी।
सरित की लहरें असु-लेहिनी,
लहरने खलु व्यालिनी-सी लगीं॥"

कामायनी—

"उधर गरजतीं सिन्धु लहरियाँ,
कुटिल काल के जालों सी।
चलीं आ रहीं फेन उगलती,
फन फैलाये व्यालों सी॥"

नूरजहाँ—

"होना मत तुम सिन्धु लहर,
जो ठहर ठहर कर शीष उठा।
अपने ही हृदयस्थान को।
भुजगी सी जाती है खा॥"

वैदेही-बनवास—

"निज प्रसवण अचल लीलाओं के लिए,
लालायिता सदा रहती थी लालसा।
वह उस भग्न हृदय सा होता ज्ञात था,
जिसे पड़ा हो सर्व सुखों का काल सा॥
कल निनादिता केलिरता गोदावरी,
बनती रही थी जो मुग्धकारी बड़ी।
दिखलाती थी उस वियोग विधुरा समां,
बहा बहा आंसू जो भूपर हो पड़ी॥"

दैत्यवंश—

"कंपत रवि नभ बढ़त मनहु बरसावत आगी,
मन्द समीर न व्याल-बदन स्वासा सम लागी।
कूजत विहंग समाज आजु जनु दुख दरसावत,
सुमन-जूह तरु डारि मनहुँ अंसुआ बरसावत॥"

साकेत-सन्त—

"चौंके रामानुज तड़प उठे घबराये,
स्मृति ने केकय-सुत-व्यंग पुनः दुहराये।
आँधी सी उठी प्रचण्ड अंधेरा छाया,
उनकी जिह्वा से वचन यही कह आया॥"

कृष्णायन—

"जलनिधि निरखि निमज्जित तरणी,
मूर्छित मनहुँ वणिक लट धरणी।

लखीं सकल तिय दीन धैर्य-विहीन मलीन तनु।
मनहुँ अमर तरु हीन निरानन्द नन्दन विपिन ।।"

विक्रमादित्य—

"खोई है सैकत में मानो मानस सरसी की सरित विमल,
खोई है चित्रित सागर पर यह स्नेह भरी तरणी निश्चल।
दूध धोई बनिता आदर्श सती सीता जी का निर्दोष,
किया निष्कासन दे बनवास मिला पुरजन को तब सन्तोष ।।"

ऊपर हमने सादृश्यमूलक अलंकार के कुछ उदाहरण प्रत्येक महाकाव्य में से छाँटे हैं। इनमें इस बात का ध्यान रक्खा गया है कि इन सादृश्यमूलक अलंकारों को भी ऐसे स्थलों से छाँटा जाय जहाँ परिस्थितिसाम्य हो और समान भावोत्तेजन की आवश्यकता हो क्योंकि अलंकार के स्वतन्त्र प्रयोग में यह कहना कठिन होगा कि कौन सा कवि अलंकारयोजना में सबसे सफल है। समान परिस्थितियों में समान भावव्यंजना के लिए अलंकारयोजना करते समय यह देखना सरल हो जायगा कि कौन सा अलंकार भावोद्दीपन में सचमुच अलंकार का काम करता है तथा कहाँ परम्परानिर्वाह के लिए प्रयुक्त हुआ है। हमने जो प्रसंग चुना है वह प्रसंग ऐसा है कि भावव्यंजना के लिए अलंकारयोजना उस प्रसंग पर अच्छी हो सकती थी। लगभग सभी उदाहरणों में दुःख्मतिरोक की व्यंजना की गई है।

नूरजहाँ में उपदेश दिया जा रहा है कि वह सिन्धु की लहर बन जाय और सर्पिणी के समान अपने निहित यान को खा न जाय। समुद्र और सर्पिणी में से कोई कल्पना एक दूसरे की सहायिका नहीं है और न सर उठाने के बाद यान को खा जाने में ही कोई संगति है। अलंकारयोजना लगभग व्यर्थ सी है। विक्रमादित्य में भी लगभग इसी प्रकार मानससरसी का सैकत में खोना, तरणी का सागर निश्चल चित्रित होना परस्पर असम्बद्ध स्वतन्त्र भावखण्डों के परिचायक अलंकार हैं, सम्पूर्ण मन को परिपुष्ट करने में सहायक नहीं होते।

साकेत-सन्त में 'आँधी सी उठी प्रचंड अंधेरा छाया' का प्रयोग सुन्दर है किन्तु 'उनकी जिह्वा से वचन यही कह आया' में 'कह आया' पद ने उस अंधेरे के प्रचंड वेग को मन्द कर दिया है।

रामचरितचिन्तामणि की कल्पनायें भी मुहावरेबन्दी की ओर अधिक उन्मुख हैं। प्रियप्रवास, कामायनी, सिद्धार्थ और साकेत के स्थल सचमुच

कल्पना की दृष्टि से भावोत्तेजन में समर्थ है परन्तु मेरी दृष्टि में साकेत का उदाहरण, कल्पना की ऊंची उड़ान के दृष्टिकोण से सबसे अच्छा है।

भाव को उद्दीप्त करने में प्रियप्रवास, सिद्धार्थ और कामायनी के उदाहरण अच्छे है।

किसी कवि की कला का विवेचन करने के लिए एक उदाहरण पर्याप्त नहीं होता परन्तु प्रस्तुत निबन्ध का उद्देश्य यह नहीं है कि किसी कविविशेष की कलाप्रियता का विवेचन किया जावे। तुलनात्मक आधार के लिए भी एक उदाहरण पर्याप्त नहीं होता परन्तु लेखक की सीमा का ध्यान रखते हुए मैं यह समझता हूँ कि मेरे लिए अधिक उदाहरण देकर किसी विशेष निष्कर्ष पर पहुँचने या पहुँचने का प्रयत्न करने में किसी कलाकार के प्रति अन्याय भी हो सकता है। अतएव इन उदाहरणों से भी सन्तोष करके मैं यह कहना चाहता हूँ कि महाकाव्य का उद्देश्य अलंकारों की झकाझक में पाठक को चमत्कृत करना नहीं होता अथवा मुहावरों की जबानबन्दी से भावुक को विस्मयमुग्ध करना नहीं होता वरन् भावप्रवाह को अविच्छिन्न बनाये रखना महाकाव्य का प्रधान कर्त्तव्य होता है। जो कला इस भाव को अविच्छिन्न बनाये रखने में सहायक होती है कवि के लिए वही उपादेय होती है। मुझे अत्यन्त नम्रता से निवेदन करना है कि कला की दृष्टि से साकेत सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य है परन्तु उसकी कल्पनाओं की अमूल्य माणिक्यराशि रसस्रोतस्विनी की धारा में बार बार अटक जाती है जिससे पिपासु की तृष्णा छककर पी नहीं पाती, गले में कोई न कोई रत्न जाकर अटक जाता है। इसके विपरीत कृष्णायन, प्रियप्रवास और कामायनी की विचारधारा में उच्च कल्पना न होते हुए भी एक शान्त गम्भीरता है जिससे विस्मय तो नहीं होता परन्तु प्रसन्नता अवश्य होती है।

भाषा—

प्रियप्रवास—सम्भवतः पहिला महाकाव्य है जिसने भाषा का मार्ग-प्रदर्शन किया। पहिला महाकाव्य होने के कारण उसमें बहुत दिनों तक संस्कृत शब्दों की बहुलता पाठकों को खटकती रही। आज कामायनी और साकेत की उपस्थिति में कोई व्यक्ति प्रियप्रवास की भाषा को संस्कृतबहुल भाषा नहीं कह सकता। आज हम जो कुछ कह सकते है वह इतना ही कि परिमार्जन की दृष्टि से प्रियप्रवास की भाषा आज से तीस वर्ष पुरानी है। यद्यपि उसका माधुर्य अब भी शेष है परन्तु वह खरा सिक्का अब नहीं रहा।

सिद्धार्थ—की भाषाशैली और प्रियप्रवास की भाषाशैली में साम्य है परन्तु इसमें संस्कृत के अप्रचलित शब्दों का बाहुल्य है।

नूरजहाँ—की भाषा बाजारू खड़ीबोली है। उर्दू की मुहावरेबन्दी ने हिन्दी शब्दों में लिखे होने पर भी उसका मूल्य महाकाव्य के दृष्टिकोण से घटा दिया है। सैयद इन्शाअल्ला की भाँति लपक-झपक की यह भाषा महाकाव्य की गम्भीरता के अनुकूल नहीं है।

विक्रमादित्य—में भाषा को संयत करने की चेष्टा की गई है।

कामायनी—की भाषा जहाँ तहाँ पर अधिक संकेतात्मक है। परिमार्जन और शब्दचयन प्रसाद जी की विशेषता है। उनकी भाषा का सबसे सुन्दर विकास कामायनी में हुआ है। कुछ थोड़े से पूर्वी प्रयोगों को छोड़ देने पर कामायनी की भाषा को टकसाली कहा जा सकता है।

वैदेही-बनवास—की भाषा प्रियप्रवास की भाषा की अपेक्षा अधिक शिथिल है।

साकेत—भाषा की दृष्टि से भी सर्वश्रेष्ठ है। भाषा में खरा शब्द-चयन, प्रसंगानुकूल भाषा का परिवर्तन सब कुछ अच्छा है। प्रसाद की संकेतात्मक शैली का भी प्रयोग किया गया है परन्तु कहीं कहीं पर भाषा इतनी जटिल हो गई है कि उसमें अर्थबोध में बाधा पड़ती है। वैसे साकेत की भाषा को टकसाली कहा जा सकता है।

साकेत-सन्त—की भाषा संस्कृत के तत्सम शब्दों से युक्त होते हुए भी उर्दू के शब्दों का प्रयोग एवं बेमेल गठन खटकता है।

यहाँ पर भी हमें लेखक की सीमाओं के भीतर रहते हुए इन महाकाव्यों की भाषा पर विचार करना पड़ा। अधिक विवेचन के लिए यहाँ स्थान नहीं था।

महाकाव्यों पर एक विहंगम दृष्टि

आधुनिक महाकाव्यों का मौलिक शिल्पविधानविवेचन करते हुए हम कह चुके हैं कि आधुनिक महाकाव्य का शिल्पविधान (टेकनीक) शास्त्रीय स्वीकृत टेकनीक नहीं है। पश्चिम की कला का भी सम्पूर्णतः स्वीकार आधुनिक कलाकारों ने नहीं किया है। जैसे हम संस्कृति की खिचड़ी में पड़े हुए हैं वैसे हमारी कला भी संस्कृतियों की खिचड़ी में पड़ी हुई है। कामायनी के कथानक में प्रतिनायक तथा सहायक नायकों का अभाव जहाँ दिखलाई देता है वहाँ साकेत, वैदेही-बनवास घटनाविहीन महाकाव्य हैं, किसी का कहीं से

चला जाना ही महाकाव्य की आधारभूमि नहीं बन सकता। नूरजहाँ, विक्रमादित्य नाटकीय घटनायें हैं जिनका महाकाव्य में उपभोग किया गया है। इन नाटकीय घटनाओं को महाकाव्य का जामा पहिनाने के लिए जिस कल्पना की आवश्यकता थी उस कल्पना का प्रयास इन महाकाव्यों में नहीं किया गया। इन महाकाव्यों की घटना इतनी घिसी हुई है कि उसमें रसवत्ता लाने के लिए प्रासंगिक चरित्रों की आवश्यकता थी जिनका अभाव खलता है, विशेषतया उस स्थिति में जब कोई व्यक्ति प्रसाद की ध्रुवस्वामिनी, द्विजेन्द्रलाल राय का नूरजहाँ नाटक पढ़ चुका हो।

पश्चिम के कलाकार कथानकवर्णन में घटना का उत्थान (प्लैट्) और गिराव आवश्यक समझते हैं। साकेत में उत्थान (प्लैट्) ही उत्थान (प्लैट्) है। उत्थान और गिराव का स्थान ही मानो कवि ने नहीं रक्खा। नाटकीय पंच संधियों का संयोग यदि कहीं मिलता है तो केवल कृष्णायन में। कामायनी में गर्भ और विमर्ष का अभाव है। साकेत में गर्भ सन्धि नहीं है। वैदेही-बनवास में विमर्ष न होने के कारण घटना एकांगी हो गई है। यद्यपि लवकुश के चरित्र में थोड़े विस्तार की और आवश्यकता थी।

नवीन महाकाव्यीय टेकनीक कुछ ऐसी विश्रृंखल हो गई है कि उसके शुद्ध रूप का पता इन महाकाव्यों से नहीं लगता। वस्तुतः यह विकासकाल है जबकि नवीन भावना के संसर्ग से नवीन कला को प्रौढ़ता प्राप्त होनी है। साकेतकार ने इस दिशा मे प्रयत्न किया है परन्तु शब्दमैत्री, अलंकार-बहुलता और छाया-चित्रों की ओर अधिक ध्यान देने के कारण इसमें रस-भावना पद पद पर विच्छिन्न होती है।

छन्दशास्त्र के सम्बन्ध में भी आज का कवि अधिक स्वतन्त्र है। महाकाव्यगत छन्दशास्त्र के नियम का पालन कृष्णायनकार को छोड़कर किसी ने नहीं किया। हम यह नहीं कहते कि पुराने छन्दशास्त्र का पालन किया ही जाना चाहिए। कवि की स्वतन्त्रता हो सकती है परन्तु उस स्वतन्त्रता में भी सुसम्बन्धता होना आवश्यक है।

मेरा अपना मत है कि महाकाव्य का उद्देश्य रसपरिपाक द्वारा कोई विशेष निर्देश देना होता है। जिस महाकाव्य में इस उद्देश्य के प्रति सतत जागरूकता नहीं रहती उस महाकाव्य में सुगठित बंध-व्यवस्था के होते हुए भी वह महाकाव्य भावुकों का कंठहार नहीं बनता। इसके लिए यह आवश्यक है कि

कैसी व किस प्रकार की भाषा का प्रयोग किया जावे, भाषा में स्वाभाविक अर्थबोध कराने की क्षमता अवश्य होनी चाहिये। कामायनी और साकेत दोनों इस दृष्टि से निर्दोष नहीं हैं। काल्पनिक छायाचित्रों की बहुलता के कारण उनमें बुद्धिव्यायाम अधिक हो गया, इसीलिये रसपरिपाक में भी बाधा पड़ने लगती है।

हम ऊपर विभिन्न दृष्टिकोणों से महाकाव्यों की तुलना कर चुके हैं, यहाँ उनका अलग अलग विवेचन करना आवश्यक नहीं जान पड़ता, परन्तु महाकाव्यों पर विहंगम दृष्टि डाले बिना हम उस निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सकते कि आज की कला का आदर्श क्या है और किसे उसमें विशेष सफलता प्राप्त हुई है।

कृष्णायनकार का आदर्श राष्ट्रधर्म की प्रतिष्ठा है। यह राष्ट्रधर्म एकान्त वैयक्तिक नहीं है, न यह शुद्ध भारतीय राष्ट्र की श्रेष्ठता के प्रतिपादन के लिए है वरन् इसका उद्देश्य आर्य राष्ट्र की महत्ता स्थापित करना है। यह आर्य राष्ट्र दुष्टों का शमन और सज्जनों का प्रतिपालन करने के लिए है। कृष्णायनकार को इसमें सफलता प्राप्त हुई है और यह सफलता इसलिए और भी निश्चित हो गई कि कृष्णायन का कथाप्रसंग प्रख्यात–चरित्र, धीरोदात्त अनुकूल नायक कृष्ण का चरित्र है। कृष्ण के चरित्र का धीरललित अंश जितना ही उपेक्षित हुआ उतनी ही सफलता निश्चित हो गई।

कामायनी का उद्देश्य मानवता के विकास की व्याख्या करते हुए श्रद्धा और बुद्धि के द्वारा परम सत्य की प्राप्ति की प्रेरणा देना है परन्तु जहाँ कवि इस विकास के चित्रण में और प्रेरणा के अन्त तक पहुँचने में सफल हुआ है वहाँ घटनाक्रम का स्वाभाविक सूत्र एकतान न रह सका। श्रद्धा का आकस्मिक मिलन, अपने माता-पिता के प्रति उसके उपेक्षा-भाव द्वारा श्रद्धा का आकस्मिक त्याग, दैत्य पुरोहित किलात और आकुलि के द्वारा मनु की असंयत प्रेरणायें, सारस्वत देश की अकस्मात् समृद्धि, बहु-जन-संकुल और धन-धान्य-पूर्ण हो जाना, मनु का बलात्कार और विप्लव सबकी सब कवि-कल्पना-प्रसूत घटनाएं हैं। यदि घटना के स्वाभाविक विकास के दृष्टिकोण से हम विचार करें तो जहाँ तहाँ शिथिलता दिखलाई देगी।

साकेत का उद्देश्य उर्मिला को केन्द्र में रखकर रामचरित गाना है। हमारा दुर्भाग्य है कि हम कवि से सहमत नही हो सके। उर्मिला का वियोग महान् था, उसका त्याग महान् था। कवि के आग्रह से यदि हम इसे स्वीकार भी कर ले तो भी उत्थान-पतन-विहीन उर्मिला का जीवन किसी महाकाव्य का केन्द्र हो

सकता है इसे मानने में हमारी बुद्धि संकुचित होती है। रही रामचरित की बात, इसके सम्बन्ध में हम कुछ कहना नहीं चाहते।

यहाँ तक हमने उन महाकाव्यों का विवेचन किया है जिनको विद्वज्जन-समुदाय ने महाकाव्य कहकर स्वीकार कर लिया है। इसका यह अर्थ न लेना चाहिए कि हम महाकवि के प्रति उपेक्षा या अवहेलना का भाव रखते हैं। हमने केवल इसी दृष्टि से अपने विवेचन को कुछ विशेष महाकाव्यों तक सीमित रक्खा है क्योंकि हमारे आदरणीय कविजन यह देख लें कि इन स्वीकृत महाकाव्यों में ऐसे स्थल हो सकते हैं जिनमें कुछ विचारक सहमत न हों। यह हो सकता है कि हमारे इन विचारों के लिए कुछ कविजन हमें क्षमा न कर सकें परन्तु हम तो केवल यही कहेंगे कि महाकाव्य की आदर्श रक्षा के लिए जो सुझाव हमें उचित जान पड़े उन्हें विभिन्न रुचि का ध्यान रखते हुए हमने तटस्थ भाव व्यक्त कर दिये हैं।

साकेत-संत का उद्देश्य स्पष्ट है। यह उस व्यक्ति का चरित्र है जिसके सम्बन्ध में गोस्वामी तुलसीदास जी ने कहा है—

"लखन सीय सह प्रभु बन बसहीं।
भरत भवन बस तप तनु कसहीं॥
दुहुँ दिशि समुझि कहत सब लोगू।
सब विधि भरत सराहन योगू॥"

'भायप भगति' के इस आदर्श की रक्षा साकेत-सन्तकार ने यथासम्भव की है। इस सन्देश की सफलता के कारण साकेत-सन्त सफल काव्य कहा जा सकता है।

दैत्यवंश में संकलनत्रय (थ्री-यूनाइट्स) काल, स्थान और घटना की एकताओं में से किसी का भी निर्वाह नहीं हो सका। हिरण्याक्ष से स्कन्ध तक की घटनाओं में भारतीय विचारपरम्परा के अनुसार लगभग ३८०००० वर्ष का अन्तर है, इसी प्रकार स्थान का भी सुमेरु पर्वत से लेकर सोनितपुर तक अन्तर है। घटनाएँ भी परस्पर असम्बद्ध हैं। किसी प्रकार का ऐक्य न होने के कारण पद पद पर असम्बद्धता दिखाई पड़ती है जिसे जोड़ने के लिए बड़ा बुद्धिव्यायाम करना पड़ता है। अच्छा होता कि कवि ने केवल एक बलि का ही चरित्र लिया होता और अधिक ऊँचा उठाने का प्रयत्न कर दिया होता।

सिद्धार्थ का उद्देश्य स्पष्ट है। इसमें सिद्धार्थ के सत्य और अहिंसा द्वारा उन मूक पशुओं के उद्धार एवं प्राणीमात्र में समता की भावना का सन्देश है

जिसके बिना संसार नरककुण्ड बन जाता है। इस महत् उद्देश्य ने ही इस काव्य की सफलता को निश्चित कर दिया क्योंकि काव्यकार ने इस उद्देश्य की पूर्ति अपने काव्य में यथासम्भव की है।

आज महाकाव्यकला घड़ी के पेण्डुलम की भाँति घूम रही है। प्रियप्रवास का उदय राधा के चरित्र में समाजोपयोगी औदार्य और उदात्त भावनाओं के स्पष्टीकरण के लिए हुआ था। यह विशेषता राधा में नवीन कल्पित की गई थी। इस प्रकार की नवीन कल्पना किसी चरित्र-विशेष में स्थापित करने का प्रयास साकेत, पुरुषोत्तम, वैदेही-बनवास, दैत्यवंश, आर्यावर्त्त, कृष्णायन, साकेत-सन्त मे दिखाई देता है। यह नहीं है कि इस नवीन भावना का उन सब चरित्रों में पहिले के कलाकारों ने वर्णन नहीं किया। कुछ था, जैसे पुराणों में वृत्रासुर के द्वारा इन्द्र को वेदान्तोपदेश देना वर्णित है परन्तु इन महाकाव्यों में यह नवीन भावना को ऊपर लाने का यत्न किया गया है। कुछ ऐसे महाकाव्य है जिनके नायक सचमुच महाकाव्य के योग्य है परन्तु उन पर महाकाव्य लिखे नहीं गये अथवा कम लिखे गये। जैसे भगवान् बुद्ध पर बौद्ध कवियों के ही महाकाव्य मारविजय और सौन्दरनन्द है। इन चरित्रों पर महाकाव्य लिखकर एक कमी पूरी करने की चेष्टा की गई है। इस श्रेणी में बुद्धचरित, नल-नरेश, प्रतापचरित, सिद्धार्थ, विक्रमादित्य, हल्दीघाटी महाकाव्य है।

नूरजहाँ और जौहर यह दोनों महाकव्य नूरजहाँ और पद्मिनी के चरित्रों के महत्त्वप्रदर्शन के लिए लिखे गए। पद्मिनी का चरित्र ऐसा अवश्य था कि जिसकी एक घटना संसार को चकित कर देने वाली घटना थी।

इस राजरानी के जीवन में उत्थान और पतन की कमी नहीं है। दुःखान्त महाकाव्य होने के कारण ही इसमें बड़ा बल हो सकता था और इसीलिये विभिन्न कवियों के विभिन्न प्रयास दिखलाई देते है।

महामानव की प्रस्तावना में कवि ने इस पुस्तक का नाम महागाथा कहा है। अभी तक गाथा का कोई नवीन शिल्प-विधान (टेक्नीक) नहीं बन सका और हम उसमें महात्मा गान्धी के जीवन के छायाच्छन्न खण्डचित्रों के अतिरिक्त और कुछ देख न सके। सम्भव है कि यह हमारा दृष्टिदोष हो अथवा महागाथा की परिभाषा में छायाच्छन्न खण्डचित्र ही आते हों।

अतएव इस महागाथा के सम्बन्ध में हम कोई निर्णय देने के अधिकारी नहीं हैं।

मानवता के विकास की कहानी कामायनी है। इस दिशा में कामायनी प्रथम और अन्तिम पदनिक्षेप है। अतएव कामायनी अपना स्वतन्त्र आदर्श और स्वतन्त्र शिल्पविधान (टेकनीक) रखती है।

कालक्रम पर विचार करते हुए जो हम महाकाव्यों को देखते है तब ऐसा जान पड़ता है कि कविजन न किसी शिल्पविधान (टेक्नीक) पर पहुँचे है और न किसी आदर्श पर। अतएव आज के महाकाव्यो को काल-आधार पर बाँट सकना असम्भव जान पड़ता है। जो कुछ कहा जा सकता है केवल इतना ही कि नवसमाज की नवचेतना इन महाकाव्यों में यत्र-तत्र दिखलाई देती है। महामानव कुछ ऐसा प्रयास है जिसमें नवीन राजनीतिक चेतना की झलक मारती है परन्तु मेरा मत है कि जब कवि काल, देश अथवा स्थान-विशेष से बँध जाता है तब उसकी कृति शाश्वत नही होती। शाश्वतता के विचार से जीवनव्यापी सत्य का प्रतिपादन करने वाले महाकाव्यों में प्रियप्रवास, कामायनी, कृष्णायन, साकेत, साकेत-सन्त और सिद्धार्थ है।

मेरा अपना मत है कि काव्य हो अथवा महाकाव्य सेनापति का यह पद कलाकार के हृदय में सदैव बैठा रहना चाहिये।

"दोष सों मलीन गुन हीन कविताई है,
तौ कीन्हें अरवीन परवीन कोई सुनि है।
बिन ही सिखाये सब सीखिहैं सुमति जो,
पै सरस अनूप रस रूप यामे धुनि है।
दूषन को करिकै कान्ति बिनु भूषण को,
जो करै प्रसिद्ध ऐसो कौन सुर मुनि है।
रामै अरचतु सेनापति चरचतु या मै,
कवित रचत या ते पद चुनि चुनि है"

॥ ओ३म् शम् ॥

परिशिष्ट

उत्तरार्द्ध के महाकाव्य

इस शताब्दी के उत्तरार्द्ध में दो और महाकाव्यों का प्रणयन हुआ। वे हैं—अंगराज और वर्द्धमान। इन दोनों महाकाव्यों का विवेचन इस शताब्दी के पूर्वार्द्ध के अन्य महाकाव्यों के साथ न किया जा सका, इसलिये इस स्थल पर इनका संक्षिप्त विवेचन किया जावेगा।

अंगराज—आनन्दकुमार द्वारा रचित पच्चीस सर्गों में विभाजित है। इसका आधार है महाभारत। इसमें कवि ने परिवर्तन और परिवर्द्धन भी किया है। इस काव्य का नायक कर्ण है जो वीरोचित गुणों के कारण उच्च स्थान पाने का अधिकारी है। कवि ने नायक को श्रेष्ठतम व्यक्त करने के लिए पाण्डवों के चरित्र को, विशेषकर युधिष्ठिर के चरित्र को, विकृत बना दिया है। युधिष्ठिर अपने उज्ज्वल चरित्र के कारण धर्मराज की पदवी से विभूषित किये आते रहे हैं किन्तु इस महाकाव्य में उनके उक्त चरित्र के दर्शन नहीं प्राप्त हो रहे है।

इसमें प्रकृतिवर्णन भी किया गया है तथा नाट्य सन्धियों का भी ध्यान रक्खा गया है। भाषा सरस और सजीव है तथा संस्कृत वृत्तों को स्वीकार किया गया है।

कर्ण में नायकत्व के समस्त गुण विद्यमान हैं किन्तु उसके चरित्र में एक ऐसा कलंक लगा हुआ है जो उसे उच्च स्तर पर नहीं ले जा सकता—यथा परशुराम से असत्यभाषण करके धनुर्विद्या को प्राप्त करना यह कार्य महाकाव्य के नायक के लिए गौरवपूर्ण नहीं है। कहीं कहीं पर इसमें असम्भव और आश्चर्यजनक घटनाएं दिखलाई गई हैं जो महाकाव्य के लिए उपयुक्त नहीं हैं। यथा—कर्ण के वीरगति को प्राप्त होने पर सूर्य का पृथ्वी पर गिरना तथा परशुराम के मन के मोह का जागृत होना आदि।

दूसरा महाकाव्य **वर्द्धमान** है जिसको कि श्री अनूप शर्मा ने सत्रह सर्गों में विभाजित किया है। शर्मा जी हमें बहुत पहले सिद्धार्थ महाकाव्य प्रदान कर चुके हैं। उसकी भाषा एवं शैली संस्कृत के तत्सम शब्दों से ओत-प्रोत है। प्रस्तुत महाकाव्य भी हमें उसी भाषा एवं शैली में प्रदान किया गया है। काव्य

के अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि कवि उस महाकाव्य से आगे नहीं बढ़ सका है, यद्यपि भाषा और शैली में आज अनेक परिवर्तन हो चुके हैं।

प्रस्तुत महाकाव्य पर प्रियप्रवास की छाया स्पष्ट परिलक्षित होती है। यथा—

> "समय था दिन के अवसान का,
> तरणि - तेज तिरोहित हो चला।
> तरु - शिखा स्थित वृन्द विहंग के,
> चहचहा कर गायन गा उठे।"

इस काव्य में नायिका का अभाव खटकता है। यद्यपि कवि ने अपने प्रयास द्वारा इस कमी की पूर्ति करने का प्रयत्न किया है और ईश्वर से प्राप्ति कराके एक नवीन मार्ग प्रशस्त किया है किन्तु इसमें कुछ ऐसी पंक्तियाँ सम्मिलित की गई है जो कथा-प्रवाह में बाधक सिद्ध होती है और काव्य को शिथिलता प्रदान करती हैं। कहीं कहीं पर शृंगार रस का नग्न चित्रण किया गया है। यथा— उरोज, नितम्ब आदि का वर्णन। ऐसे वर्णन अधिक रुचिकर नहीं प्रतीत होते। अतः अंत में हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते है कि अंगराज दैत्यवंश महाकाव्य से और वर्द्धमान सिद्धार्थ से किसी अंश में भी उच्च स्थान पाने के अधिकारी नहीं हैं।